३४७ हय-शिर-उपाख्यानम् अभिनव-रङ्गनाथ-टीका®

अभिनव-रङ्गनाथः

Table of Contents

| ॐ | 2 |
|---|----|
| ०१ भूषणारम्भः | 3 |
| ०१ मङ्गलाचरणम् | 3 |
| द्वापरे नराणां ज्ञानादि-मान्द्येन वेद-विभजनम् | 3 |
| कलिजिच्छठरिपुग्रन्थस्थं हयशिरसोऽनुसंधानम् | 4 |
| व्यासजैमिन्योः गुरुशिष्यभावः, बौधायनस्य तस्सूत्रव्याख्यातृत्वम् | 5 |
| चतुर्मुखाय हयशिरसो वेदपंचरात्रवरदानम् | 5 |
| ०२ उपोद्घातः | 7 |
| ०१ आ-महाभारतम् | 7 |
| ०२ सभापर्व | 7 |
| नारायण-परत्वम् | 7 |
| ब्रह्मादयो गौणप्रादुर्भावाः, कृष्णस्यायोनिजत्वं, तदर्चनाकरणे दोषः | 8 |
| ०३ अरण्यपर्व | 9 |
| ०४ उद्योगपर्व | 10 |
| तदीशत्वस्य अकल्पितत्वं च | 10 |
| एकायनशाखाविचारः | 11 |
| ०५ भीष्म-पर्व | 12 |
| पाञ्चरात्रिकवासुदेवादीनां श्रौतत्वम् | 13 |
| द्वापरे चतुरात्मावतारः | 13 |
| चतुरात्मनः परत्वम् | 14 |
| विष्णूत्पत्तेरकर्मनिबन्धनता उपमन्यूपवाख्यानविचारश्च | 15 |
| अर्चनम् | 16 |
| अर्चनीयता | 16 |
| विष्ण्व्-अर्चनस्य नित्यता | 17 |
| पञ्चरात्रोक्तविधिनाऽर्चनम् | 18 |
| अधिकारः | 22 |
| वैदिक-तान्त्रिक-मिश्रभेदाः | 23 |
| ब्राह्मण-श्रेष्ठस्याधिकारः | 23 |

| द्विजव्यतिरिक्तस्य | 24 |
|--|----|
| वैखानसार्चनम् | 26 |
| अवैखानसैः शक्तैः पञ्चरात्रोक्तपूर्णार्चनम् | 26 |
| ०६ शान्ति-पर्व | 28 |
| एकायनशाखायां वाक इति निषत् इति नामभेदः | 28 |
| ०७ मोक्ष-धर्मः | 29 |
| नारायण-तत्त्वम् | 29 |
| प्राप्तिः | 30 |
| वासुदेवस्यान्यभक्तानर्च्यत्वम् | 30 |
| अन्तकाले द्वादशाक्षरचिन्तनम् | 30 |
| अष्टाक्षरजापि-प्राप्यता | 31 |
| भक्तेरेव भगवत्प्राप्तिसाधनता | 31 |
| वृत्र(सनत्-कुमार)गीतोक्तम् भगवत्परत्वम् | 35 |
| ०८ नारायणाख्यानम् | 35 |
| ०१ भगवत्परत्वम् | 35 |
| नारायणवासुदेवयोरैक्यं तदन्यस्य परत्वाभावश्च | 36 |
| सर्वाश्रमिणामिष्टलाभः | 37 |
| ०२-०५ उपरिचर-वसुः, पाञ्चरात्रम् | 38 |
| सूर्यतः प्राप्तिः, वेद-तुल्यता | 38 |
| चित्रशिखण्डिसंहिता | 41 |
| कलौ वैदिकानामनुष्ठापकं पञ्चरात्रम् | 42 |
| मनु-शुक्र-बृहस्पति-प्रवर्तनम् | 42 |
| भगवद्-दर्शनम्, पिष्ट-पशु-प्रयोगः | 43 |
| श्वेतद्वीपचरितम् | 44 |
| अनैकान्तिभिर् अदर्शनम् | 45 |
| भू-विवरे ऽपि पाञ्चकालिक-वृत्तिः | 46 |
| पाञ्चरात्रिकस्तुतिः | 47 |
| ०६ विश्वरूपसन्दर्शनादि | 47 |
| विश्वरूपप्रदर्शनम् | 47 |
| चतुर्विंशत्य्-अचित्-तत्वानि निर्गुण-श्रुतेर् गुण-त्रय-शून्यत्वे तात्पर्यम् | 47 |
| वासदेवस्य नित्यविग्रहः. अन्तः प्रविश्य नियन्तत्वेन सार्वात्म्यं च | 49 |

| आत्मा, शरीरम्, जीवः, मनः | 49 |
|--|----|
| वासुदेवस्यैव चिदचित्स्रष्टृत्वं - तद्भक्तानां मुक्तिश्च | 51 |
| जगतो भेदः | 55 |
| वासुदेवस्य व्याप्तिधारणादिना जीवसंज्ञत्वम् एवं भूतानैक्यादनश्वरत्वं च | 56 |
| मुक्तिः | 58 |
| ु रुद्रादित्यवसूनां मैत्रायणीयोक्तदिशा भगवत उत्पत्तिः | 59 |
| ्र हयशिरसो यज्ञाराध्यत्वं, तेन ब्रह्मादिभ्यो वरदानम् | 59 |
| लक्ष्मीविशिष्टस्य सृष्ट्यादिहेतुत्वं, दशावताराः | 60 |
| ०७ अवतारः | 61 |
| धर्मराजादीनां नारायणपरता | 62 |
| ०८ निवृत्तिधर्मेषु वासुदेवस्यैवाराध्यता | 62 |
| क्षीरोदधेरुत्तरत्र ब्रह्मादीनां तपः | 63 |
| वासुदेवप्रसादाद् ब्रह्मादीनां प्रवृत्तिधर्मभागार्हता | 64 |
| तेन तैर्लोकधारणम् | 65 |
| ब्रह्मरुद्राभ्यां सर्वपुरुषवरदानाधिकारस्य वितरणम् | 66 |
| कलौ वासदेशः | 67 |
| वेधसोऽनिरुद्धेन त्रिदण्डधारिहयशिरोरूपस्य दर्शनम् | 67 |
| हयशिरस आचार्यपाद-पर्यन्त-प्रादुर्भाव-परिग्रहोक्तिः | 68 |
| हयशिरसोऽन्तर्धानम् | 69 |
| ०९ परत्वोक्तिः | 69 |
| रुद्रपूजाया नारायणे पर्यवसानम् | 70 |
| कृष्णस्य रुद्रपूजनं लोकानुष्ठापनेन स्वदत्तवरपालनार्थम् | 71 |
| विष्णोस् स्वान्य-देवं प्रति प्रणामस्य विरहः | 71 |
| नारायणस्य ब्रह्मरुद्रादिभ्यश्श्रेष्ठत्वेन पूज्यतादि | 72 |
| भक्तचातुर्विध्यं तत्रैकान्तिनां श्रेष्ठता | 73 |
| अन्यभक्तानां नश्वरं फलं प्रतिबुद्धानां मोक्षः विष्णोरेव मुक्तिप्रदत्वम् | 74 |
| रुद्रस्य मुक्तिहेतुज्ञानदत्व-मात्रम् | 75 |
| विष्णुभिन्नदेवानां प्रतिबुद्धासेव्यत्वं परिमित-फल-दातृत्वं च | 76 |
| कृष्णहयशिरसोर् ऐक्यम् | 77 |
| १०-११ विश्वरूपवृत्तान्तादि | 77 |
| दक्षयज्ञे रुद्र-नारायणयोर् युद्धम् | 78 |

| रुद्रेण नारायणस्य प्रसादनं ततस्तस्य रुद्रप्रीतिः उभयोश्छिद्रविरहश्च | 78 |
|--|----|
| ब्रह्म-रुद्र-दत्त-हव्य-कव्यानां भागवत-प्रिय-भगवच्-चरण-सविध- वर्तित्वम् | 79 |
| १२ एकान्ति-भावः | 80 |
| एकान्तिदत्तानां भगवता शिरसा प्रतिग्रहः | 80 |
| १३ पञ्चरात्रोक्तक्रममुक्तिः | 81 |
| १४ विष्णोस् सर्व-कर्म-समाराध्यता | 82 |
| १५ विष्णु-द्वेषे पितृ-दण्डः | 82 |
| १७ सात्त्वतधर्मः | 83 |
| सात्त्वतधर्मस्य ऋग्वेदमूलकत्वं ब्रह्मणो जन्मसप्तके आविर्भावतिरोभावौ च | 83 |
| तस्य कृत-त्रेता-युग-व्याप्तिः गीतोक्तदिशा परम्पराप्राप्तिश्च | 84 |
| एक-द्वि-त्रि-चतुर्-व्यूह-विभागेन सात्त्वतैस् तस्यानुष्ठानम् | 85 |
| जन्म-काले दृष्टिः | 86 |
| मधुसूदनदृष्टस्यैव सात्त्विकता तेनैवोक्तधर्मस्याचरणम् | 86 |
| ब्रह्म-रुद्र-दृष्टयोः राजस-तामसते, त्रिवर्गपरता उक्तधर्मस्यासंस्पर्शश्च | 87 |
| साङ्ख्य-योगादि | 88 |
| सांख्य-योग-वेद-पञ्चरात्राणाम् एकरसतां तन्त्र-निर्णयार्थम् आशङ्का च | 88 |
| १८ | 88 |
| सांख्यादीनां नारायण-निष्ठत्वं एतज्-ज्ञान-विरहिणां तामसत्वं च | 89 |
| प्राचीनसांख्ययोगयोर् वेद-पञ्चरात्रैकरसता | 90 |
| सांख्ययोगयोर् विभु-निर्गुण-बहु-पुरुषाभ्य्-उपगमेन वेदैकरस्यं न संभवतीतिशङ्का | 91 |
| १९-२० सांख्य-वेदैकरस्यादि | 91 |
| कपिलाद्य्-अनन्तर-कालिकैस् तथाऽभ्युपगमेऽपि प्राच्यसूत्राणां वेदैकरस्यम् | 92 |
| बहुपुरुषोपादानगुणाधिकैकपुरुषस्य व्याससम्मतत्वम् | 92 |
| ब्रह्मरुद्रसंवादः | 94 |
| प्रश्नः | 94 |
| प्रतिवचने एकप्रुषस्य बहप्रुषाधारत्वम् | 94 |

| ब्रह्मोपादानता | 0.5 |
|--|-----|
| `` | 95 |
| परमात्मनि क्षेत्रज्ञशब्दस्योपपत्तिः | 96 |
| भगवतस्सांख्ययोगविधिना क्रमेण चिन्तनीयता | 98 |
| निर्गुणपरवासुदेवस्य प्राप्यता | 99 |
| निर्गुणत्वविचारः | 100 |
| पर-जीव-चिन्तकानां पर-जीव-प्राप्तीच्छा | 102 |
| परमात्मनिरूपणम् | 103 |
| प्रवृत्तिधर्माराध्यतादि | 105 |
| एकायनशाखा | 106 |
| रहस्याम्नायमूलकत्वेन पञ्चरात्रस्य रहस्यता | 107 |
| प्राच्यसाङ्ख्ययोगगीता पञ्चरात्राणां वेदैकरस्यम् | 108 |
| उपसंहार: | 109 |
| ०३ उपाख्यानारम्भः | 109 |
| उपाख्यानावतरणसमाप्तिः | 109 |
| भगवच्छब्दार्थविचारः | 112 |
| निर्गुण-श्रुत्य्-अर्थः | 114 |
| वासु-देवस्यैव भगवच्-छब्दार्थता | 114 |
| पञ्चम-वेदतद्-उपनिषद्-अर्थस्य श्रुति-प्रसिद्धता परमात्म-शब्दार्थश् च | 115 |
| माहात्म्यशब्दार्थः तस्य औपनिषदता | 116 |
| तेन जीवब्रह्मभेदसिद्धिः तद्ज्ञानस्य फलम्, आदिपर्वोक्तं नारायणपरत्वं च | 117 |
| नारायणस्य प्रणवार्थत्वम् | 118 |
| नादार्थत्वं | 119 |
| रुद्रोपासनस्य हरिस्मृतिहेतुतामात्रम् (ह-वं) | 119 |
| कृष्णमुद्दिश्य अञ्जलिं सम्पुटं कृत्वा शङ्करोक्तविष्णुयाथात्म्यादेर्विचारः (ह- वं) | 120 |
| रुद्रोक्त्यनन्तरम् ऋषीणां नारयणस्य परमात्मत्वनिर्णयः विष्णोश्चातुरात्म्यम् | 121 |
| चतुरात्मनो वासुदेवस्य प्रणवार्थता व्यक्ताव्यक्तशब्दार्थता च | 122 |
| आदिपर्ववचनानाम् अथर्वशिखार्थ-निर्णायकता ततो लक्ष्मी-विशिष्टस्यैव नादार्थत्वम् | 123 |
| ब्रह्मवैवर्तवचनैः 'ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्राः' इत्यदिश्रुत्यर्थनिर्णयः | 124 |
| 'शान्तं शिवम्' 'तत्पुरुषाय' 'न तत्समश्च' इत्यादिश्रुत्यर्थनिर्णयः धर्मावतारश्च | 125 |
| कृते नरनारायणावतारः द्वापरे तयोर् एव कृष्णार्जुनरूपता | 125 |

| पूर्वाध्यायार्थसंग्रहानुवादः | 126 |
|--|-----|
| हयशिरोऽवतार-प्रश्नोपोद्घातः हयशिरसस् सन्न्यासि-रूपं च | 127 |
| तस्य 'एकोहँसः' 'श्वेताश्वतरः' इति श्रुत्यर्थता ब्रह्मणा दर्शनं च | 128 |
| तद्दर्शनस्य (तै) आरण्यकधर्मसूक्तप्रतिपाद्यता तद्रूपाविर्भावप्रश्नश्च | 128 |
| मधुब्राह्मणस्य (बृ. ४५) हयशिरःपरतादर्शनानन्तरं चतुर्मुखकार्यस्य प्रश्नश्च | 129 |
| पुण्यशब्दस्याकर्मवश्यभगवत्परता | 130 |
| पुण्यधर्मशब्दयोः श्रुति-शङ्कराचार्योक्त्य्-आदिभिर् ब्रह्मपरत्वसाधनम् | 131 |
| मनुस्मृतितोऽपि धर्मशब्दस्य तत्समर्थनम् | 131 |
| ०५ प्रतिवचनारम्भः | 133 |
| जनमेजयं प्रति वैशम्पायनोक्तेः व्यासोक्तिताकथनम् | 133 |
| वैशम्पायनं प्रति जनमेजयस्य हयशिरोऽवतारप्रश्नः | 134 |
| वैशम्पायनस्य हयशिरोऽवतारप्रतिवचनोपक्रमः | 134 |
| देहबद्धजीवसामान्यस्य ईश्वरसङ्कल्पजपञ्चभूतसम्बन्धः | 135 |
| उक्तार्थे प्रमाणतया मैत्रायणीयश्रुत्युपन्यासः | 136 |
| ०६ ईश्वरः | 138 |
| ईश्वरशब्दस्य शिवरूढत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थम् 'ईश्वरो हि' इत्यादिमूलप्रवृत्तिः | 138 |
| ईश्वरशब्दस्य यौगिकत्वमेवेति नारायणपरत्वम् | 139 |
| ईश्वरेशान-शब्दयोर् यौगिकत्वे रुद्रशङ्कराचार्यसम्मतिः | 139 |
| अन्तर्यामिब्राह्मणस्य नारायणपरत्वे शङ्करसुरेश्वराचार्ययोस्सम्मतिः | 140 |
| (शं. गी. भा.) रुद्रभक्तान् नारायण-भक्तस्यातिशयः - मधुसूदनसरस्वतीसम्मतिः | 141 |
| जीवस्यापि सृज्यता ईश्वरशब्दस्य यौगिकत्वेन नारायणपरत्वस्योपसंहारः | 142 |
| उक्तार्थे मैत्रायणीयश्रुतेर् अपि मूलता | 143 |
| निर्गुणत्वविचारे एकोदेव इति श्रुत्यर्थविचारः | 143 |
| 'निष्कलं निष्क्रिय'मित्यादिश्रुत्यर्थविचारः न्यायविशेषनिरूपणं च | 144 |
| परमते निरवद्यश्रुतिविरोधः | 145 |
| ०७ प्राकृतलयकथनम् | 146 |
| प्राकृतलयहेतुत्वेन नारायणस्य परत्वम् अभिप्रेत्य प्राकृतलयकथनम् | 146 |
| अण्डान्तर्बिहिष्ठं भूतलयप्रतिपादनम् | 146 |
| आकाशस्य इन्द्रियेषु लयस्य संश्लेषरूपता | 147 |
| आकाशस्य अहङ्कारे तस्य च महत्तत्त्वे लयस्य मानसिद्धता | 148 |
| श्रुत्युपबृंहणयाज्ञवल्क्यस्मृत्या उक्तार्थसाधनम् | 149 |
| | |

| मनुस्मृति (आनु) नारदसनत्कुमारसंवादाभ्यां तत्साधनम् | 150 |
|---|-----|
| (आनु) रुद्रसनत्कुमारसंवादमोक्षधर्मवचनैः तत्स्थापनम् | 150 |
| महत्तत्त्वाद्य्-अपलापि-पर-पक्ष-साधक-विरहः | 151 |
| महत्तत्त्वस्य अव्यक्ताक्षरावस्थाद्वारा तमोऽवस्थापन्नप्रकृतौ लयः | 152 |
| प्रकृतेः परमात्मनि लयः, लये चिदचितोर् नामरूपविभागा भावमात्रं नत्वभावः | 153 |
| श्रुतिभिः नारायणस्य उक्तलयकारणत्वसमर्थनम् | 154 |
| ०८ व्यूह-शुद्ध-सृष्टिः | 155 |
| तमश्शरीरकस्य वासुदेवस्य व्यूहस्रष्टृता | 155 |
| वासुदेवस्वैव सङ्कर्षणादिमूर्तिसंज्ञाभेदाः | 156 |
| व्यूहमुखेन सत्त्वादिगुणत्रयाधिष्ठातृता | 157 |
| हयशिरोऽवतारस्य विश्वकर्मसूक्तप्रतिपाद्यता | 163 |
| ०९ लक्ष्मीविशिष्टता | 164 |
| रहस्याम्नायस्थ-विद्या-शब्द-प्रयोगेण (नृ.) तापनीयादि-श्रुति-पञ्च-रात्रैकरस्यम् | 165 |
| (स. ना. भा.) भट्टार्योदाहृतया 'श्रद्धया देवः' इत्यादिश्रुत्यापि तत्स्थापनम् | 174 |
| उत्तरमूलस्य (स. भा.) भट्टार्योक्तदिशा विवरणम् | 183 |
| लक्ष्म्यवतारनिद्रास्वरूपं हरिवंशोक्तम् | 183 |
| (मो-ध) योगाशब्दस्य लक्ष्मीपरता (मू) चतुर्मुखोत्पत्तिप्रकारश्च | 185 |
| १० अहंकारो जातो ब्रह्मा | 186 |
| वेदचतुष्टयानुरूपं चतुर्मुखत्वं हिरण्यगर्भशब्दार्थश्च | 186 |
| हिरण्यगर्भस्योभयभावनता | 188 |
| तस्य कर्ममूलकदेवत्वहेतुसत्त्वस्थता | 188 |
| परमेष्ठिभूतशब्दद्वयार्थः | 189 |
| ११ वेदापहरण-दुःखम् | 190 |
| १२ ब्रह्मकृतानिरुद्धस्तुतिः | 191 |
| मूलविवरणम् | 191 |
| अञ्जलिवैभवम् | 192 |
| नमश्शब्दस्य शरणागतिपरता | 193 |
| भगवतः अवतारस्य स्वेच्छाधीनता सर्वतोमुखशब्दार्थश्च | 193 |
| हयशिरोऽवतारस्यावतरणम् | 194 |
| १३ हयशिरसोऽवतारः | 195 |
| द्वितीयाम्, तनुम् इति पदद्वयेन विश्वकर्मसक्तू[[??]]योर्हयशिरःपरत्वज्ञापनम् | 196 |

| | तनुशब्देन भगवद्विग्रहे कठश्रुतेर्मानतो बाधनम् | 197 |
|------|--|-----|
| | विश्वकर्मसूक्ते वाचस्पतेः परमं धाम वाक्परैवेति साधनम् | 207 |
| | संहिता हरिवंशादितो हंसशब्दस्य हयशिरःपरता | 207 |
| | हयशिरसश्शुक्लयजुर्वेदोपदष्टृतो तच्छक्त्यनुग्रहात् तत्-प्रतिभानम् | 208 |
| १४ व | दीधितिः - विस्तारः | 208 |
| | व्यासेनापि तदाराधनजानुप्रहेण वेदविभागादेः करणम् | 212 |
| | भारतादौ आश्वलायनदशाश्लोक्यां च अस्या एव विवक्षा (दे-भा) शक्तिवि-पर | 213 |
| | (अ-वे) वाक्सूक्तस्य तत्परत्वे प्रातरग्निमित्यस्य तत्पतिपरत्वे च कौशिकसम्मतिः | 213 |
| | त्रिषप्तीय-घर्मसूक्तादेरुक्तार्थपरता - आनन्दतीर्थश्रीहर्षादिसम्मतिश्च | 214 |
| | उक्तार्थस्य निगमान्तदेशिकाद्याचार्याभिमतत्वम् | 215 |
| | विद्याप्रददेवतासु हयाननश्रैष्टये पण्डितजगन्नाथसम्मतिः | 215 |
| | वाक्शब्दघटितबृहदारण्यक (३. अ) श्रुत्यर्थः | 216 |
| | (बृ. आ) चतुर्मुखकृतयज्ञस्य हयग्रीवदेवताकत्वम् | 217 |
| | उपाख्यानार्थस्य बृहदारण्यकप्रतिपाद्यता | 218 |
| | ऐतरेयारण्यकोपनिषदन्त्यखण्डस्य हयशिरःपरत्वे सायणीयव्यङ्ग्यता | 219 |
| | उपान्त्यखण्डान्तिम 'ओष्ठपिधाना' इति वाग्देवीमन्त्रविचारः | 220 |
| | उपाख्यानार्थस्य (ऐ-आं-ऊ) अन्त्यखण्डविवक्षितत्वम् | 221 |
| | तत्र विष्णुजिष्णुसंहितायां वृद्धहारीतस्मृत्युपबर्हणम् | 221 |
| | ऐतरेय(अन्त्यखण्ड)कौषीतकिब्राह्मणगतवाक्प्राणहोमविचारः | 222 |
| | ऐतरेयारण्यके (३-२-६) वाक्प्राणसंहितान्तरविचारः | 223 |
| | प्रथश्च यस्य बीभत्सूनां सयुजं हंसम् - इत्यादिश्रुत्यर्थः | 224 |
| | "पतङ्गमक्तम्" इत्यादिश्रुत्यर्थः | 225 |
| | 'प्रथश्च यस्य' इति मन्त्रोत्तरार्धार्थः सारस्वतसूत्रोक्तं वाग्देव्या वृत्रहन्तृत्वम् | 226 |
| | वाग्देवीविष्णूभयानुग्रहेण वृत्रवध इति निष्कर्षः | 226 |
| | सेश्वरमीमांसागत 'चत्वारि शृङ्गा' इति मन्त्रार्थः - रुद्रशब्दार्थश्च | 227 |
| | 'स इदग्निः कण्वतमः' (ऋ. सं) 'एकोहगँ सः' 'यो ब्रह्माणम्' (श्वे. उ.) | 228 |
| | विश्वकर्मसूक्तश्रुत्यर्थः | 229 |
| | विश्वकर्मसूक्तानुसारेण 'यज्ञस्य धामपरमम्' इत्यस्यार्थोपसंहारः | 230 |
| | 'प्रथश्च यस्य' इत्यादेः 'अग्निर्वै देवानां इत्यादेश्च (ऐ) ब्राह्मणस्य अर्थः | 231 |
| | 'अग्निर्वै देवानाम्' इत्यादिवाक्येन विष्णोः परमत्वसाधनम् | 231 |
| | 'विष्णोर्नुकम्' इत्यादि सुक्तत्रयेण तत्साधनम् | 232 |

| 'सोऽध्वनपारम्' (क) इत्यादिभिस्तत्साधनम् | 233 |
|--|-----|
| 'अतो देवा' इति वर्गेण 'अस्य वामस्य' इति सूक्तेन च तत्साधनम् | 234 |
| मैत्रायणीयश्रुत्यापि तत्साधनम् | 235 |
| 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' इति पा.सूत्रभाष्यात्तत्साधनम् | 235 |
| पराशरव्याससम्मत(श्वे)श्रुत्यर्थस्य महाभाष्यकृदभिप्रेतता | 236 |
| अर्जुनस्य गौणता वासुदेवस्य परत्वे पाणिन्यानन्दवर्धनशङ्करसम्मतिः | 237 |
| पञ्चविंशात्परस्य वासुदेवस्य सूर्यसिद्धान्तकृदभिमतत्वम् | 238 |
| उक्तार्थे ब्रह्मसिद्धान्तकृतोऽपि सम्मतिः यज्ञपुरुषस्य वासुदेवान्यताऽपि | 239 |
| दीक्षणीयादिवाक्यैः विष्णुर्यजमान इति स्थापनम् | 240 |
| यज्ञाभिमानिनो विष्णोः हरिवंशवचनैश्शक्त्यावेशावतारता | 240 |
| पारिजातापहरणप्रसङ्गे विष्णोः कर्मवशत्वशङ्कापरिहारः | 241 |
| तत्रैव विष्णोः परत्वामिधानेन शङ्कितविष्णोरन्यता | 242 |
| प्रथमपर्वोक्तं विष्णोरनन्तप्रादुर्भाववत्त्वम् | 243 |
| तृतीयपर्वोक्तं नारायणस्याकर्मवश्यावतारत्वं व्यूहसृष्टिश्च | 244 |
| चतुर्मुखसङ्कल्पमात्रेण विष्णोरवतारः वेदादिसृष्टिश्च | 245 |
| अनिरुद्धस्य हयशिरोरूपम् | 245 |
| (बृ) तृतीयचतुर्थाध्यायार्थः | 246 |
| (वृ) ४ 'तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यम्' इति श्रुत्यर्थः | 247 |
| (बृ-४ अ) शिशुब्राह्मणप्रतिपाद्यो वाक्पतियशिराः | 248 |
| वासुदेवानिरुद्धहयशिरसामैकस्य मधुब्राह्मणार्थता | 248 |
| १५ सुनासिकेन | 249 |
| ०२ दीधिति-शेषः | 251 |
| ०१ अवतार-कृत्यम् | 251 |
| मूलम् | 251 |
| मूर्तिनिरूपणम् | 251 |
| वेदानाम् आहरणादि | 251 |
| मधुकैटभयोर्वधः, ब्रह्मानुग्रहः | 252 |
| आराधनस्य फलम् | 253 |
| मूलार्थः | 253 |
| ०२ वेदनिधिः | 255 |
| ०३ वेदादीनां नारायणपरत्वादि | 256 |

| मूलम् | 256 |
|---|-----|
| नारायणपरत्वादि | 256 |
| तलवकार-श्रुत्य्-उपबृंहणता | 256 |
| नारायणस्य सर्ववेदतात्पर्यविषयत्वादि | 257 |
| नारायणस्य ब्रह्मशब्दार्थता | 258 |
| आश्रयाप्रत्यक्षत्वेऽपि गन्धादेरिव नारायणाश्रयजगतः प्रत्यक्षता | 258 |
| गुणगुणिनोः प्रमाणप्रमेययोश्च भेदः | 259 |
| सांख्य-योगयोष्-षड्-विंशति-तत्त्व-प्रतिपादकता | 260 |
| भगवतस् सर्वान्तर्यामितयोपादानत्वम् | 261 |
| ०४ तत्त्वं जिज्ञासमानानाम् | 262 |
| महायोगी, इत्यादीनामर्थः नारायणशब्दनिर्वचनं च | 263 |
| तत्र्यैक्यं छान्दोग्योपनिषद्-अभिप्रेतम् | 263 |
| तदेव महोपनिषन्मैत्रायणीयोपनिषदभिप्रेतम् | 264 |
| बृहादारण्यकाभिप्रेतं तदेव | 265 |
| तस्यैव ऐतरेयसुबालोपनिषदभिप्रेतता | 266 |
| विशेष्यविकारविरहेऽपि विशेषणे सत्वेन चिदचिद्विशिष्टस्योपादानता | 266 |
| शरीरशरीरिभावस्यापृथक्सिद्धेश्च द्वैधा ऐक्यव्यपदेशनिमित्तता | 267 |
| आधाराधेय-भाव-लय-कारणत्वादेर् ऐक्य-व्यवहार-निदानता | 268 |
| श्वेताश्वतरकठोपनिषदोर् अनेक-तत्त्व-परता | 269 |
| विष्णु-पुराणस्य कठोपनिषद्-उपबृंहणता | 269 |
| उपनिषत्सु ब्रह्मणोऽन्यस्योत्कृष्टस्य विभक्तस्य पृथग्-भूतस्यैव निषेधः | 270 |
| पूर्ववचनानुसारेण क्षराक्षरप्रश्नाशयः | 271 |
| जनक-वसिष्ठ-संवादः | 271 |
| मूलम् | 272 |
| बद्धजीवस्य क्षरत्वोक्त्या अक्षरपदार्थनारायणकार्यता | 273 |
| अभेद-व्यपदेशस्य शरीर-शरीरि-भाव-निबन्धनता | 273 |
| प्रकृति-मण्डलाद् ऊर्ध्व-देशे परस्य मुक्तप्राप्यता | 274 |
| पुरुषस्य स्त्रीसम्बन्धतुल्यतया प्रकृतिनित्यसङ्गस्य मोक्षानुपपत्तिप्रश्नः | 275 |
| मूलम् | 275 |
| अर्थः | 277 |
| प्रलयकालिकम् एकत्वं सृष्टि-कालिकं बहुत्वम् इत्य् एक-श्रुति- सिद्धान्तः | 277 |

| योगविषयभूतं याज्ञवल्क्यस्मृत्युक्तं परस्य जीवस्थत्वम् | 278 |
|---|-----|
| अक्षरात्परतः परः इति (मुं) श्रुत्यर्थः | 279 |
| मुण्डकश्रुत्यभिप्रेतं मुक्तस्य भगवता ज्ञानसाम्यम् | 280 |
| मूलम् | 280 |
| प्रकृतिजीवयोर् उभयोर् अप्य् अक्षर-शब्दार्थता | 283 |
| जीवस्य प्रलयकालिकाक्षरत्वापेक्षया मुक्तस्याक्षरत्वे विशेषः | 284 |
| (क-आ-सं) ना-स- सं (सं-पं-सं) जीवब्रह्मभेदसाधनम् | 284 |
| बुध्यमानादिशब्दार्थः प्रकृत्यतिक्रमणानन्तरमेव मुक्तिश्च | 285 |
| मुण्डकश्रुत्यभिप्रेतः 'परेण परधर्मा च इत्यादिमूलार्थः | 286 |
| मुण्डकश्रुत्यभिप्रेतः 'परेण परधर्मा च' इत्यादि मूलार्थः | 287 |
| (मुं-बृ-आ-कौ) श्रुत्यर्थस्याप्यत्र विवक्षा | 287 |
| (ज-या-सं) मूलम् | 288 |
| (ज-या-सं) मूलम् | 289 |
| (ज-या-सं) मूलम् | 290 |
| जनक-याज्ञवल्क्य-संवादावतरण-मूल-युधिष्ठिर-प्रश्नाशयः | 291 |
| जनकप्रश्नभावः याज्ञवल्क्यप्रतिवचनार्थश् च | 292 |
| हयशिरस आदित्यस्य तच्छक्तेस् सरस्वत्याश् चानुग्रहेण वेदलाभः | 293 |
| (बृ-आ) अन्तोक्तावाके, सरस्वती-प्रागुक्तैव विश्वावसोर् वेद्य-प्रधान-प्रश्नाशयः | 293 |
| पूर्वप्रश्नस्य याज्ञवल्क्य-प्रतिवचनं पुनः प्रश्न-प्रतिवचने मूलम् | 294 |
| प्रतिवचन-मूलम् तदाशयारम्भः | 295 |
| (कै-उ-गीता-मुं-उ) अनुसारेणवेद्यतात्पर्यम् — "यदानुपश्यते," इत्य् अस्यार्थः । | 296 |
| देह-स्थत्वेन जीवं पुमानेक इति पश्यतां साधूनां जीव-ब्रह्मैक्यं न मतम् | 297 |
| ७०-७२ "यं पृथिवीं न वेद", "यमात्मानं वेद" इति (बृ. श्रुत्य्-अर्थः) | 297 |
| 'तटस्थत्वात्' इत्यनेन परस्यात्मस्थत्वादिबोधक-श्रुत्य्-अर्थ-निर्णयः | 298 |
| अन्तर्यामि-ब्राह्मणार्थः मूलस्थ-साधु-पदार्थश् च | 299 |
| अन्तर्यामिणो नित्यत्वं निर्गुण-श्रुत्य्-अर्थश् च | 299 |
| जीवात्मस्थ एवोपनिषदः पुरुषः "तदात्मानम् एवावैत्" इत्य् अत्रात्मा ऽपि स एव | 300 |
| 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्य् अत्र स एवात्मा ऽहमर्थः | 301 |
| 'तत्स्थत्वात्' अवस्थितेः (१-४-२१ शा. स्) इत्य् उभयोर् ऐकार्थ्यम् | 301 |
| "सम आत्मा" (कौ-ब्रा) "एषम आत्मा" ३ (छां) "एषत् आत्मा" २२ बृ. इत्य् | |
| एषामर्थः | 302 |

| युधिष्ठिर-प्रश्न-प्रतिवचनैकरस्योपपादनेन (ज. या. सं.), अर्थोपसंहारः | 303 |
|--|-----|
| नारायणोपनिषदः हयशिरः परत्व-व्यास-सम्मतम् | 303 |
| देवीभागवते (५ अ) हयग्रीव-चरितानुवादः | 304 |
| (दे. भा.) व्याख्याकृता एतच् चरिते शतपथ-ब्राह्मणस्य मूलत्वस्योक्तिः | 304 |
| शतपथब्राह्मण-मूलम् | 305 |
| शतपथ-ब्राह्मणे (दे. भा.) चरित्रस्य लेशतो ऽप्य् अप्रतीतिः | 306 |
| (ना. आ.) व्यासोक्तिर् इत्यैव शङ्कराचार्यैः हयग्रीव-वृत्तस्य (वि. स. भा.) उक्तिः | 307 |
| व्यासोक्तौ प्रमाण-संप्रदाय-सिद्धार्थ-संग्रहः | 308 |
| गन्धर्वः आदित्यः हंसः हयशिरा एवेति साधनम् | 308 |
| श्वेताश्वतरेत्य् अत्र श्वेताश्वेन तरतीति व्युत्पत्ति-वर्णनम् | 309 |
| (बृ. उ. ६-४-१८) हयशिरश्-शक्तिः (३-४-१) हयशिराः इत्य् उभयं विवक्षितम् | 310 |
| (बृ. उ. ४-२-७) शिशु-ब्राह्मणस्य हयशिरः परता | 310 |
| शिशु मधु ब्राह्मणद्वयैकरस्यम् | 311 |
| ऐतरेयतृतीयारण्यकोपान्त्यखण्डे हयशिरश्-शक्तेर् अन्त्यखण्डे हयशिरसश् च विवक्षा | 312 |
| ऋग्वेदे "यदद्मवदन्ति" इत्यत्र हयशिरश्-शक्तिः "सखे विष्णो" इत्यत्र हयशिराः | 312 |
| (बृ. उ.) मधुविद्यायां हयग्रीव-ब्रह्मविद्यात्वम् | 313 |
| विश्वकर्म-सूक्तद्वयस्य वाग्-देवीपति हयशिरः परता | 314 |
| उक्तार्थस्याचार्यपादसम्मतता "सुवर्णं धर्मम्" इत्य् आदेश् च (बृ.) उपनिषदेकार्थता च | 315 |
| (अ-सं) दशहोतृग्रहभागार्थः (द-हो) हृदयस्वर्णधर्मानुवाकार्थश् च | 315 |
| "अन्तश् चन्द्रमसि" "पतङ्गोवाचम्" इत्यनयोर्ह्य आशिरः परता | 316 |
| (अ. वे. सं) प्रथमत्रिषप्तीयसूक्तस्य "प्रातर् अग्निम्" इत्य् आदेश् च हयाशिरः परता | 317 |
| "नासदासीत्" इत्य् आदिसूक्तार्थः | 317 |
| मोक्ष-धर्मान्तर्गत-नारायणाख्यानस्य नारायणोपनिषदैकार्थ्यम् | 318 |
| विष्णुधर्मस्य "ब्रह्मण्यो-देवकीपुत्रः" इत्य् आदिश्रुतिविवरणता | 319 |
| शुक्ल-यजुर्वेदे पञ्चरात्र-प्रवर्तक-सूर्यस्य हयशिरो-रूपता | 320 |
| रस-सर्परी; इति हयग्रीव-मन्त्रानुनन्त्रे सूर्य-हयग्रीव-शक्तिर् वाग् देवी विवक्षिता | 320 |
| पाद्मपुराणे श्रीमुख-श्रीसुक्तयोश च हयशिरसो मत्स्यात प्रथम-मुक्तिः | 321 |

| हयशिरोरूपेणावतारे कारणम् कृष्ण-हयशिरसोर् आनुरूप्यं च | 322 |
|---|-----|
| "हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्, जायमानं हि पुरुषं यं पश्येत्, एको ऽर्थः" | 323 |
| सरस्वत्या लक्ष्मण-मुनये स्वाराधित-हयग्रीव-मूर्तेर् दानम् | 323 |
| नाथयामुन-रामानुज-मुनित्रयस्य हयग्रीवानुग्रह-लब्ध-धी-विकासः | 324 |
| भट्टार्यैः मत्स्यादितः प्राक् हयशिरसस् सत्त्वप्रवर्तनाद्युक्तिः | 325 |
| ०५ सर्व-गतिता | 325 |
| Appendix - +Dyugangā द्युगङ्गा | 340 |
| Goals ध्येयानि | 340 |
| संस्कृतानुवादः | 340 |
| Contribution दानम | 341 |



Source: <u>TW</u>

०१ भूषणारम्भः 🛈

०१ मङ्गलाचरणम् 2

- 1 ईशाना सर्वस्या वाचो-देवी यद्-अङ्कम् अध्यास्ते । 2 कर्णाट-देश-भाग्यं वागीश्वर एष मम मनो विशतात् ॥ १ ॥
- ▼ दीधितिः

हयशिरोरत्नभूषणदीधितिः

हयास्य पादुकासेवी नव्यरङ्गेश्वरो यतिः । तनोति श्रीहयशिरो रत्नभूषणदीधितिम् ॥

1 ईशानेति - ऐतरेयारण्यके (३ - १ खं) 'सर्वस्यैवाच ईशानां, इति श्रुतिरत्र प्रत्यभिज्ञाप्यते ॥

2 कर्णाटेति – देशविशेषे मूर्तिविशेषपूजाया अतिशयितफलप्रदत्वकथनावसरे 'कर्णाटे चाश्वशिरसं इति विष्णुधर्मोत्तर (३. खं १२१. अ. ४. लो) वचनमिह भाव्यम् ॥

वेदान्तगुरुमुखार्चितवागीशपदारविन्दमधुपाळिम् । श्रीब्रह्मतन्त्रकलिजिन्मणिमालां वन्दिषीय सुमहार्घाम् ॥ २ ॥ श्रीब्रह्मतन्त्रकलिजिन्ध्र्णीवासकटाक्ष लब्धभूमानम् । श्रद्धालुराश्रयेऽहं श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रकिलमथनम् ॥ ३ ॥ श्रीरङ्गनाथपदयोः येन न्यस्तात्मरक्षणभरोऽहम् । कृतकृत्योऽभूवन्तं वन्दे वरदादिलक्ष्मणमुनीन्द्रम् ॥ ४ ॥ वागीशाख्या श्रुतिस्मृत्युदितशुभतनोर्वासुदेवस्य मूर्तिः ज्ञाता यद्वागुपज्ञं भुवि मनुजवरैर्वाजिवक्त्रप्रसादात् । प्रख्याताऽऽश्चर्यशक्तिः कविकथकहिरस्सर्वतन्त्रस्त्रवतन्त्रः त्रय्यन्ताचार्यनामा मम हृदि सततन्देशिकेन्द्रस्स इन्धाम् ॥ भाष्यं यस्य निशम्य लक्ष्मणमुनेः कौतूहलाद्भारती सूत्राणामिदमुत्तमं विवरणं निश्चित्य मानानुगम् । वागीशस्य निजप्रियाय निखिलान्वेदान्प्रदातुश्शुभां मूर्तिं स्वेन सदाऽर्चितां समददाद्यस्मै स जीयान्मुनिः ॥ ६ ॥

द्वापरे नराणां ज्ञानादि-मान्द्येन वेद-विभजनम् ③

1 अल्पज्ञानल्पशक्तीनपि बहु पुरुषान्वीक्ष्य यो द्वापरान्ते वेदं सर्वं विभज्य प्रगुणतममहाभारताद्यैः प्रबन्धैः । तत्तत्त्वं पञ्चरात्रोदितमखिलजनैस्सेवनीयं व्यभाणीत् पाराशर्यो हदीन्धां स मम हयशिरस्तच्त्वयाथार्थ्यबोधी ॥ ७ ॥

▼ दीधितिः

1 अल्पज्ञानल्पशक्तीनित्यादि -

द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने । वेदमेकं स बहुधा कुरुते जगतो हितम् ॥ ३.३.५. वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च । हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान्करोति सः ॥ ३.३.६.

इति विष्णुपुराणवचनान्यत्रानुसन्धेयानि ॥

कलिजिच्--छठरिपुग्रन्थस्थं हयशिरसोऽनुसंधानम् ③

1 कलिशठरिपुपूर्वान्व्यासजैमिन्यभीष्ट प्रचिकटविषया स्वद्रामिडाम्नाय भेदैः । श्रुतिशिरसि निगूढं पश्ञ्चरात्रे च सारं सकलपुरुषयोग्यं कुर्वतोऽहं नमामि ॥ ८ ॥

▼ दीधितिः

1 यद्यपि द्वापरयुगे भगवतो वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नाऽनिरुद्धरूपेण चतुर्धा अवतारः । कृष्णेन अर्जुनं प्रति पञ्चरात्रसङ्गहरूपायाः गीतायाः उपदेशः । पुरुषाणां ज्ञानशक्तिमान्द्यमवलोक्य व्यासेन वेदविभागकरणं पञ्चरात्रोक्तविधिना ब्राह्मणादिभिः सर्वैः भगवदाराधनस्य कर्तव्यता चेत्यादिकं प्रमाणसिद्धमिति तदनुसारेण तद्युगे अवतीर्णानां सरो भूतमहदाह्वयमुनित्रयनाम्ना प्राधान्येन निर्देश उचितः । तथाऽपि कलिरिपुणा भगवतस्साक्षादष्टाक्षरं परिगृह्य तदर्थनिरूपणार्थं रचिते श्रीसूक्ताऽख्यप्रबन्धे नारायणशब्देन उपक्रमः उपान्त्यगाधायाः पूर्वगाधायां मधुसूदनशब्देनोपसंहारश्च दृश्यते । तेन नारायणोपनिषत् एतत्प्रबन्धस्य व्याख्येयेति सूचितम् । उपनिषदि च मधुसूदनो हयशिरा इति उत्तरत्र मूले स्फुटीभविष्यति । अतोऽत्र उपसंहारे मधुसूदनो हयशिरा एव । मध्ये पञ्चमशतके (३-२) सप्तमशतके च (८-२) गाधाद्वये पूर्वार्धे हयशिरोऽवतारचरितमपि सङ्ग्रहेण प्रतिपादितम् । शठिरपुणाऽपि श्रीमुखसूक्ताऽख्यप्रबन्धे द्वितीयशतके (८-५) गाधायाम् अश्वसामान्यवाचिना मावितिशब्देन अवतारेषु प्रथमं हयग्रीवो निर्दिष्टः । तेन च "तमिद्गर्भम्आ आदिद्गन्धर्वोऽभवद्द्वितीयः" इति श्रुतौ गन्धर्वः विष्णुपुराणादिषु याज्ञवल्क्याय शुक्लयजुर्वेदस्योपदेशप्रकरणे 'सूर्योश्वस्सोऽभवद्यतः" इत्यादौ अश्वश्च हयशिरा इति व्यञ्जितम् । तेन च मोक्षधर्मे याज्ञवल्क्याय सरहस्यशतपथादिकं अनुग्रहीत्री या वाग्देवीप्रोक्ता सा हयशिरसश्यक्तिरित्यपि द्योत्यते । ततश्च -

अन्यश्च राजन् सपरः तथाऽन्यः पञ्चविंशकः । तत्स्थत्वादनुपश्यन्ति ह्येक एवेति साधवः ॥

इत्यादियाज्ञवल्क्योपदिष्टार्थे स्वस्याप्याऽचार्यकं युक्तमिति 'प्राप्यं ज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वा वैश्याच्छूद्राद्वाऽपि नीचादभीक्ष्णम्, इति तत्रत्ययाज्ञवल्क्यवचनेनैव स्थाप्यत इति सिद्ध्यति । अतो हयशिरोवतारप्रतिपादनमुखेन उपकारातिशयविवक्षया कलिरिपोश्शठरिपोश्च नाम प्राधान्येन निर्दिष्टमिति बोध्यम् ॥

व्यासजैमिन्योः गुरुशिष्यभावः, बौधायनस्य तस्सूत्रव्याख्यातृत्वम् ③

व्यासो जैमिनिरप्रतीपहृदया1 वाचार्यशिष्यौ पराम्मी मीमांसां निबबन्धतुस्तदनु तां 2बोधायनाद्या बुधाः । व्याख्यन्ब्रह्मनयस्य लक्ष्मणमुनिर्भाष्यादि तत्र व्यधात् तत्सर्वं सुदृढीचकार निगमान्तार्यो दयन्तामिमे ॥ ९ ॥

▼ दीधिति:

1 सुमन्तुं जैमिनिं पैल्वं शुकं चैव स्वमात्मजम् । प्रभुर्विसिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च ॥ वेदानध्यापयामास महाभारत पञ्चमान् । संहितास्तैः पृथक्तेन भारतस्य प्रकीर्तिताः ॥

इत्यादिना महाभारतादौ जैमिनेर्व्यासशिष्यत्वं प्रसिद्धम् । (से. मी.) एवं शान्तिपर्वणि (३४९-३५९. अ.) ॥

2 बोधायनस्य मीमांसासूत्रव्याख्यातृत्वं च भास्करानन्तरकालिकग्रन्थकर्तृनामनिर्देशरिहते अद्वैतिविरचिते प्रपञ्चहृदयनामके प्रबन्धे चतुर्थे उपाङ्गप्रकरणे "तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतम् । तद्ग्रन्थबाहुल्यभयादुपेक्ष्य किंचित् संक्षिप्तम् उपवर्षेण कृतम्" इत्यत्र स्फुटम् — एवं भगवता बादरायणेन इदमर्थान्येव सूत्राणि प्रणीतानि । विवृतानि च तानि परिमितगम्भीरभाषिणा भाष्यकृता । विस्तृतानि च तानि गम्भीरन्यायसागरभाषिणा भगवता श्रीवत्साङ्कमिश्रेणाऽपि' इत्यात्मसिद्धौ बादरायणसूत्रव्याख्यानद्वयमन्यदप्यवर्तत इति प्रतीयते । एतानि च सूत्रविवरणान्यद्यत्वे नोपलभ्यन्ते ॥

चतुर्मुखाय हयशिरसो वेदपंचरात्रवरदानम् ③

1 सत्त्वस्थं नाभिपद्मे विधिमथ दितिजं राजसं तामसं चाब्- बिन्द्वोर् उत्पाद्य ताभ्याम् अपहृतम् अखिलं वेदम् आदाय धात्रे । दत्वा द्राक् तौ च हत्वा 2वर-गणम् अदिशद् वेधसे सत्र[[??]] आदौ 3तन्त्रं चोपादिशद् यस् स मम हयशिरा मानसे सन्निधत्ताम् ॥

▼ दीधितिः

- 1 सत्त्वस्थमित्यादि उपाख्यानार्थोऽत्र संक्षिप्तः ॥
- 2 वरगणमित्यादि "अहं हयशिरा भूत्वा" भा. शा. ३४७-६१ इत्यादावयमर्थो व्यक्त इति निरूपयिष्यते ॥
- 3 तन्त्रमिति यथोक्तं निर्णयसिन्ध्वादिप्रबन्धकृता कमलाकरभट्टेन प्रमाणतया आदृते हयशीर्षपाञ्चरात्रे -

तेनाश्वशिरसा गत्वा वेदानादायशाश्वतान् । प्रययौ भवनं दिव्यं महर्षिगणभूषितम् ॥ (१. अ. २३) सोऽप्यसौ प्रददौ वेदान्भूय एव जगद्गुरुः । तस्मिन्काले मया पृष्टो देवो यत्तच्छृणुष्व मे ॥ २४ ॥ कियन्ति पञ्चरात्राणि त्वया प्रोक्तानि वै पुरा ॥ २५ ॥

श्रीभगवानुवाच -

यत्त्वया पृष्टमखिलं तत्सर्वं कथयामि ते । प्रोक्तानि पञ्चरात्राणि कल्पे कल्पे मया पुरा । २. प. १. व्यस्तानि मुनिभिर्लोके पञ्चविंशतिसंख्यया । आद्यं समस्ततन्त्राणां हयशीर्षं प्रकीर्तितम् । २. प. २. इत्यादि ॥

काण्वा माध्यन्दिनाश् च, प्रथमम् अभिदधुर् यत् प्रवर्ग्यार्थवादे तन्-मात्रालम्बिनो ये, तत उपरितनाम्नाय-भावा**ऽनभिज्ञाः** । प्रख्यातारण्यकादि-प्रथित--हय-शिरस्वत्व-विज्ञान-शून्याः तेषां मोहं व्यपास्य प्रकटयति परं व्यास एकं च तत्त्वम् ॥

श्री-कृष्ण-ब्रह्म-तन्त्रात् कलि-मथन-गुरोर् **लब्ध**-वेदान्त-सारः विन्यस्त-स्वात्म-भारो वर-द-पद-मुखे लक्ष्मणे देशिकेन्द्रे । वागीश-**प्राप्त**-तुर्यो हय-मुख-चरण-त्राण-सेवा-धुरीणः तस्योपाख्यान-भावं प्रकटयति यतिर नव्य-रङ्गेन्द्र-नामा ॥ १२ ॥

श्री-कृष्ण-ब्रह्म-तन्त्रोत्तम-गुरु-वपुषा यो ममोपादिशत् स्वौ मन्त्रौ तौ जापयित्वा ऽनभिमुखम् अपि मां स्वीय-सेवाधिराज्ये । भक्त्या प्रावर्तयच् च प्रगुणतम-कृपा-वारिधिश् श्री-हयास्यः स्वोपाख्यानस्य सो ऽयं विवृतिम् अपि मया कारयत्य् अन्तर्-आत्मा ॥

०२ उपोद्घातः 🏖

०१ आ-महाभारतम् ③

श्रियःपतिः परम-कारुणिको भगवान् सर्वेषाम् एव पुरुषाणाम् उपादित्सित-जिहासितेष्टानिष्ट-फल--तत्-साधनानां त्याज्योपादेय-परिज्ञानाय वेदाख्यं शास्त्रं चतुर्-मुखादि-परम्परया प्रावर्तयत्। तस्मिंश् च ज्ञाने द्वापरे खिले सति नष्ट-प्रज्ञान् अनुजिघृक्षुः

> देवता-पारमार्थ्यं च यथावद् वेत्स्यते भवान् पुलस्त्येन यद् उक्तं ते सर्वम् एतद् भविष्यति

इति
पुलस्त्य-वसिष्ठ-वर-प्रदान-लब्ध--पर-देवता-पारमार्थ्य-ज्ञानवतः[1]
पञ्च-रात्रैक-रस--श्रुति-तात्पर्य-विषय--निगूढार्थाविष्करण-पटिष्ठात् पराशरात्
सत्यवत्यां कृष्ण-द्वैपायन-रूपेण अवतीर्य वेदं सर्वं विभज्य तद्-उपबृंहणम् इतिहास-रत्नं महाभारतं च प्राणैषीत्।

▼ दीधितिः

1 पञ्चरात्रैकरसेति । विष्णुपुराणस्य वासुदेवद्वादशाक्षरविवरणरूपत्वं व्यक्तम् विष्णुपुराणपरिशीलनपराणां विदुषाम् ॥

०२ सभापर्व अ

नारायण-परत्वम् 🐠

तत्र च सभा-पर्वणि ४३. तमे अध्याये -

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान्प्रभुः । पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ॥ सहस्रशीर्षः पुरुषो ध्रुवोऽनन्तः सनातनः । सहस्रास्यः सहस्राक्षः सहस्रचरणो विभुः ॥

इत्यादिना सर्ववेदपठितस्य पुरुषसूक्तस्य

ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे । आभूतसम्प्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान् ॥ एकस्तिष्ठति सर्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः । नारायणस्य चाङ्गानि सर्वदैवानि भारत ॥ अन्यानि सर्वदैवानि सर्वाङ्गानि महात्मनः । सर्वं चाऽपि हरौ संस्थं सूत्रे मणिगणा इव ॥ आभूतसम्प्लवन्तेऽथ दृष्ट्वा सर्वं तमोऽन्वितम् । ब्रह्मभूतस्तदात्मानं ब्रह्माणमसृजत्स्वयम् । सोऽध्यक्षः सर्वभूतानां प्रभूतप्रभवोऽच्युतः । सनत्कुमारं रुद्रं च सप्तर्षींश्च तपोधनान् ॥ सर्वमेवाऽसुजद्ब्रह्मा तथा लोकांस्तथा प्रजाः ।

इत्यनेन 'एको वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः' इत्यादि महोपनिषदः 'तद्ब्रह्म स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः' इति तैत्तिरीयोपनिषद्वाक्यस्य च अर्थं निर्णीय

ब्रह्मादयो गौणप्रादुर्भावाः, कृष्णस्यायोनिजत्वं, तदर्चनाकरणे दोषः @

ततो (४४) भगवतो नरनारायणहर्यात्मना 1मुख्यप्रादुर्भावं तस्माद्ब्रह्मरुद्रादिगौणप्रादुर्भावोत्पत्तिं तेनैव 2स्वकर्णमलसम्भूतयोः स्वनाभिपुष्करजातब्रह्मसमीपमागतयोः योद्धुकामयोर्मधुकैटभयोर्हननं, पौष्करप्रादुर्भावमाहात्म्यं वराहनृसिंहवामनपरशुरामश्रीरामप्रादुर्भावसंक्षिप्तचरितम्,

▼ दीधितिः

1 मुख्येति —

नरनारायणौ भूत्वा हरिरासीद्युधिष्ठिर । (४४) ब्रह्मा च शक्रः सूर्यश्च प्रादुर्भवति कार्यतः ॥

इति नरादीनां ब्रह्मादीनां च पार्थक्येन प्रादुर्भावप्रतिपादनेनैव पञ्चरात्रसंहितोक्तगौणमुख्यविभागोऽत्र विवक्षित इति प्रतीयते । एवमन्यत्रापि (कू. पु. २०७ पु.)। अत एव ब्रह्मरुद्रादीनां पूर्वं परत्र च सृष्टिप्रतिपादनं सङ्गच्छते । भगवद्गुणदर्पणे 'वरारोह'नामनिरूपणावसरे चाऽयमर्थः स्पष्टः ॥

 'कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते भूतिमदं विश्वं चराचरम् ॥ इति कृष्णं प्रस्तुत्य,

2 एवमेव हरिवंशादावपि । एतच्च कल्पभेदाभिप्रायकम् । तेनाऽत्रोपाख्याने मधुकैटभयोः जलबिन्दुभ्यामुत्पत्तिप्रतिपादनस्य न विरोधः ॥

> आज्ञापयित्वा सर्वज्ञो व्यजायत यदोः कुले । आत्मान3मात्मना तात कृत्वा4 बहुविधं 5हरिः ॥ ५२. अ. ७.

इत्यादिना भूभारावतरणार्थं कृष्णप्रादुर्भाववृत्तम्,

▼ दीधितिः

3 आत्मना - स्वसंकल्पेन । 4 बहुविधं - चतुर्विधम् । 5 हरिः - ब्रह्मरुद्रादिसंहर्ता इत्यर्थः ॥

नैष गर्भत्वमापेदे नयोन्यामवसत्प्रभुः । आत्मनस्तेजसा कृष्णः सर्वेषां कुरुते गतिम् ॥ ६१. अ. ३२. 6 कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः । जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेयाः न सम्भाष्याः कदाचन ॥ ६२. अ. ९.

इत्यनेन कृष्णस्य अयोनिजाऽवतारत्वं कृष्णार्चनाऽकरणे दोषं चाऽवादीत् ।

▼ दीधितिः

6 अत्रार्चनं चतुरात्मनो वासुदेवस्यार्चनमेव विवक्षितम् । एतत्सर्वम् उत्तरत्र स्फुटी भविष्यति ॥

०३ अरण्यपर्व®

अरण्यपर्वणि च -

एष नारायणश् श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः । नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मधुरां पुरीम् ॥ ८६. अ. २४. पुण्या द्वारवती तत्र यत्रास्ते मधुसूदनः । साक्षाद्देवः पुराणोसौ स हि धर्मः सनातनः ॥ २५ ॥ ये च वेदविदो विप्राः ये चाऽध्यात्मविदो जनाः । ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ २६ ॥

इत्यनेन नारायणोपनिषदन्ते 'ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनोम्' 'सर्वभूतस्थमेकं नारायणम्', इति श्रुतिं न्यग्रोधपत्रशायिनश्शिशोरनिरुद्धस्य कुक्षौ सर्वं जगत्साक्षात्कुर्वता मार्कण्डेयेन युधिष्ठिरं प्रति प्रतिवचनावसरे - सर्वेषामेव भूतानां पितामाता च माधवः । गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरव(पुरुष)र्षभाः ॥ १९२. अ. ५६.

इत्यादिना 'माता पिता शरणं सुहृद्गतिर्बन्धुर्नारायणः' इति सुबालश्रुतिं च व्याख्याय आत्मानं तपसा तोषयन्तं जयद्रथं प्रति रुद्रप्रतिवचनावसरे नारायणस्य लयकारणत्वं नारायणनामनिर्वचनपूर्वकं सृष्टिकारणत्वं वराहनृसिंहवामनकृष्णावताराणां संक्षिप्तचरितं चोक्त्वा नारायणसहायस्य अर्जुनस्य जयद्रथेनाऽजय्यत्वं चाब्रवीत् ॥

०४ उद्योगपर्व®

उद्योगपर्वणि च -

यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ ६७ अ. ९

इत्युपक्रम्य,

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः । आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥ १२ ॥

तदीशत्वस्य अकल्पितत्वं च@

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च । ईष्टे हि (शते) भगवानेकः1 सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १३ ॥

▼ दीधितिः

1 सत्यमित्यादि । एतत् — ईशनम्, सत्यं - परमार्थं 'स ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय, इत्यत्र ईशितृत्वस्य अविद्यादिमूलकत्वव्यवच्छेदेन परमार्थत्वबोधनादिति भावः ॥

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः । कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव दुर्बलः ॥ १४ ॥ तेन वञ्चयते लोकान्मायायोगेन केशवः । ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ॥ १५ ॥

इत्यन्तेन 'एको देवः' ६-७, 'स ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव नाऽन्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय[[??]]' ६ -१७, 'विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोन्यः' ५-१, 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' १-१० इत्यादिश्वेताश्वतरश्रुतेः; 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति कृष्णं नियानं' २ अष्ट. ३ अ. इति अस्य वाम(वामन)सूक्तमन्त्रस्य 'श्रीकृष्णो वै परमं दैवतम्' इति गोपालतापनीयश्रुतेश्च तात्पर्यमाविष्कृत्य -

> एष ऐकायनः पन्थाः येन यान्ति मनीषिणः ॥ ६८-१५. एतज्ज्ञानं च पन्थाश्च येन यान्ति मनीषिणः । अप्राप्यः केशवो राजन् इन्द्रियैरजितैर्नृभिः ॥ २० ॥ 2आगमाधिगमाद्योगाद्वशी तत्वे प्रसीदति ॥ २१.

▼ दीधितिः

2 अत्राऽऽगमशब्दः पञ्चरात्रपरः । पाद्मे (६ उ. ८१ अध्या.) एतच्छब्दनिर्वचनं द्रष्टव्यम् ।

एकायनशाखाविचारः 5

इत्यनेन 1भूमविद्यादिषु प्रसिद्धायाः पञ्चरात्रमूलभूताया एकायनशाखायाः 'युजीवांब्रह्मपूर्व्यं नमोभिः' श्वे. २.६. 'सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं सुहृत्' ३-१७. मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये, ६. १८. इत्यादि श्वेताश्वतरश्रुत्यैककण्ठ्यमभिधाय -

कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्त्वतः ॥ ६९-५.

इत्यादिना कृष्णादिनामनिर्वचनपूर्वकं कृष्णस्य परत्वेन तस्यैव शरणागत्युद्देश्यत्वमुपसञ्जहार ॥

▼ दीधितिः

1 भूमविद्यादिष्विति ॥ अत्रैकायनशब्दस्य शाखापरत्वं २-८. श्रुतप्रकाशिकायां स्पष्टम् । एवं काण्वसंहिताभूमिकायां भागवतलक्ष्मीनृसिंहशास्त्रिणा उदाहृतायाम् (अथर्वशिरसि पूर्वकाण्डे)

अथ हैनं पिप्पलादो अङ्गिराः सनत्कुमारश्चाथर्वाणमूचुः भगवन्नादौ को वेदः को वाऽयातयामः को वा विष्णुदैवत्यः को वा कृत्स्नकर्मब्रह्मप्रतिपादकः कौस्विद्देवानाम् ऋषीणां च प्रियतम

इति । स एभ्योऽथर्वा प्रत्युवाच भगवतो नारायणस्य निश्वासरूपेणादावभिव्यक्तश्शुक्लयजुर्वेदः स एवाऽयातयामः सवीर्यत्वाय भवति । स एव विष्णुदैवत्यो विष्णुप्रीणनाय स एव कृत्स्नकर्म ब्रह्मप्रतिपादकः सत्प्रतिपादनाय । स एव देवर्षीणां च प्रियः तत्प्रीणनाय भवति । त एनं पुनरूचुः भगवन् कौस्विदेकायन इति । स एभ्यः प्रत्युवाच भगवतो (ना) तत्र शौक्तिकानि यजूँषि द्विसहस्राणि तान्येकायनानीत्याचक्षते इति श्रुताविष । यथा च एकायनशाखाया अपौरुषेयत्वं तथा काश्मीरागमप्रामाण्य एव प्रपञ्चितमित्यागमप्रामाण्ये भगवद्यामुनमुन्युक्त्यतदात्वे तस्या अकल्पितत्वे अविप्रतिपत्तिर्निश्चीयते । (च-व्यू) शाखाविभागे च तापायनीयेति अस्या एव नामभेद

उत्कीर्तितस्स्यात् । (च-व्यू) ता(प)पायनीयाः इति अन्यत्र ताम्रायणः, इति वाजसनीयशाखाध्यायिमैत्रायणशाखाविभागे च षड्भेदाः, सप्तभेदाः, इति च (च-व्यू) पाठभेदाः (वै-वा) दृश्यन्ते । (मै) ऐकेयाः, एकायनाः इति (च.व्यू) लिखितकोशेषु पाठभेदश्चोपलभ्यते । अभ्युपगम्यते च शाखानां कालभेदेनापि नामभेदो विमर्शकैः । शाखा चेयमितरशाखावत् यामुनमुनिकाल एव कृत्स्ना नोपलब्धेति आगमप्रामाण्ये व्यक्तम् । 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' इति सुरेश्वरवार्तिकाद्युदाहृतभाल्लवेयशाखादिकतिपयवाक्यवत् एतदीयकतिपयवाक्येषु प्रत्यितव्यतेति ॥

०५ भीष्म-पर्व®

भीष्मपर्वणि च २३ अध्याये 'यतः कृष्णस्ततो जयः' इत्युपक्रम्य भगवद्गीतायां सात्वतधर्मं संग्रहेण निरूप्य गन्धमादने स्थितेन चतुर्मुखेन आकाशविमानस्थं वासुदेवं प्रति नमस्कारपूर्वकप्रार्थनावचनेषु —

त्वद्भक्तिनिरतादेव नियमस्थाः समाहिताः । अर्चयामस्सदा 1 विष्णुं परमेशं महेश्वरम् ॥ ग्रं. ६० अ. ६३

▼ दीधितिः

1 अत्र विष्णुः अनिरुद्धः 'अनिरुद्धं त्वं यं विदुर्विष्णुमव्ययम्, इत्यनुपदमेव वक्ष्यमाणत्वात् । चतुर्मुखादीनां सकामत्वेन अनिरुद्धस्यैवाराध्यत्वात् । अयमर्थः यज्ञाग्रहराध्याये स्फुटीभविष्यति ॥

यत्तत्परमकं गुह्यं त्वत्प्रसादादिदं विभो ।
 वासुदेव तदेतत्ते मयोद्गीतं यथातथम् ॥ ६९ ॥

▼ दीधितिः

2 यत्तत्परमकमित्यादि । अत्र परमकम् उद्गीतमिति पदद्वयेन

उद्गीतमेतत्परमन्तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं स्वप्रतिष्ठाक्षरञ्च । अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ १-७

इति श्वेताश्वतरश्रुतिः प्रत्यभिज्ञाप्यते । तत्र च

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ १-१४

इत्यत्र देवशब्देन वासुदेव एव विवक्षितः । 'सृष्ट्याद्यैः क्रीडित स्वयं इति देवार्थ ईरितः, ५२, ६८ इत्यहिर्बुध्न्यसंहितोक्तानां देवशब्दयोगार्थानां सृष्टिस्थितिलयक्रीडानां 'किं कारणं ब्रह्म कुतस्स्म जाता जीवाम केन क्वच संप्रतिष्ठा, इत्युपक्रमे प्रतिपादनात् । उपसंहारे चोत्तरत्र 'सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्, ११७ इत्यत्र वासुशब्दयोगार्थप्रतिपादनाच्च । तत्पूर्वं 'तिलेषु तैलं दधनीवसर्पिः आपस्त्रोतस्सुचारणीषु चाग्निः । एवमात्मा आत्मनि गृह्यतेऽसौ, १-२५. इत्यत्र दधनीव सर्पिरित्यनेनोक्तस्यार्थस्य ब्रह्मबिन्दूपनिषदि ('स्वरेण सन्धयेद्योगमित्युपक्रम्य 'पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् । सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानदण्डेन, ४-२०

सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु वसत्यपि । सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः (४ २३.)

इत्यनेन विवरणपूर्वकं सर्पिस्स्थानापन्नस्य वासुदेवत्वाभिधानात् 'अरणीषु चाग्नि'रित्युक्तार्थस्याहिर्बुध्न्यसंहितायां

> यथा च वह्निनाऽविष्टमिन्धनं तन्मयं भवेत् । एवमाच्छादितं तेन विश्वं तन्मयमेव तत् ।

वासुशब्दार्थ उद्दिष्टः, ५२ अ. ६४-६५ इति वासुदेवशब्दघटकवासुशब्दतात्पर्यविषयत्वाभिधानाच्य वासुदेवशब्दे 'विनापिप्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वालोपो वाच्यः', इति वार्तिकेन पूर्वपदलोपात् देवशब्देनैव वासुदेवशब्दार्थलाभसंभवाच्च । एवं च उपसंहारोक्तवासुदेव एव मध्ये 'उद्गीतमेतत्परमन्तु ब्रह्म, इति श्रुतौ परमं ब्रह्म विवक्षितम् । 'तिस्मंस्त्रय'मित्यत्र 'त्र्यंकुतरस्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा, इत्युपक्रमोक्तसृष्टिस्थितिलयकाराणाम् उपसंहारस्थप्रणवघटकाकारोकारमकारार्थतया विश्वतैजसप्राज्ञशब्दैर्माण्डूक्यनृसिंहतापनीयादिषु, सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धशब्दैश्च गोपालतापनीयादिषु च व्यवहृतानां त्रयमेव विवक्षितम् । अतः पाञ्चरात्रिकवासुदेवश्चतुरात्मा श्वेताश्वतरश्रुतावुद्गीत इति व्यासाशयः । भारतवचने उद्गीतेत्यत्र गीतेत्यनेन गीताप्रतिपाद्योप्ययमेवेति सूचितम् । भारते वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयनिरूपणावसरे कृष्णस्य वासुदेवत्वोक्त्याऽप्ययमर्थो दृढीक्रियते । उद्गीतेत्यत्र उदित्यनेन 'यः पुनरेतन्त्रिमात्रेणौमित्यनेन परं पुरुषमभिध्यायीत, इति प्रश्नोपनिषदि परपुरुषो वासुदेव इति व्यञ्जितम् । संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां संहारस्थितिसृष्टिकारकत्वं चतुर्णामेकत्वं च महाभारते बहुत्र स्पष्टम् । एतच्छ्रत्युत्तरार्धार्थोऽपि नारायणाख्याने वक्ष्यते ॥

पाञ्चरात्रिकवासुदेवादीनां श्रौतत्वम् अ

सृष्ट्वा संकर्षणं देवं स्वयमात्मानमात्मना । कृष्ण त्वमात्मनास्नाक्षीः प्रद्युम्नं चाऽऽत्मसंभवम् ॥ ७० ॥ प्रद्युम्नादनिरुद्धं त्वं यं विदुर्विष्णुमव्ययम् । अनिरुद्धोऽसृजन्मां वै ब्रह्माणं लोकधारिणम् ॥ ७१ ॥

द्वापरे चतुरात्मावतारः अ

[[द्वापरे चतुरात्मवासुदेवस्याराध्यत्वे मूलरूपानुसारेण कृष्णाद्यवतारो बीजम्]]

1तस्माद्याचामि लोकेश चतुरात्मानमात्मना । विभज्य भागशोऽऽत्मानं व्रजमानुषतां विभो ॥ ७२ ॥

इत्यन्तेन ५२-७, सभापर्वोक्तार्थं विशदीचकार । वक्ष्यतिचाऽऽनुशासनिकेऽपि वासुदेवस्य चातुरात्म्यम् ॥

▼ दीधितिः

1 तस्मात् — मूलरूपस्य चतुर्विधत्वात् । अनेन द्वापरयुगे सात्त्वतविधिना वासुदेवस्यार्चनीयत्वे, मूलरूपानुसारेण द्वापरयुगे वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धात्मनाऽवतारो निदानमिति सूच्यते तदेभिः भीष्मपर्ववचनैः

> आज्ञापयित्वा सर्वज्ञो व्यजायत यदोः कुले । आत्मानमात्मना तात कृत्वा बहुविधं हरिः ॥

इति सभापर्वोक्तार्थं एव विस्तृतः । 'आत्मानमात्मना तात' 'स्वयमात्मानमात्मना' इति सभाभीष्मपर्वद्वयोक्तार्थं एवानुशासनिकेऽप्युक्तः । एतेन सङ्कर्षणादिमूर्तीनां वासुदेवसङ्कल्पातिरिक्तसङ्कल्पमूलकत्वं प्रतिक्षिप्तम् ॥

>विष्वक्सेनात्सर्वमेतत्प्रसूतम् । रुद्रादित्या वसवोथाऽश्विनौ च साध्याश्च विश्वे मरुताङ्गणाश्च । प्रजापतिर्देवमाताऽदितिश्च सर्वे कृष्णादृषयश्चैव सप्त ॥ २६१-३४

इत्युपक्रम्य -

सर्वं कृष्णात्स्थावरं जङ्गमञ्च विश्वात्मानं विष्णुमेनं प्रतीहि । विश्वावासं निर्गुणं वासुदेवं सङ्कर्षणं जीवभूतं वदन्ति ॥

चतुरात्मनः परत्वम् 🐠

ततः प्रद्युम्नमनिरुद्धं चतुर्थमाज्ञापयत्यात्मयोनिर्महात्मा ॥

इति;

ये मया भावितात्मानो मय्येवाभिरतास्सदा । उपासते च मामेव ज्योतिर्भूता निरामयाः ॥ ४३-२०. मद्भक्तास्सततं ते वै भक्तांस्तानपि चाप्यहम् । चतुर्धाहं विभक्तात्मा चरामि जगतो हितम् ॥ एका मूर्तिर्निर्गुणाख्या योगं परममास्थिता । द्वितीया सृजते तात भूतग्रामं चराचरम् ॥ सृष्टं संहरते चैका जगत् स्थावरजङ्गमम् । चतुर्थी मे महामूर्तिः जगदृद्धिं ददाति सा ॥ रक्षते चापि निरता सोऽहमस्मि नभश्चरः । सर्वतो मुक्तसङ्गेन मय्यनन्यसमाधिना ॥ शक्यस्समासादयितुमहं वै ज्ञानचक्षुषा । मया चाऽपि चतुर्थात्मा विभक्तः प्राणिषु स्थितः ॥ 1 आत्मभूतो वासुदेवो ह्यनिरुद्धो मतौ स्थितः ॥ ३३.

▼ दीधितिः

1 अत्र 'एका मूर्तिर्निर्गुणाख्या' इत्युपक्रम्य अनिरुद्धसङ्कर्षणप्रद्युम्नानां सृष्टिरक्षणसंहारहेतुत्वमभिधाय 'आत्मभूतो वासुदेव' इत्युक्त्या 'निर्गुणं वासुदेवम्' इति पूर्वोदाहृतवचनेन च 'एको देवः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' ६ - ११ इति श्वेताश्वतरश्रुतौ सृष्टिस्थितिलयप्रयोजकसत्त्वरजस्तमोगुणत्रयाधिष्ठानशून्यः वासुदेवः प्रतिपाद्य इति बोधितम् ॥

विष्णूत्पत्तेरकर्मनिबन्धनता उपमन्यूपवाख्यानविचारश्च@

संकर्षणोऽहंकारे च प्रद्युम्नो मनसि स्थितः । 1 अन्यथा च चतुर्धा यत् सम्यक्त्वं श्रोतुमर्हसि ॥ ३४ ॥

▼ दीधितिः

1 अन्यथा चेत्यादिनाऽकर्मवश्यसङ्कर्षणादिवैलक्षण्यं ब्रह्मरुद्रादिमूर्तीनां बोधितम् ॥

यत्तत्पद्ममभूत्पूर्वं तत्र ब्रह्मा व्यजायत । ब्रह्मणश्चाऽपि सम्भूतः शिव इत्यवधार्यताम् ॥ ३५ ॥ शिवात्स्कन्धः संबभूव एतत्सृष्टिचतुष्टयम् । मम यत्परमं गुह्यं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ॥ तदेवं परमो गुह्यो देवो नारायणो हरिः । 2न तच्छक्यं भुजङ्गारे! वेत्तुमभ्युदयान्वितैः ॥ ६६ ॥

▼ दीधितिः

2 नारायणस्य सर्वस्मात्परत्वं तद्भक्तिविधुरा न ज्ञातुं शक्नुवन्तीत्याह । न तच्छक्यमित । अत्र वासुदेवनारायणविष्णुशब्दत्रयेण नारायणाय विद्महे विष्णुः प्रचोदयात्, इति श्रुतिविर्वृता । एवमत्र अन्यथा चे'त्यादिना ब्रह्मरुद्राद्युत्पत्तेः पृथगुक्त्या विष्णोरुत्पत्तिमनभिधाय ध्येयत्वोक्त्या पूर्वं 'सर्वं कृष्णात्स्थावरजङ्गमं च विश्वात्मानं विष्णुमेनं प्रतीहि' इत्युक्त्या च 'ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते' इत्यथर्वशिरस्युक्ता विष्णूत्पत्तिः न कर्मनिबन्धना किन्तु स्वसंकल्पमात्रनिबन्धनेत्यपि सिध्यति । एतदुत्तरम् उपमन्यूपाख्यानमधिकृत्य परमतभङ्गे आचार्यपादैः

सहस्रग्रन्थसम्मितातिवितताध्यायमुपमन्यूपाख्यानमनाप्तमिति केचिद्वदन्ति । आप्तत्वेऽपि तामसाधिकारिणामुपयुक्ततामसधर्मविशेषपरत्वात्सात्त्विकानामनुपादेयम् इत्युक्तम् । अत्र अर्जुनमिश्रादिभिरव्याख्यातत्वादान्ध्रभाषायां प्राचीनपरिवर्तनाभावाच्च महाभारते बहुषु प्रदेशेषु उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गैर्नारायणस्य परत्वसमर्थनाच्चोपमन्यूपाख्यानस्य प्रक्षिप्तत्वं वेदान्तकौस्तुभे स्थापितम् । द्वितीयः पक्षो (या. रा. स्वा.) लक्षाभरणे महाभारतव्याख्याने साधितः इत्यवसेयम् ॥

ध्यायन्तो मनसा विष्णुं गच्छन्ति परमां गतिम् ॥

डति च ॥ ४४ - ११

अर्चनम् 🐠

अर्चनीयता®

[[वासुदवेस्य कृतलक्षणैस् सर्व-र्वणैर् अर्चनीयता]]

भीष्मपर्वणि अनन्तराध्याये -

वासुदेवोऽर्चनीयो 1वस्सर्वलोकमहेश्वरः । यत्तत्पुरुषसंज्ञं वै गीयते ज्ञायते न च ॥

▼ दीधितिः

1 अनेन 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' इत्यादिश्वेताश्वतरादिश्रुत्यर्थ उक्तः ॥

एवं विदित्वा तत्त्वार्थं लोकानामीश्वरेश्वरः । वासुदेवो नमस्कार्यस्सर्वलोकैस्सुरोत्तमाः ॥ यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतोधर्मस्ततो जयः । स एष शाश्वतो देवस्सर्वगुह्यमयश्शिवः ॥ 2 वासुदेव इति ज्ञेयो यन्मां पृच्छसि भारत । ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैश्शूद्रैश्च उकृतलक्षणैः ॥

▼ दीधितिः

2 ब्रह्मबिन्दूपनिषदि 'स्वरेण सन्धयेद्योगं' ४. ७. 'अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमं शिवम्' ४.९ इत्युपक्रान्तस्यार्थस्य 'सर्वानुग्राहकत्वेनं तदस्म्यहं वासुदेवस्तदस्म्यहं वासुदेवः' ४.२३. इत्युपसंहारात् 'शाश्वतं शिवमच्युतम्' इति नारायणानुवाके श्रवणाच्चेति भावः । एतेन 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः, इति माण्डूक्यश्रुत्यादिषु शिवशब्दो मङ्गळार्थकः वासुदेव पर इति बोधितम् ॥

विष्ण्व्-अर्चनस्य नित्यता®

[[विष्ण्वर्चनाकरणे दोषात् विष्ण्वर्चनस्य नित्यता]]

1 अर्चनीयश्च सेव्यश्च नित्ययुक्तैस्स्वकर्मसु ।

▼ दीधितिः

1 अर्चनाकरणे दोषस्सभापर्वणि (६२. अ. ९. ७. पत्रे) उक्तः ॥ हेमाद्रिणाऽपि चतुर्वर्गचिन्तमणौ परिशेषखण्डे विष्णुपूजायास्सन्ध्यावन्नित्यत्वम् अकरणे प्रत्यवायश्चेति स्फुटं प्रमाणतस्साधितम् । तथाहि - "अथ विष्णुपूजाकालः । तत्र विष्णुधर्मोत्तरे" -

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं पूजयेद्धरिम् । अपूज्य भोजनं कुर्वन् नरकाणि व्रजेन्नरः ॥

नारदीये -

प्रातर्मध्यन्दिने सायं विष्णुपूजां समारभेत् । यथा सन्ध्या तथानित्या देवपूजा स्मृता बुधैः ॥ अशक्तो विस्तरेणैव प्रातः सम्पूज्य केशवम् । मध्याह्ने चैव सायञ्च पुष्पाञ्जलिमपि क्षिपेत् ॥ मध्याह्ने वा विस्तरेण संक्षेपेणाथवा हरिम् । सम्पूज्य भोजनं कुर्यादन्यथा नरकं व्रजेत् ॥ निमित्तेषु च सर्वेषु तत्काले च विशेषतः । पूजयेद्देवदेवेशं द्रव्यं सम्पाद्य यत्नतः ॥

इति अत्र हरिशब्दस्य 'ब्रह्माणम्' इत्याद्युक्तदिशा ब्रह्मरुद्रादिसंहारकारक इति केशवशब्दस्य 'क इति ब्रह्मणो नाम, इत्याद्यनुसारेण ब्रह्मरुद्रस्रष्टा इति चार्थ एवं (वै.ना.दी आ. कां) पुराणे -

विष्णुपूजाविहीनस्य दत्तं चेष्टं हुतं श्रुतम् । तपश्च व्यर्थतां यान्ति प्रेतालङ्कारवद्द्विजे ॥ मातृवत्परिरक्षन्तं सृष्टिसंहारकारकम् । यो नार्च्चयति वै विष्णुं सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥

कूर्मपुराणे -

एकाहमिप न स्थेयं विना केशवपूजनम् । भुङ्क्ते स याति नरकं सूकरेष्विप जायते ॥ अनर्चियत्वा गोविन्दं यैर्भुक्तं धर्मवर्जितैः । शुनो विष्ठा समं चान्नं नीरं च सुरया समम् ॥

स्कान्दे -

केशवार्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते । तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्षणसमं स्मृतम् ॥ (वी. मि. पू.प्र.) ब्रह्मचारी गृहस्थोऽपि वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । केशवाराधनं हित्वा नैव याति परां गतिम् ॥ १८६ ॥ १७ भा. आनुष.

इत्यादिवचनेष्वपि विष्णुपूजाया अकरणे प्रत्यवायस्स्फुटः देवतान्तरपूजनाकरणे प्रत्यवायबोधकानि सर्वसम्मतान्यकल्पितानि वचनानि नोपलभ्यन्ते । अतो देवतान्तरपूजनं काम्यम् इति वृद्धाः अत एव ॥ (कू. पु. व्या. स्मृ.)

न विष्ण्वाराधनात्पुण्यं विद्यते कर्मवैदिकम् । तस्मादनादिमध्यान्तं नित्यमाराधयेद्धरिम् ॥

इत्यादिवचनेषु उत्पत्तिलयशून्यस्य ब्रह्मरुद्रादिसंहर्तुर्विष्णोराराधनस्य नित्यकर्तव्यत्वं तत्तदुपकरणमन्त्रप्रशंसनं एतद्विशेषमन्तरारुद्राराधनस्य कर्तव्यतामात्रं प्रतिपादितं संगच्छते । अत्र

शौनकोहं प्रवक्ष्यामि नित्यं विष्णवर्चनं परम् । प्रवः पान्थमन्धसो धियेत्यर्धर्चस्य विधानतः

इति व्यासस्मृत्युपात्ता ऋग्वेदश्रुतिर्मूलम् । एवं मैत्रायणीयश्रुतिरपीत्युत्तरत्र निरूपयिष्यते ।

पञ्चरात्रोक्तविधिनाऽर्चनम्®

[[पञ्चरात्रोक्तविधिना अर्चनस्य कर्तव्यता]]

1 सात्वतं विधिमास्थाय गीतस्संङ्कर्षणे नयः ॥

▼ दीधितिः

1 **सात्वतं विधिमि**ति । सात्त्वतशब्दश्च भगवित तच्छास्त्रे तत्प्रतिपाद्यधर्मे तदनुष्ठातृभगवद्भक्तपुरुषेषु इति चतुर्ष्वर्थेषु प्रयुज्यते । तत्र उद्योगपर्वणि ६९-७. शान्तिपर्वणि नारायणाख्याने च ३५२ - १३.

सात्त्वतशब्दार्थः

सात्त्वतशब्दो भगवति निरुक्तः

- 'तन्त्रं सात्त्वतमाचष्ट १ भाग'
- 'सात्त्वतोक्तेन विधिना ११६ १. वि-धर्मो'

इत्यत्र तत्-प्रतिपादक-शास्त्रे,

'धर्मं च मत्तो गृह्णीष्व सात्त्वतं, शान्ति ३५८-२९'

इत्यादौ तत्प्रतिपाद्य,

धर्मे

- 'एवमेष महान्धर्मः सात्त्वतैर्धार्यते सदा ५५'
- 'वासुदेवश्च सात्त्वतैः वि. पु'

इत्यत्र तदनुष्ठातृपुरुषेषु प्रयुक्तः । सात्त्वतमित्यत्र सत्वतः अयं सात्वतः तं सात्वतम् इति शब्दव्युत्पत्तिः । सत्वान् भगवान् इत्यर्थः अतः सात्वतभागवतशब्दयोरैकरूप्यमित्यागमप्रामाण्ये यामुनमुनयः प्राहुः । ज्ञानादिगुणवान् भगवच्-छब्दार्थः ।

पारमार्थिक(ज्ञानादिगुण)वान् स त्वच्-छब्दार्थ इति विशेषः । एतेन गुणानामविद्याकल्पितत्वं नास्तीति बोधितम् ॥

'तन्त्रं सात्वतमाचष्ट' इति भागवतं वैष्णवं पञ्चरात्रागममिति व्याकुर्वतः श्रीधराचार्यस्यापि सत्वान् विष्णुरिति विवक्षितमिति प्रतीयते ॥

एवं च भगवद्व्यतिरिक्तेष्वप्यर्थेषु सम्बन्धभेदेऽपि प्रकृत्यर्थ एकरूप एवेति यामुनमुनीनामाशयः । सात्वतं विधिमित्यत्र विधिः प्रयोगविधिर्विवक्षितः । पञ्चरात्रस्य कल्पसूत्रवत् श्रुतिविहितचक्राङ्कनभगवरा[[दारा??]]धनादेः प्रयोगविधित्वं (पं सं.) 'श्रुतिमूलिमदं तन्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत्', (न्या. प । प. म. भं) इत्यादिषु स्फुटम् ॥

पूर्णता

एतेन पञ्चरात्रेऽर्चनस्य पूर्ण उपदेश इति तस्यैव सर्वोपादेयत्वं बोधितम् ॥

बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य कर्म प्रकीर्तितम् । तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वं कृतं भवेत् ॥ इति कात्यायनवचनन्तु सर्वाङ्गोपसंहाराभावेऽनुकल्पविधानार्थमित्युक्तं शाखान्तराधिकरणकौस्तुभे खण्डदेवेनेति न तद्विरोधः ।

अभिगमनादिकालपञ्चकम्

आश्वलायनश्च 'तद्येके च न छान्दोग्ये वाऽऽध्वर्यं वे[[??]]वाहौत्रामर्शास्समाम्नाता न तान् कुर्यादकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्य २८-१३-३२, इति सूत्रे सामवेदे यजुर्वेदे ये होत्राभासास्तेन कार्याः पूर्णप्रयोगविरहादिति व्यवस्थापयति । एतन्न्यायेन यत्र पञ्चरात्रे प्रयोगपूर्तिस्तदुक्तरीत्यैव शक्तैर्भगवदाराधनं कार्यम् । अन्यथा प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते । न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्, ११.३, इति मनूक्तदोषानतिवृत्तेरिति समर्थितं पाञ्चरात्ररक्षायाम् ॥

नारायणाख्याने श्वेतद्वीपनिवासिनाम् उपरिचरवसोश्च वृत्तान्तयोः पञ्चकालविभागेनार्चनं आश्वमेधिके च अर्चने मूर्तिमन्त्रविशेषादिकं च स्पष्टम् ॥

विष्णुधर्मोत्तरे च (१.खं. ६१. अ.) शङ्करगीतायां संहितोक्तअच्छिद्रपञ्चकालज्ञस्य अखण्डकारित्वमभिधाय

रामाभिगमनं पूर्वमुपादानमतः परम् । इज्या स्वाध्यायकालौ च योगकालस्तथैव च ॥ ६. श्लो

तेषां प्रत्येकशो वक्ष्ये वीधिं[[??]] ते भृगुनन्दन । ७.

इत्युपक्रम्य संहितोक्तबलमन्त्रमुक्त्वा -

भगवान्वासुदेवस्तु देवस्सङ्कर्षणस्ततः । प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च प्रभावोऽयमुदाहृतः ॥ ६३. अ. ३४.

चत्वार एते धर्मज्ञ वासुदेवाः प्रकीर्तिताः । भगवच्छब्दवाच्याश्च सर्वभूतभवोद्भवाः ॥ ३७ श्लो.

तदेतत्पठ्यते सूक्ते पौरुषे द्विजसत्तम । पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ४० श्लो.

इत्यन्तेन वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयस्य वैकुण्ठसंहितोक्तदिशा पुरुषसूक्तप्रतिपाद्यत्वमप्यभिधाय पञ्चकालविधिर्निरूपितः ॥

श्रीभागवते एकादशे उद्धवगीतायां (२७ अ.) —

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो । यस्माद्ये त्वां यथार्चन्ति सात्त्वतास्सात्त्वतर्षभ ॥ १ ॥ एतद्वदन्ति मुनयो मुहुर्निश्रेयसं नृणाम् । नारदो भगवान्व्यास आचार्योऽङ्गिरसस्सृतः ॥ २ ॥

एतद्वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम् । श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च नारद ॥ ४ ॥

इति उद्धवप्रश्नस्य -

यथास्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः । यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध में ॥ ८ ॥ उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्याम्मह्यं तूभयसिद्धये ॥ २४ ॥ अर्चादिषु यथा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ॥ ४६ ॥ एवं क्रियायोगपथैः पुमान्वैदिकतान्त्रिकैः । अर्चन्नुभयतस्सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥ ४७ ॥

इत्यन्तप्रतिवचने वैदिकतान्त्रिकमिश्र पूजानिरूपणेन पञ्चरात्रस्य वेदाविरोधः । तदुक्तार्चनस्य सर्ववर्णाधिकारिकत्वं विशिष्य द्विजाधिकारिकत्वं द्वादशे ११ अ. वेदतन्त्राभ्याम् अर्चनीयस्य वासुदेवस्य विग्रहादिविशेषः चातुरात्म्यं विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयरूपत्वं च स्पष्टमुक्तम् ॥

श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वे शङ्कराचार्यस्य भास्करस्य चोक्तिः॥

एवं

यदप्यस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततया अभिप्रेयते तदपि न प्रतिषिध्यते । श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्

इति (२ अ. २ पा. ४२ सू.) शङ्करसूत्रभाष्ये

क्रियायोगश्च तत्प्राप्त्युपायस्तत्रोपदिश्यते अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैः भगवन्तं वासुदेवमाराध्य तमेव प्रतिपद्यत इति तदेतत्सर्वं श्रुतिप्रसिद्धमेव । यदत्र देवार्चनध्यानसमाधिलक्षणं कर्मज्ञानं चोपदिश्यते तत्सर्वं प्रमाणीक्रियते

इति भास्करभाष्ये च पाञ्चकालिकार्चनस्य श्रुतिसिद्धत्वं स्फुटमुक्तम् ॥

1 द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।

इत्यनेन पञ्चरात्रोक्तविधिना वासुदवोऽर्चनीय इत्यवादीत् ॥

▼ दीधितिः

1 द्वापरस्येत्यादि यस्मिश्चकाले वासुदेवस्य चतुरात्मनोऽवतारः पुरुषाणां ज्ञानशक्तिमान्द्यं पर्यालोच्य व्यासेन वेदविभागकरणं च तस्मिन् 'ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्'

अधिकार:७

▼ दीधितिः - अधिकारः

कलौ विष्ण्वर्चनाधिकारिदौर्लभ्यम्

एवं

कृते नारायणः शुद्धः सूक्ष्मरूप उपास्यते । त्रेतायां यज्ञरूपेण पञ्चरात्रैस्तु द्वापरे (वरा. ७०. अ. २४.)

इति हेमाद्र्युदाहृतवचनेऽप्ययमर्थोऽवसेयः । एतदुत्तरं

कलौ मत्कृतमार्गेण बहुरूपेण तामसैः । इज्यते द्वेषबुद्ध्या सः परमात्मा जनार्दनः । २५.

इत्यारभ्य

युगेषु त्रिषु भूयांसो मामुपैष्यन्ति मानवाः । अन्त्ये युगे प्रविरला भविष्यन्ति मदाश्रयाः । एष मोहं सृजाम्याशु योजनं मोहयिष्यति । ३५ त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय । दर्शयित्वाल्पमायासं फलं शीघ्रं प्रदर्शय । ३६ आ. प्रा. कुहकं चेन्द्रजालादि विरुद्धा चरणानि च । दर्शयित्वा जनं सर्वं मोहयाशु महेश्वर, ।

३७ आ. प्रा. इत्यन्तसन्दर्भे कलौ भगवद्भक्तबाहुल्याभाव उक्तः एवं तत्रैव पूर्वं श्वेतद्वीपे भगवन्नारदसंवादेऽपि ।

> पौरुषं सूक्तमास्थाय ये यजन्ति, द्विजास्तु माम् । संहिता जपमास्थाय ते मां प्राप्स्यन्ति (मानवाः) ब्राह्मणाः । (वरा. ६६ अ. १० श्लो श्रु. प्र.) अलाभे वेदमन्त्राणां पञ्चरात्रोदिते निह । मार्गेण मां प्रपद्यन्ते ते मां प्राप्स्यन्ति मानवाः । ११ ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्चरात्रं विधीयते । शूद्रादीनां नतच्-छ्रोत्र-पदवीमुपयास्यति । १२ एवं मयोक्तं विपेन्द्र पुराकल्पे पुरातनम् ।

पञ्चरात्रं सहस्राणां यदि कश्चिद्ग्रहिष्यति । १३ कर्मक्षये च मां कश्चिद्यदि भक्तो भविष्यति । तस्य वेदाः पञ्चरात्रं नित्यं हृदि वसिष्यति । १४ इतरे राजसैर्भावैस्तामसैश्च समावृताः । भविष्यन्ति द्विजश्रेष्ठ मच्छासनपराङ्मुखाः । १५ कृतं त्रेता द्वापरञ्च युगानि त्रीणि नारद । सत्त्वस्था मां समेष्यन्ति कलौ रजस्तमोऽधिकाः । १६ अन्यच्च ते वरं दिद्मे शृणु नारद साम्प्रतम् । यदिदं पञ्चरात्रं मे शास्त्रं परमदुर्लभम् । १७ तद्भवान्वेत्स्यते सर्वं मत्प्रसादान्न संशयः ।

वैदिक-तान्त्रिक-मिश्रभेदाः®

[[वैदिक-तान्त्रिक-मिश्रभेदेन त्रिविधमर्चनम्]]

वक्ष्यति चाऽश्वमेधिकेऽपि -

शृणु पाण्डव तत्सर्वमर्चनाक्रममात्मनः । स्थण्डिले पद्मकं कृत्वाचाष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥ १०५. ८४ अष्टाक्षरविधानेन ह्यथवा द्वादशाक्षरैः । वैदिकैरथमन्त्रैश्च मम सूक्तेन वा पुनः ॥ ८५. स्थापितं मां ततस्तस्मिन्नर्चयीत विचक्षणः । पुरुषं च ततस्सत्यमच्युतं च युधिष्ठिर । ८६.

▼ दीधितिः

> वेदेन पञ्चरात्रेण भक्त्या यज्ञेन च द्विज । प्राप्योहं नान्यथा प्राप्यो वर्षलक्षैरपि द्विज । १८ (वरा. ६६.)

इति अत्र वैदिक १० तान्त्रिक ११ मिश्र १८ अर्चनत्रयं प्रतिपादितम् । यथोक्तं पाञ्चरात्ररक्षायाम् 'अलाभे वेदमन्त्राणां पञ्चरात्रोदितेन वा', इति स्मृतिरिप प्रणवाष्टाक्षरद्वादशाक्षरादिमन्त्राणामाधर्वणरहस्याम्नायाद्यधीततया वेदमन्त्रशब्देन सङ्ग्रहात् 'पञ्चरात्रोदितेन वा इत्ययमंशः तान्त्रिकसंज्ञितप्रत्यक्षेतरश्रुतिमूलमन्त्रान्तरविषयतया योज्यः' इति — उदाहृतवचनेषु आद्यन्तयोः वैदिकमिश्रार्चने विवक्षिते इत्याचार्यपादानामाशयः । युक्तं चैतत् ।

ब्राह्मण-श्रेष्ठस्याधिकारः®

[[पञ्चरात्रोक्तार्चने ब्राह्मण-श्रेष्ठस्याधिकारः अवैदिकमात्राधिकारनिरासः]]

▼ दीधितिः

बृहन्नारदीये अष्टाक्षरादेः

प्रणवं चापैनिषदं द्वादशाक्षरमेव च । अष्टाक्षरमहावाक्यमित्यादीनि च यो जपेत् । स्वाध्यायश्च समाख्यातो योगसाधनमुत्तमम् ।

इत्यत्र स्वाध्यायत्वयोगसाधनत्वयोः अश्वमेधिके च (१०४ अ. ८५) अर्चनकरणत्वस्य व्यक्तमुक्तेः अनुशासनिके (१८६) इतिहाससमुच्चये (३२) च पुण्डरीकनारदसंवादे ब्राह्मणश्रेष्ठस्य पुण्डरीकस्य अष्टाक्षरनिष्ठत्वस्य पाद्मे च तत्रैव

वैदिकैस्तान्त्रिकैश्चैव तथा पौराणिकैरपि । आराधयति सर्वेशं ततस्सिद्धिमवाप सः (६. ८१. ४३.)

इत्यादिना अष्टाक्षरादिवैदिकतान्त्रिकोभयनिष्ठत्वस्य प्रतिपादनात् । अत्राऽपि 'वेदेन पञ्चरात्रेण' इत्युपसंहारे द्विजस्य मिश्राधिकारित्वोक्तेः मध्ये पञ्चरात्राधिकारिणो दुर्लभत्वस्य 'यस्य हृदि वेदः पञ्चरात्रञ्च वसिष्यित तदितरेषां राजसतामसभावसमावृतत्वभगवच्छासनपराङ्मुखत्वयोश्च कथनात् । 'अलाभे वेदमन्त्राणा'मित्यत्र पञ्चरात्रोदितस्य अवैदिकमात्राधिकारिकत्वप्रतीतिनिरासाय 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्चरात्रं विधीयते' इत्यनन्तरमेव पञ्चरात्रस्य वैदिकाधिकारिकत्वस्य स्फुटमभिधानात् ।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचराः । इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्

इति वचनस्य भारतस्य वैदिकाधिकारिकत्वाऽबाधकतावदस्याऽपि तदबाधकत्वाच्च । शिवार्कमणिदीपिकायामस्मिन्वचने पञ्चरात्रस्यावैदिकाधिकारिकत्वोत्प्रेक्षणस्यानुचितत्वात् ।

द्विजव्यतिरिक्तस्य®

[[द्विजव्यतिरिक्तस्य वैदिकमिश्रार्चनयोरनधिकारः चतुर्वर्णदीक्षा च]]

▼ दीधितिः

शूद्रकमलाकरे तु अस्मिन्वचने 'शूद्रादीनाञ्चतच्छ्रोत्रपदवी'मिति पाठमभ्युपेत्य पाञ्चरात्रिकमन्त्रेषु शूद्रस्याधिकारस्स्मृतिकौमुद्यामुक्त इत्यभिहितं तत्रापि तान्त्रिकमन्त्र एव विवक्षितः न तु वैदिकाष्टाक्षरादिः तत्र शूद्रस्यानधिकारस्य पञ्चरात्र एव स्फुटत्वात्

वैदिकोमिश्रितो वापि विप्रादीनां विधीयते । तान्त्रिको विप्रभक्तस्य शूद्रस्यापि प्रकीर्तितः

इति देवपूजाप्रकरणे शूद्रकमलाकरोदाहृतपाद्मवचनाच्च ॥ वस्तुतस्तु 'शूद्रादीनां न तच्छ्रोत्रपदवी'मिति (आ. प्रा.) (श्रु. प्र.) पाठ एवोचितः प्राचीनलिखितकोशेषु बहुषूपलम्भात्

> मोक्षचिन्तामतिक्रम्य योऽन्यचिन्तापरिश्रमः । हरिसेवाविहीनोयस्स पशुर्योनितः पशुः । निगमागमतन्त्राणि नाध्यापयति यो द्विजः । न शृणोति च पापात्मा स दुष्ट इति चोच्यते (५. ५६)

इति भविष्ये मध्यमपर्वणि द्विजस्यैव पञ्चरात्रश्रवणव्यतिरेके दोषकथनाच्च । शूद्रकमलाकरेऽपि 'अन्यैस्तु न तच्छ्रोत्रेति पाठो लिखितः' इत्यारभ्य वाराहवचनैः चातुर्वण्यदीक्षां प्रसाध्य 'एवं यन्त्रविशेषवचनं तत्रैवशूद्रस्याधिकार' इत्युक्तम् । अत्रान्यैस्त्वित बहुवचनेन 'न तच्छ्रोत्रे'तिपाठो बहुजनसम्मत इति यत्र विशेषवचनमित्यनेन 'अलाभे वेदमन्त्राणां पञ्चरात्रोदितेन हि' इत्यादिवचनैः तान्त्रिकमन्त्रदीक्षादौ शूद्रस्याधिकारः न तु पञ्चरात्रश्रवणे निषेधादिति च बोधितम् ।

चातुर्वर्ण्यदीक्षा॥

अत एव शान्तिपर्वणि

अवश्यं वैष्णवो दीक्षां प्रविशेत्सर्वयत्नतः । दीक्षिताय विशेषेण प्रसीदेन्नान्यथा हरिः । वसन्ते दीक्षयेद्विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च । शरदस्समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च । स्त्रियं च वर्षाकाले तु पञ्चरात्रविधानतः, (आ. प्रा.)

इति चातुर्वर्ण्यदीक्षोक्तिस्संगच्छते ॥

आगमोक्तैर्वेदमन्त्रैः प्रतिष्ठाप्य विशेषतः । पश्चाद्वा अर्चनं कार्यं यथाशास्त्रानुसारतः ।

६. ८३. अ. २५. इति पाद्मे 'वैष्णवैर्द्विजसत्तमैरित्यादिना वैष्णवद्विजसत्तमसामान्यस्य प्रतिष्ठाऽर्चनादिविधिमुक्त्वा अन्ते

> श्रौतस्मार्तागमोक्तानामर्चनं विधिना द्विजः । कुर्याद्भक्त्या यथार्हं च विष्णोः प्रयतमानसः ॥ ६. २८०. ५४.

वैखानसार्चनम्®

▼ दीधितिः - वैखानसार्चनम्

यथोपदिष्टं गुरुणा तथा कुर्वीत वैष्णवः । श्रौतं वैखानसं प्रोक्तं वासिष्ठं स्मार्तमुच्यते । ५५ पञ्चरात्रविधानं यद्दिव्यागम इतीरितम् । क्रियालोपो न कर्तव्यः विष्णोराराधनं परम् । ५६.

इत्युक्तौ द्विजस्य श्रौतविकल्पेन आगमोक्तार्चनप्रतिपादनमात्रेण श्रौताऽनधिकारिणश्शूद्रस्य तान्त्रिकमन्त्रेणाऽर्चनस्य न कापि क्षतिः । एवमत्रोपसंहारेऽपि क्रियालोपो न कर्तव्य, इत्यनेन पञ्चरात्रोक्तं पूर्णमर्चनं शक्तैस्सर्वैः कार्यमिति निर्णयेन वैखानसैश्श्रौतं तदन्यैरशक्तैस्स्मार्तं कार्यमिति उपक्रमे यथार्हमित्यत्र विवक्षितमिति प्रतीयते ॥

अवैखानसैः शक्तैः पञ्चरात्रोक्तपूर्णार्चनम्®

अनिरुद्धं च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः । अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन्पाञ्चरात्रिकाः ॥ ८७ वासुदेवं च राजेन्द्र सङ्कर्षणमथाऽपि वा । प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च चतुर्मूर्तिं प्रचक्षते ॥ ८८. एताश्चान्याश्च राजेन्द्र संज्ञाभेदेन मूर्तयः । विद्ध्यनर्थान्तरा एव मामेवं चार्चयेद्ध्धः ॥ ८९ ॥

इति ॥

(एतानि वचनानि पाञ्चरात्ररक्षायां पराशरमाधवीये चोदाहृतानि) एतेन वैखानसव्यतिरिक्तैः शक्तैः पाञ्चरात्रविधिना अर्चनं कार्यमिति भीष्मपर्ववचनार्थः पर्यवस्यति ।

भीष्मपर्वणि अनन्तरम् —

वासुदेवो महद्भूतं सर्वदैवतदैवतम् । न परं 1पुण्डरीकाक्षाद्दृश्यते भरतर्षभ ॥ २. ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ।

इत्यनेन उद्योगपर्वोक्तार्थं विशदीचकार ॥

▼ दीधिति:

> वैदिकन्तु जपं कुर्यात्पौराणं पाञ्चरात्रिकम् । यो वेदस्तानि चैतानि यान्येतानि च सा श्रुतिः ॥ पञ्चरात्रविधानेन स्थण्डिले वाऽथ पूजयेत् ।

इति वीरमित्रोदाहृतबृहत्पराशरवचनेऽपि पञ्चरात्रविधानेन पूजनं सर्ववर्णसाधारणम् इति विवक्षितम् । तत्र वैदिकमिश्रयोः द्विजस्य तान्त्रिके शूद्रविप्रभक्तयोरधिकार इत्येवभिदा[[??]] । 'सर्वे चागममार्गेण कुर्युर्वेदानुसारिणः' इति (वी-मि.) बोधायनवचनात् ॥

उपायोयं परप्राप्तौ परमः परिकीर्तितः । नारायणस्यानुध्यानमर्चनं यजनं स्तुतिः ॥ २५३. २ ॥

स्त्रीणां तान्त्रिक एवाधिकारः, 'ब्राह्मणैः' इति श्लोकार्थनिगमनम्

इत्युपक्रम्य

जपश्चतुर्विधः प्रोक्तो वैदिकस्तान्त्रिकोऽपि च । पौराणिकश्च विद्वद्भिः कथितः स्मार्त एव च ॥ ४ ॥

इति जपचातुर्विध्यमभिधाय -

इत्युक्ताऽष्टाक्षरध्यानजपादिश्रेयसंयुता । यमेनानुगृहीताभूत् पुण्यलोकनिवासिनी ॥ १० ॥

इत्युपसंहारे आश्वमेधिके विप्रकन्यायाः अष्टाक्षरजपाभिधानेऽपि स्त्रीणां वैदिकाष्टाक्षरमन्त्रजपस्य पञ्चरात्रेऽपि निषेधे तान्त्रिकाष्टाक्षरमन्त्रविषयं तदिति न विरोध इत्यन्यत्र व्यक्तम् ॥ स्मृतिपुराणयोरैक्यपृथग्भावविवक्षया त्रेधा चतुर्धा च विभाग उपपद्यते

यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप । नमस्ते वासुदेवाय नमस्सङ्कर्षणाय च । प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ ११-५-३९ ॥ इति द्वापर उर्वीशस्तुवन्ति जगदीश्वरम् । नानातन्त्रविधानेन कलाविप यथाशृणु ॥ ३१ कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः । क्वचित्क्वचिन्महाभागाद्रमिडेषु च भूरिशः ॥ ३८

इति हेमाद्रिपरिशेषखण्डाद्युदाहृतभागवतवचनैककण्ठ्यादिप 'अलाभे वेदमन्त्राणामि'त्यस्य यथोक्त एवार्थः । कल्पतरुशास्त्रदर्पणवाक्यैः पञ्चरात्रस्य व्यामोहनार्थतावचनानि पुराणेषु प्रक्षिप्तानीति 'प्राक्सूर्यमुखनिस्सृतम्' इत्येतद्विवरणावसरे निरूपयिष्यते । शूद्रस्याऽपि तान्त्रिकमन्त्रेणार्चनं वाराहभागवतपाद्मादिष्वप्युक्तम् । अतश्च 'ब्राह्मणैः क्षत्रियै'रित्यादिकं सुष्ठूक्तम् । पञ्चरात्रार्चनस्य सर्वाश्रमिभिरनुष्ठेयता नारायणाख्यानोपक्रमे वक्ष्यते ।

वाराहभागवतादौ अत्रापि प्रकरणान्तरे उक्तं कलौ भगवद्भक्तदौर्लभ्यं भावि समालोच्य 'आदौ कलियुगस्य चे'त्युक्तमिति दिक् ॥

▼ दीधिति:

1 अत्र पुण्डरीकाक्षशब्देन वासुदेवस्य दिव्यमङ्गळविग्रहयोग उक्तः ।

०६ शान्ति-पर्व®

एकायनशाखायां वाक इति निषत् इति नामभेदः अ

शान्तिपर्वणि च राजधर्मे – ७. अ. ३५. १२. अ. ८. ९. १०. ११. श्लो. 'त्यागेनैके' इति श्रुति-घटकस्य त्याग-शब्दस्य १३. ४. अष्टाक्षर-घटकस्य नमश्-शब्दस्य चार्थं निष्कृष्य -

> अनादि-निधनं विष्णुम् आत्म-योनिं सनातनम् । ४६-१५ वासुदेवम् अथा **ऽस्तुवत्** ।

इत्य् उपक्रम्य -

यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च । गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥ २८ ॥ चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्त्वस्थं सात्वताम्पतिम् । यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः ॥ २९ ॥

यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम् । इष्ट्वानन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ३२ ॥ यमेकं बहुधात्मानं प्रादुर्भूतमधोक्षजम् । 1 मान्यभक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम् ॥ ३५ ॥

▼ दीधितिः

1 अन्यभक्ताः मा यजन्ते इत्यन्वयः । एतेन पूर्वश्लोके अनन्य इत्यस्य अन्यभक्तिशून्य इत्यर्थः । अनन्या च भक्त्या च इति हि वक्ष्यते ॥

इत्यनेन एकायनशाखाघटकस्य अनुवाकस्थानापन्नस्य भागस्य वाकेतिनाम उपनिषत्स्थानापन्नस्य भागस्य निषादीतिनाम पञ्चरात्रप्रसिद्धं विर्दिश्य चतुरात्मन उभयतात्पर्यविषयत्वअनन्याराध्यत्वदेवतान्तरभक्त[[??]]नर्चनीयत्वाभिधानमुखेन भीष्मपर्वोक्तार्थं प्रकटीकृत्य 'नारायणपरम्ब्रह्मे' १२८.त्यादिना नारायणानुवाकोक्तम् परतत्वान्निरणैषीत् ॥

०७ मोक्ष-धर्मः ③

नारायण-तत्त्वम् 🏵

मोक्षधर्मे च

वासुदेवेति विख्यातः तं विदित्वा **ऽश्रुते** ऽमृतम्। १०४. १२.

इत्य् अत्र वासुदेव-ज्ञानस्य मोक्ष-साधनत्वम् -

नारायणं हृषीकेशं गोविन्दम् अपराजितम्। तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ! श्रोतुम् इच्छामि केशव॥ २०६॥ २.

इति युधिष्ठिर-प्रश्नस्य भीष्म-प्रतिवचनेषु -

[[संकर्षणादित्रयं ततो ब्रह्मादित्रयम्]]

ईदृशो ऽसौ हृषीकेशो वासुदेवः परात्परः। केशवो भरतश्रेष्ठ भगवान् ईश्वरः प्रभुः॥ ५ ॥ सो ऽग्रजं सर्व-भूतानां सङ्कर्षणम् अचिन्तयत्। प्रद्युम्नम् असृजत् तस्मात् सर्व-तेजः-प्रकाशकम्। अनिरुद्धस् ततो जज्ञे सर्व-शक्तिर् महा-द्युतिः॥ तस्मात् संजज्ञिरे देवाः ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः। सृष्टि-स्थित्य्-अन्त-कर्माणस् त्रयस् ते सुमहौजसः॥ १४ ॥ मधुसूदनम् इत्य् आहुः ऋषभं सर्व-सात्वताम्।

इत्य् अन्तेन व्यूह-सृष्टिं ब्रह्मादि-सृष्टिं मधुसूदन-संक्षिप्त-चरित्रं चाभिधाय

तदेव कृष्णो दाशार्हश् श्रीमान् श्रीवत्सलक्षणः । न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः ॥ ६० ॥

प्राप्तिः @

वासुदेवस्यान्यभक्तानर्च्यत्वम्®

य एनं प्रति वर्तन्ते वेदान्तानि च सर्वशः । भक्तिहीनाः न ते यान्ति नित्यमेनं कथञ्चन ॥ ६३ ॥

इत्यनेन वासुदेवस्य भक्तिविधुरैर्वेदान्तैरप्यलभ्यत्वम् ।

अन्तकाले द्वादशाक्षरचिन्तनम्®

किं नु स्मरन् कुरु-श्रेष्ठ मरणे समुपस्थिते । प्राप्नुयात्परमां सिद्धिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २१०. २.

इति युधिष्ठिरप्रश्नस्य नारायणनारदसंवादरूपभीष्मप्रतिवचनेषु नारायणोक्तौ मोक्षोपायप्रपत्तिकरणभूतवासुदेवद्वादशाक्षरमन्त्रस्यान्तकालेऽनुस्मरणीयत्वम् ॥ १०.११.

> चतुर्मूर्ते परं धाम लक्ष्म्यावासपरार्चित । सर्वावास नमस्तेस्तु वासुदेव प्रधानकृत् ॥ २९ ॥ चिन्तयन्तो हि यं नित्यं ब्रह्मेशानादयः प्रभुम् । निश्चयं नाधिगच्छन्ति तमस्मि शरणं गतः ॥ ३३ ॥ कामक्रोधविनिर्मुक्ताः रागद्वेषविवर्जिताः । मान्यभक्ता विजानन्ति न पुनर्भवका द्विजाः ॥ ४४ ॥ एकान्तिनो हि निर्द्वन्द्वाः निराशीः कर्मकारिणः । जानाग्निदग्धकर्माणः त्वां विशन्ति विचिन्तकाः ॥ ४५ ॥ अशरीरं शरीरस्थं समं सर्वेषु देहिषु । पुण्यपापविनिर्मुक्ताः भक्तास्त्वां1 प्रविशन्त्युत ॥ ४६ ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र प्रवेशप्राप्तिः पूर्वोत्तरवचनानुसारात् ।

इति नारदोक्तौ चतुर्मूर्तेः वासुदेवस्य ब्रह्मेशानादिभिश्चिन्तनीयस्य शरणागत्युद्देश्यत्वम् अनन्यभक्तज्ञेयत्वम् एकान्तिभक्तप्राप्यत्वम्,

अष्टाक्षरजापि-प्राप्यता®

श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं दिव्यं नारायणेरितम् । अत्यन्तभक्तिमान्देवे एकान्तित्वमुपेयिवान् ॥ ८४ ॥ नारायणमृषिं देवं दशवर्षाण्यनन्यभाक् । इदं जपन्वै प्राप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ८५ ॥ किन्तस्य बहुभिर्मन्त्रैः भक्तिर्यस्य जनार्दने । नमो नारायणायेति मन्त्रस्सर्वार्थसाधकः ॥ ८६ ॥

इति भीष्मोक्तौ अष्टाक्षरमन्त्रजापि भक्तप्राप्यत्वं च भीष्मेण युधिष्ठिरं प्रति गरुडेनात्मानं प्रत्युक्तं श्रीभगवन्महिमानुवादे -

अनेके मुनयस्सिद्धाः मानसोत्तरवासिनः । पप्रच्छुर्मां महाप्राज्ञाः वासुदेवपरायणाः ॥ २११. ११. पक्षीन्द्र वासुदेवस्य तत्त्वं वेत्सि परं पदम् ।

इति मुनिप्रश्नस्य गरुडप्रतिवचनोक्त्यनन्तरम् -

नान्यथा शक्यरूपोसौ ज्ञानगम्यः परः पुमान् । अनन्यया च भक्त्या च प्राप्तुं शक्यो महा हरिः ॥ तस्माद्राजेन्द्र सर्वात्मा वासुदेवः प्रधानकृत् । ज्ञानेन1 भक्त्या सुलभो नान्यथेति मतिर्मम ॥ ७१.

▼ दीधितिः

1 'भक्तास्त्वां प्रविशन्त्युत' 'भक्तिहीना न ते यान्ति' इति पूर्वम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राप्तेर्भक्तिसाध्यत्वं यदुक्तं तदनेन दृढीकृतम् — 'अनन्यया च भक्त्या च' इति समुच्चयेऽपि ज्ञानानन्तरं भक्त्युत्कीर्तनात् भक्तेरेव मोक्षप्राप्तौ साक्षात्साधनत्विमित प्रतीयते । तेन -

वासुदेवेति विख्यातस्तं विदित्वाऽश्रुतेऽमृतम् ।

इति पूर्वोदाहृतवचनेऽपि वेदनं भक्तिद्वारा मोक्षसाधनमिति वा भक्तिरूपमिति वा विवक्षितम् । इत्यत्र भक्तिप्राप्यत्वम् ।

भक्तेरेव भगवत्प्राप्तिसाधनता\$

श्वेतकेतुसुवर्चलोपाख्याने युधिष्ठिरं प्रति नारदोक्तौ -

भर्ता च तामनुप्रेक्ष्य नित्यनैमित्तिकान्वितः । परमात्मिन गोविन्दे वासुदेवे महात्मिन ॥ २२४ - १०३. समाधाय च कर्माणि तन्मयत्वेन भावितः । कालेन महता राजन्प्राप्नोति परमाङ्गतिम् ॥ १०४.

▼ दीधितिः

एवमुदाहरिष्यमाणवचनेष्वपि ध्यानं भक्तिरूपमेव मोक्षसाधनमिति च । तदनेन 'परात्परं पुरुषमुपैति' 'तरित शोकम् तरित पाप्मानम्', इति पर्वपरश्रुत्यर्थकथनेन 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवती'त्यत्र मध्यमश्रुतौ वेदनं भक्तिः भवत्यर्थेः[[??]] प्राप्तिः इति निर्णीतम् ॥

वस्तुतस्तु असौ ज्ञानगम्यः परः पुमान् महाहरिः अनन्यया च भक्त्या च प्राप्तुं शक्यः नान्यथा प्राप्तुं शक्यरूप इति योजनायाम् एकश्च शब्दः त्वर्थे अन्यश्चशब्द एवार्थे – अर्थद्वयोपपादकं परः महाहरिः इति पदद्वयम् । उत्कृष्टपुरुषप्राप्तिः

उत्कर्षानुसन्धानपूर्वकमहनीयविषयकप्रीत्यात्मकभक्तिशब्दवाच्यज्ञानात् न त्वतादृशात् ज्ञानात् दृष्टद्वारा भक्त्याऽपि न ज्ञानद्वारापरप्राप्तिः किन्तु परस्य 'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इति भगवन्निग्रहसङ्कल्पनिवृत्तिरूपसर्वपापहरण सङ्कल्पद्वारैवेत्याशयः । अयमर्थः -

पुरुषस्स परः पार्थं भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यान्तस्थानिभूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ ८. २२.

इति गीतावचने व्यक्तः । परत्वं च -

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रळयस्तथा । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ॥ ७.६.

इत्यत्र प्रकृतिजीवकारणत्वेन निरूपितम् ।

भक्तौ गुण-कृत-परत्व-ज्ञानं हेतुः॥

भक्तौ च एतादृशपरत्वज्ञानं हेतुरिति

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तस्सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ १०-८ ॥

इत्यत्र वक्ष्यति ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तस्स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥ १५-१५ ॥ क्षरस्सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादिप चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥ यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भुजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

इत्यत्र -

('ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इत्यत्रेव सर्वभूतशब्दस्य अचित्संसृष्टचेतनवाचितया कूटस्थशब्दस्य परिशुद्धात्मस्वरूपे स्वरसतया च) परमात्मनः पुरुषोत्तमस्य अवरात्मबद्धमुक्तपुरुषव्यापकधारकनियन्तृशेषिभावङ्गतस्य नित्यस्य तत एव बद्धमुक्तविलक्षणस्य धारकत्वादिधर्मज्ञानस्य सर्वभावेन भक्तिहेतुता प्रतिपादयिष्यते —

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ ९-१३ ॥

इत्यत्र दैवीं सात्त्विकीं प्रकृतिमाश्रिता एव प्रकृतिः जीवकारणभूतस्य नित्यस्य परमात्मनः ज्ञानेन भजन्तीत्यभिधास्यते ।

सात्त्विकानामेव पुरुषोत्तमे भक्तिः॥

[[भक्ति-??पर्वभिर् एव मुक्तिः]]

तदनेन जगत्कारणत्वधारकत्वनियन्तृत्वादिवैशिष्ट्यनित्यत्वतत्कृतावरजीवभेदादिरूपं परत्वं ये जानन्ति त एव सात्त्विकप्रकृतयः पुरुषोत्तमे भक्तिमारचयन्ति न तु परावरजीवे शै[[??]]क्यज्ञानिनः इति प्रतीयते । पूर्वोक्तज्ञानवत एव -

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥ ७ अ. १७ ॥

इत्यत्र उपायफलयोरैक्यज्ञानेन एकभक्तित्वम् ॥

.......ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवस्सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९

इत्यत्र 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' बृ. ६-३-३२. इत्युक्तदिशा वासुदेवस्य सर्वफलरूपत्वेनानुसन्धानपूर्वकं तमेव प्रपन्नस्य दुर्लभतमत्वञ्चोक्तम् — अतः 'पुरुषस्स परः पार्थे'ति श्लोके पूर्वोक्तपरत्वज्ञानपूर्वकानन्यप्रयोजनभक्त्यैव भगवत्प्राप्तिः । साऽपि 'स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात् सर्वान्पाप्मान औषत्' बृ. ३-४-१ इति श्रुत्युक्तदिशा सर्वपापदाहकत्वप्रवृत्तिनिमित्तकपुरुषशब्दपर्यालोचनया सर्वपापभ्यो मोक्षयिष्यामीति सङ्कल्पपूर्विकैवेति सिद्ध्यित ॥

शुद्धभावं गतोभक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम् । (उद्यो. प. ६८-५)

इत्यत्र भक्तेः ज्ञानहेतुत्वम् -

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ११ - ५४ गी.

इत्यत्र च भक्तेः ज्ञानदर्शनप्रवेशसाधनत्वं प्रतिपादितम् । तच्च भक्तिपर्वक्रमेण तदेतत्सर्वमनुगृहीतमाचार्यपादैस्तात्पर्यचन्द्रिकायां

> ज्ञानदर्शनप्राप्तिहेतुत्वे भक्तेः पर्वभेदान्नान्योन्याश्रयणादिदोषः । पूर्वजन्मसुकृतमूलसात्त्विकजनसंवादादिजनितं यथावच्छ्रवणानुगुणं किञ्चिदानुकूल्यरूपं भक्तिमात्रं शास्त्रजन्यज्ञानोत्पत्तौ सहकारी भवति । उत्कटदिदृक्षागर्भा तु परभक्तिस्साक्षात्कारहेतुः साक्षात्कृते तु परिपूर्णानुभवाभिनिवेशलक्षणा परमभक्तिः प्रवेशहेतुरिति ।

'भक्त्या माम् अभिजानाति'

[['भक्त्या मामभिजानाति' इतिगीतावचनादपि परमभक्त्यैव मुक्तिरिति निर्णयः]]

अत्र

'अनन्यया, इति पदं प्रागुक्तप्रक्रियया अनन्यप्रयोजनयेति भाव्यम्' इति —

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १८-५५

इत्येतद्वचनमप्येतत्पर्वभेदक्रमतात्पर्यकमेव अत्र भक्त्येति 'मद्भक्तिं लभते पराम्' इति पूर्वश्लोकोक्तपरभक्तिपरम् अभिजानातीत्यत्र अभीत्युपसर्गात् यावानित्याद्युक्तेः 'द्रष्टुं प्रवेष्टु'मिति क्रमानुसाराच्च विशदस्य परभक्तिसाध्यस्य परज्ञानस्याभिप्रेतत्वात् 'भक्त्या प्रवेष्टुं च परन्तप' इत्यत्रोक्तार्थप्रत्यभिज्ञापनाय अत्रापि उपक्रमे भक्त्येत्यस्य - उपसंहारे च 'विशते तदनन्तरम्' इत्यत्र विशेर्धातोश्च प्रयोगात् । 'तत्त्वतो ज्ञात्वे'त्यत्रोक्तज्ञानस्यैव प्रवेशहेतुत्वविवक्षायां तसिल्प्रत्ययान्तप्रसिद्धतत इत्यस्य वैय्यर्थ्याच्च 'धर्मं जैमिनिरत एव ३-२-४.' इत्यत्र 'श्रुतत्वाच्च' इति पूर्वसूत्रोक्तश्रुतिसजातीयश्रुते तच्छब्देन विवक्षावत् तत इत्यत्र भक्त्येत्यत्रोक्तभक्तिसजातीयपरमभक्तिविवक्षणेन 'तत्त्वतो ज्ञात्वा तत इत्यादियोजनायां तत्त्वतो ज्ञात्वेत्यनेन परमभक्तौ परज्ञानसाध्यत्वलाभेन तदनन्तरमित्यनेन परमभक्तिप्रवेशयोः उपायभूतज्ञानान्तरव्यवधाननिषेधेन परज्ञानसाध्यपरमभक्तेरेव प्रवेशहेतुत्वं विवक्षितमिति व्यक्तं भाष्यतात्पर्यचन्द्रिकनिष्णातानाम् । एतेन -

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ इत्यत्र परज्ञानस्य परमभक्तिद्वारकमेव प्राप्तिहेतुत्वं विवक्षितम् इति बोध्यम् । परमते सर्वत्र प्राप्तिप्रतिपादकशब्दप्रयोगो विरुद्ध्यत इति स्फुटम् । अतो "गीतानां मोक्षधर्माणां चैकार्थ्यात्' (ई. शं. भा.) इत्युक्तरीत्या गीतानुरोधेन 'नाऽन्यथा शक्यरूपोसौ मतिर्मम' इत्यादाविप भक्तेः प्राप्तिहेतुत्वमेव विवक्षितमिति सिद्धम् । अत एव -

वेदेन पञ्चरात्रेण भक्त्या यज्ञेन च द्विज । प्राप्योहं नान्यथा प्राप्यो वर्षलक्षशतैरपि ॥ (व. पु. ६६-१८)

इति वचने गीताविस्तारभूतपञ्चरात्रोपबृंहितवेदप्रतिपाद्ययज्ञोपोद्धलितभक्तेरेव प्राप्तिहेतुत्वप्रतिपादनं सङ्गच्छत इति दिक् ॥

वृत्र(सनत्-कुमार)गीतोक्तम् भगवत्परत्वम् अ

[[वृत्र(सनत्कुमार)गीतोक्तं भगवत्परत्वं गीतामोक्षधर्मवराहवचनैकार्थ्यम्]]

इत्यत्र वासुदेवध्यानेन गृहस्थस्यापि श्वेतकेतोर्मोक्षप्राप्तिः;

श्रीवासवसंवादान्ते -

वासुदेवपरो नित्यं ज्ञानध्यानपरायणान् । विशेषेणार्चयेथास्त्वं सततं पर्युपास्व च ॥ २३५. १२२.

इत्यत्र वासुदेवभक्तानामप्यर्चनीयत्वम् ॥ भीष्मेण युधिष्ठिरं प्रति वृत्राय सनत्कुमारोक्तविष्णुमाहात्म्यानुवादवचनेषु -

> अनादिनिधनः श्रीमान् हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ २८६. १९. तं विश्वभूतं विश्वादिं परमं विद्धि चेश्वरम् ॥ २३. मूलस्थायी स भगवान्स्वेनानन्तेन तेजसा । तत्स्थः सृजति तान्भावानात्मरूपान्महामनाः ॥ ६१. स चानिरुद्धः सृजते महात्मा तत्स्थं जगत्सर्वमिदं विचित्रम् ॥ ६४.

इत्यत्र परवासुदेवस्य सङ्कर्षणादिरूपेण अवतारसङ्कल्पवत्त्वं चाकथयत् ॥

०८ नारायणाख्यानम् 3

०१ भगवत्परत्वम् 🐠

[[(२०-अ) नारायणाख्याने (1) भगवतः परत्वं वासुदेवस्य विभवमूलता च]]

तत्रैव (३४२-३६१) विंशत्यध्यायात्मके1 ज्ञानकाण्डे नारायणाख्याने प्रथमे -

▼ दीधितिः

1 श्रीभाष्ये परमतभङ्गे च एतत् प्रघट्टकं ज्ञान-काण्डम् इति व्यवाहार्य् आचार्य-पादैः ॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । य इच्छेत्सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः ॥ ३४२-१. देवतानां च को देवः पितृणां च पिता तथा ॥ ४.

इत्यादियुधिष्ठिरप्रश्नानां भीष्मेण प्रतिवचने नारायणनारदसंवादे कृतयुगे धर्मात्मजत्वेन नारायणावतारभूतयोः बदर्याश्रमे अष्टचक्ररथमासाद्य तपस्तपतोः नरनारायणयोर्मध्ये नारायणसमीपमागत्य नारदेन कृतस्य -

> वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे । चत्वारो ह्याश्रमा देव सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः । यजन्ते त्वामहरहः नानामूर्तिसमास्थितम् ॥ पिता माता च सर्वस्य देवतानां च शाश्वतम् ॥ कं त्वद्ययजसे देवं पितरं कं न विदाहे । कमर्चिस महाभाग तन्मे प्रब्रूहि पृच्छतः ॥

इति प्रश्नस्य नारायणेन प्रतिवचने -

स ह्यन्तरात्मा भूतानां1 क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते । तां योनिमावयोर्विद्धि॥

▼ दीधितिः

1 'क्षेत्रज्ञो वासुदेवः' 'सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः' (३५४-१०) इति हि वक्ष्यते ।

आवाभ्यां पूज्यते यो हि। नास्ति तस्मात्परोऽन्यो हि पिता देवोऽथवा द्विज ॥

इति नरनारायणाभ्यां समर्चनीयं विभवव्यूहमूलभूतं परवासुदेवम्

नारायणवासुदेवयोरैक्यं तदन्यस्य परत्वाभावश्च®

- 1 तं देवाश्चाश्रमा(ऋषय)श्चैव 2नानातनुसमाश्रितम् ।
- ▼ दीधितिः

1 'अत्र देवतानां च को देवः' 'तं देवाः भक्त्या संपूजयन्ति' इति प्रश्नप्रतिवचनाभ्याम् एकस्य सर्वदेवताराध्यत्वोक्त्या 'नास्ति तस्मात्परोन्यो हि पिता देवः' इत्यत्र अन्यदेवतामप्रतिषिध्य तदन्यपरदेवतानिषेधेन च सर्वदेवतैक्यं नास्तीति सिध्यति । नारायणस्य तु सर्ववेदप्रतिपाद्यत्वकथनात् वासुदेवनारायणयोरुभयोस्सर्वाश्रमिसमाराध्यत्वप्रतिपादनाच्च वासुदेवस्वरूपैक्यमेव । विग्रहभेदनिबन्धन एव मूलमूलिभावः 'तां योनिमावयोर्विद्धि' इत्यत्र विवक्षितः । वक्ष्यति च-

सब्रह्मकास्सरुद्राश्च सेन्द्रा देवा महर्षयः । अर्चयन्ति स्रश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ॥ (३५० - ३०)

इति ।

2 नानातनवश्च व्यूहविभवशरीराणि ब्रह्मरुद्रादिदेवताशरीराणि च संकर्षणादीनां ब्रह्मरुद्रादिभिराराधनीयता पञ्चरात्रे स्फुटा । ब्रह्मादिदेवतायजनं तदन्तर्यामिविष्णुयजनमेवेति 'ये यजन्ति पितृन्देवान् विष्णुमेव यजन्ति ते ॥ (३५५-२५)' इत्यत्र वक्ष्यते । एवं नारायणस्य ब्रह्मरुद्रान्तर्यामित्वं 'तवान्तरात्मा मम च (३६१ - ४) इत्यत्र - 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इत्यत्राप्युपक्रमे बोध्यम् । 'गतिं चैषां ददाति सः' इत्यत्र मोक्षव्यतिरिक्तं फलं 'तं प्रविशन्ति' इत्यत्र भगवद्माप्तिरूपं मोक्षाख्यं फलमिति विभागोऽवसेयः एतेन – 'मोक्षश्चैव किंमा[[??]]त्मकः' इत्यन्तप्रश्नानां प्रतिवचनमुक्तम् । भगवद्गीतायां च चतुर्विधा भजन्ते माम्' (७-१६) ' स महात्मा सुदुर्लभः' (७-१) । 'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः' (७-२०) 'यो यो यां यां तनुं भक्तः' (७-२१) 'अन्तवन्तु फलं तेषां' 'देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामिप' (७-२३) इति सप्तमे । 'ये त्वन्यदेवता भक्ताः यजन्त्यविधिपूर्वकम्' (९-२३) ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते (२४) ।

'यान्ति देवत्रता देवान् यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' (२६) इति नवमे चैतद्विस्तरोऽवसेयः । एवं 'चतुर्विधा मम जनाः' (३५०.३) । 'यस्मात्परिमितं फलम्' इत्यत्रापि ॥

सर्वाश्रमिणामिष्टलाभः 🖲

[[तस्मात्सर्वाश्रमिणामिष्टलाभः - अनन्यभक्तानां तल्लाभश्च (ना-आ-२) श्वेत-पु-वृ-प्र]]

भक्त्या संपूजयन्त्यद्य गतिं चैषां ददाति सः ॥ ये तु तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समास्थिताः । एतदभ्यधिकं तेषां यत्ते तं प्रविशन्त्युत ॥ इत्युक्तौ तत्तत्फलार्थिभिस्सर्वैरप्याश्रमिभिः स्वस्वाभीप्सितमूर्तिमधितिष्ठतः वासुदेवस्यैव पूजनीयत्वं, तत्तत्फलप्रदातृत्वम्, अनन्यमनस्कैरेकान्तिभिस्तस्यैव प्राप्यत्वं च प्रतिपादितम् ॥

०२-०५ उपरिचर-वसुः, पाञ्चरात्रम्@

द्वितीये – नारायणमूलरूपभूतं वासुदेवं द्रष्टुं बदर्याश्रमात् मेरोः पश्चिमोत्तरभूत-क्षीरोदधेर् उत्तरं श्वेतद्वीपं गतेन नारदेन अवलोकितानां श्वेतद्वीपस्थानां पुरुषाणां लक्षणं श्रुत्वा -

> अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दास्सुगन्धिनः । कथं ते पुरुषा जाताः का तेषां गतिरुत्तमा ॥ ३४३-१३. 1 ये च मुक्ता भवन्तीह नरा भरतसत्तम । तेषां लक्षणमेतद्धि यच्छवेतद्वीपवासिनाम् ॥ १४.

▼ दीधितिः

1 श्वेतद्वीपवासिमुक्तयोर्लक्षणसाम्यकथनेन श्वेतद्वीपो न मुक्तप्राप्यस्थानं तद्वासी वासुदेवोऽपि न परवासुदेव इति बोधितम् । परव्यतिरिक्तस्यापि विभवमूलत्वं पञ्चरात्रसंहितासु व्यक्तम् । तेन नारदस्य विभवमूलरूपदर्शनार्थं श्वेतद्वीपगमनोतेर् न विरोधः ॥

इति युधिष्ठिरप्रश्नस्य शधिनुं प्रति नारदोक्तिरूप(भीष्म)-प्रतिवचने -

राजो परिचरो नाम बभूवाधिपतिर्भुवः । सात्त्वतं विधिमास्थाय 1 प्राक्सूर्यमुखनिस्सृतम् ॥ पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान् ॥ २०.

सूर्यतः प्राप्तिः, वेद-तुल्यता®

[[उप-व-वृ-न्तः (शु-य) वेद-पञ्चरात्र-प्रवर्तक-सूर्यैक्येन उभय-निन्दा-वचन-प्रक्षेप-साम्यम्]]

▼ दीधितिः

1 (३२३) जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे याज्ञवल्क्याय शुक्लयजुर्वेदोपदेष्टा यस्सूर्यस्स एव सात्त्वतविधिप्रवर्तक इत्यभिधानेन शुक्लयजुर्वेदपञ्चरात्रयोरैकरस्यं ख्याप्यते । तेन च शुक्लयजुर्वेदवत् पञ्चरात्रं कात्स्न्येन प्रमाणं प्रथमशाखान्यायनिर्णये पूर्वपक्षे उपात्तानि शुक्लयजुर्वेदियाज्ञवल्क्यादिनिन्दा(कालिकाखण्ड)वचनानीव पञ्चरात्रनिन्दादि (कू. पु. सू. सं) वचनान्यपि कलौ भगवद्भक्तिविधुरैस्तामसैः पुराणे प्रक्षिप्तानीति व्यंजितम् । तदुक्तं शास्त्रदर्पणे उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणे अमलानन्दयतिभिः - 'ईशोक्तं न पुराणेषु व्यामोहार्थमितीरितम् । पञ्चरात्रम्' इत्यादिश्लोकेन प्रक्रम्य पञ्चरात्रकर्तुर्वासुदेवस्य वेदादेव सर्वज्ञत्वावगमात्कपिलपतञ्जल्यादीनां च जीवत्वात् पञ्चरात्रस्य च पुराणेषु बुद्धादिदर्शनवत् व्यामोहार्थमीश्वरप्रणीतत्वाश्रवणात्, इत्यादि पूर्वपक्षे 'अतः प्रमाणापहृतविषये गौणं तद्वचनं न तु भ्रान्तं पूर्वोक्तयुक्तिभिः' इति सिद्धान्ते च । एवमेव पञ्चरात्रकर्तुरित्यादि कल्पतरावप्युक्तन्तैरेव । तत्र न भ्रान्तं पूर्वपक्षयुक्तिभिरितीयान्भेदः । अत्र सिद्धान्तव्याख्याने कल्पतरुपरिमलः

यद्यपि वेदावगतसार्वज्ञ्यस्य भ्रान्तिर्न सम्भवति — तथापि वेदविरोधदर्शने सित बुद्धदेशनावत्तदम्शे व्यामोहकत्वशङ्का नापैति । सापि शङ्का यद्यपि न भवति तथापि उपजीव्यविरोधे गौणत्वकल्पनमावश्यकमिति

इति । अत्र सापि शङ्का यद्यपि न भवतीत्यत्र पञ्चरात्रस्य पुराणेषु बुद्धादिदर्शनवत् व्यामोहार्थमीश्वरप्रणीतत्वाश्रवणात् इत्येव हेतुरिति न तिरोहितं विदुषाम् - एवं कपिलपतञ्जल्यादीनां च जीवत्वात्

इत्यनेन सांख्ययोगपाशुपतकर्तॄणामपि जीवत्वेन भ्रमसम्भवो बोधितः -

पाञ्चरात्रे वेदविरोधपरिहारोपपादनम्

तदनेन विरोधाधिकरणतन्त्रवार्तिके वर्णकान्तरे

यद्वा यान्येतानि त्रयीविद्भिर्न परिगृहीतानि सांख्ययोगपाशुपतशाक्यनिर्ग्रन्थपरिगृहीतधर्माधर्मनिबन्धनानि

इत्यत्र पाञ्चरात्रपदाघटित एव पाठः इति निश्चीयते । तन्त्रवार्तिकविवरणेष्विप प्राचीनेषु पञ्चरात्रपदादर्शनात् । तन्त्रवार्तिकलिखितकोशेषु प्राचीनेषु केषुचित्पंचरात्रपदादर्शनाच्च । यद्यपि तान्त्रिकमीमांसायामप्पयदीक्षितैः वेदामूलकत्वादागमा नः प्रमाणम् इति सोमनाथेन च '(१-३-४ शा. दी) शाक्यादीत्यादिशब्देन वार्तिकोक्तपाशुपतपञ्चरात्रादिसंग्रहः इति उक्तम्' तथापि (शा. दी) सोमनाथीये अप्पयदीक्षितनामोल्लेखेन उभयोस्समकालिकतया दीक्षितानां च 'हेतुदर्शनाच्च (१-३-४,) इति सूत्रोक्तनयेन प्रवृत्तेर्विदुषां व्यक्ततया च न सोमनाथलेखमात्रेण वार्तिके पञ्चरात्रपदप्रयोगनिर्णयः सम्भवति । कल्पतरुपर्यन्तग्रन्थकारकालात्प्राक्तनग्रन्थेषु वार्तिके पञ्चरात्रपदसद्भावग्राहक अप्रक्षिप्तसम्प्रतिपन्नदृढतरप्रमाणविरहात् कल्पतरुग्रन्थपर्यालोचनाच्च वार्तिकेऽपि पञ्चरात्रपदं प्रक्षिप्तमित्येव युक्तम् । एतेन रसगङ्गाधरादिबहुग्रन्थकृता पण्डितजगन्नाथेन नागेशेन च गुरुद्रोहीति (सि.ले.सं. भूमिकायां) प्रख्यापितेन भट्टोजिदीक्षितेन तन्त्राधिकारिनिर्णयोक्तमिप दत्तोत्तरमिति तत्त्ववृद्धाः ॥

एवं शुक्लयजुर्वेदप्रवर्तकस्य सूर्यस्य तदुपबृंहणपञ्चरात्रस्मृतिरूपसात्त्वतविधिप्रवर्तकत्वोक्त्या इदमपि सूच्यते (सि-चं) शतपथब्राह्मणविहितसुदर्शनधारणस्य पञ्चरात्रं प्रयोगविधिरिति । चतुर्वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधीतवान् इति वाक्यमपि वाजसनेयिनाम् अनुदितहोमाचरणस्य 'उदिते होतव्य'मित्यनन्तरं 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् इति (२५-६-३१) ऐतरेयब्राह्मणस्थनिन्दावत् (पां-र) ऋग्वेदे तदन्यवेदनिन्दावच्च न हि निन्दान्यायेन सङ्गमनीयम् ।

तत्र वेदविरोधवादमूलं प्राच्यनव्यभाष्यतात्पर्यभेदश्च॥

'श्रुतिमूलिमदन्तन्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत् इति पञ्चरात्र एवोक्तेरिति च । अवान्तरसंगतिवशादिह पादेऽस्य लेखः इति कल्पतरूक्ताविप पञ्चरात्रस्य स्मृतित्वमिभप्रेतम् । एवं ब्रह्मविद्याभरणेऽपि पञ्चरात्रस्य स्मृतित्वं व्यक्तम् — सच्चरित्ररक्षापरिकरविजय, सिद्धान्तचन्द्रिका, तप्तचक्राङ्कनसमर्थनद्वय, सुदर्शनसुरद्रुमादौ सुदर्शनधारणविधिर्व्यवस्थापित इति दिक् ॥

अत्रेदं तत्त्वम् - आगममन्त्रतन्त्रतन्त्रान्तरसिद्धान्तभेदेन चतुर्धा विभक्ते पञ्चरात्रे आगमसिद्धान्ते आगमसिद्धान्ते आगमसिद्धान्ति। एतन्मूलकतयैव पञ्चरात्रस्य वेदविरोधवादः प्रवृवृते । इदञ्श्वाभ्युपेत्य (कृत्वा चिन्तया) पञ्चरात्रतन्त्रं वेदाविरुद्धांशे प्रमाणमिति पञ्चरात्राऽधिकरणं समयोजि प्राचीनेऽस्मदीयसूत्रभाष्ये । एतेन -

यावन्मोहं तु भेदस्स्याज्जीवस्य च परस्य च । ततः परं न भेदोऽस्ति भेदहतोरभावतः ॥ (अ-सि-८४२)

इति वचनतुल्यम्॥

आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च । मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः ॥

इति भास्करेण (१-४-२१ ब्र.) उदाहृतं पाञ्चरात्रिकवचनमपि यथाश्रुतार्थकं भवतु वेदविरोधेन तदप्रामाण्येऽपि क्षतिविरहात् इति ॥

भगवद्यामुनमुनयस्तु - आगमसिद्धान्तेऽपि वेदविप्रतिषेधो नोद्भावियतुं क्षमः तन्मूलभूताया एकायनशाखायास्तदनुसारिकल्पसूत्रस्य च सत्त्वेन तन्निष्ठानां सावित्र्यनुवचनादिलोपस्यादोषत्वात् । न ह्येकशाखानुसारिणामन्यशाखातदनुसारिकल्पोक्तकर्माननुष्ठानं दोषमावहतीति कश्चिदभ्युपैति । अस्मदीयं प्राचीनसूत्रभाष्यन्तु कृत्वा चिन्तया प्रवृत्तम् । अद्यत्वे आगमसिद्धान्तः लुप्तः । तदितरसिद्धान्तेषु न कस्मिंश्चिदप्यंशे वेदविरोधः उत्प्रेक्षितुमप्यलमिति पञ्चरात्राधिकरणं कात्स्नर्येन पञ्चरात्रप्रामाण्यपरमिति आगमप्रामाण्ये व्यवास्थापयन् ।

वेदविद्-अधिकारः

तत्र (ता-मी) (त-अ-नि) वेदविदामनधिकारस्य (वी-मि-उ) निरसनादि

श्रीभाष्यमप्येतदनुसार्येव । एवम् 'आमुक्तेर्भेदः, इत्यादिवचनानि पूवापरादिपरामर्शप्रवीणानां 'तद्भावभावमापन्नः' 'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते' इत्यादि विष्णुपुराणवचनानीव औपाधिकवैधर्म्यरूपभेदनिवृत्तिपराणीति सुगममिति परमतभङ्गे भास्करमतभङ्गाधिकारे आचार्यपादोक्तमपि भगवद्यामुनमुन्यादिकालानन्तरन्तु पञ्चरात्रागमस्य

वेदविरुद्धत्वावैदिकाद्यधिकारिकत्वप्रतिपादकपुराणवचनकल्पनम् लुप्ताया एकायनशाखायाः कल्पितत्वप्रतिपादनं चेति प्रामाणिकानां पन्थाः ॥

वीरमित्रोदयकारास्तु — यत्तु 'साम्बकौर्मादिवचनैः श्रुतिभ्रष्ठादीनामेवागमेष्वधिकारप्रतिपादनात् वेदविदामनधिकार इति कैश्चिदुक्तम् । तन्न न्यायविदामभिधानम् । तथाहि । श्रुतिभ्रष्टादिवाक्येषु न तन्त्रमुद्दिश्य कर्तारो विधीयन्ते राजसूयोद्देशेन राजेव येनान्येषामनाधिकारस्स्यात्, किंतु श्रुतिभ्रष्टादीनुद्दिश्य तन्त्रं विधीयते । तथा च

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । इति भारतमाख्यानम्

इति वचनात् स्त्रीशूद्रादीन्प्रतिभारतप्रवृत्ताविप अन्येषां भारताधिकारवदागमेष्वविहतोऽधिकारः, (वी-प-प्र- २४ पु) इति निरूपयन्ति ॥

ब्रह्मविद्याभरणकारा अपि

वेदविरोधरहितानां तु शैववैष्णवागमानां वैदिकपरिग्राह्यत्वे न काचिदनुपपत्तिः । पुराणादिवत्तेषामपि वेदमूलकत्वेनैव प्रामाण्यसम्भवात्

इति च प्रतिपादयन्ति ॥

कलौ जगत्पतिं विष्णुं सर्वस्रष्टारमीश्वरम् । नार्चियिष्यन्ति मैत्रेय पाषण्डोपहता जनाः ॥

इति पराशरोक्तरीत्या 'अन्त्ये युगे प्रविरला भविष्यन्ति मदाश्रयाः' इति पूर्वोदाहृत (२३. पु) वाराहवचनेन च कलौ पाञ्चरात्रिकभगवदर्चननिष्ठानां प्रविरलत्वेऽपि ॥

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः । क्वचित्क्वचिन्महाभागाद्रमिडेषु च भूरिशः ॥

इति हेमाद्रिपरिशिष्टखण्डोदाहृतश्रीभागवतादिवचनैः वैदिका अपि पुरुषाः पाञ्चरात्रिकार्चनादिनिष्ठा भविष्यन्ति ततश्च 'द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।' इति भीष्मपर्वोक्तिः सुसंगता । तदेतद्द्रढयति ।

> पाञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः । प्रापणं भगवद्भुक्तं भुञ्जते चाग्र्यभोजनम् ॥ २६.

इत्याद्युपरिचरवृत्तान्ते -

चित्रशिखण्डिसंहिता 🖲

कलौ वैदिकानामनुष्ठापकं पञ्चरात्रम्®

ये हि ते ऋषयः ख्याताः सप्तचित्रशिखण्डिनः । तैरेकमतिभिर्भूत्वा यत्प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम् ॥ वेदैश्चतुर्भिस्समितं कृतं मेरौ महागिरौ ॥ २९. मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठश्च महातेजाः ते हि चित्रशिखण्डिनः ॥ सप्त प्रकृतयो ह्येतास्तथा स्वायम्भुवोऽष्टमः । नारायणानुशिष्टा हि तदा देवी सरस्वती । विवेश तानृषीन्सर्वान्लोकानां हितकाम्यया ॥ ३६. ऋषीनुवाच तान्सर्वानदृश्यः पुरुषोत्तमः । कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानां हितमुत्तमम् ॥ ऋग्यजुस्सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्सह । ४१. सर्वे प्रमाणं हि यथा तथा तच्छास्त्रमुत्तमम् । 1 भविष्यति प्रमाणं वै एतदेवानुशासनम् ।

▼ दीधितिः

1 'भविष्यति प्रमाणं वा' इति । आगमप्रामाण्यपाञ्चरात्ररक्षादौ कस्मिन्नप्यंशे पञ्चरात्रस्य वेदविरोधाऽसम्भवेन कात्स्न्येंनानुष्ठापकत्वरूपप्रामाण्यं व्यवस्थापितम् । एतेन 'भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम्' इति पञ्चरात्रं प्रस्तुत्य यद्भावितया प्रामाण्यकीर्तनं तत्कलौ वैदिकमार्गप्रच्युतेः प्राचुर्यात् । प्राचुर्येण पाञ्चरात्रमार्गः प्रतीतो भविष्यतीति एवमभिप्रायं व्याख्येयम् इति ब्रह्मविद्याभरणोक्तिर्निरवकाशा वेदितव्या पूर्वोत्तरवचनविरोधात् ।

मनु-शुक्र-बृहस्पति-प्रवर्तनम्®

[[मनु-शुक्र-बृहस्पतीनां तदुक्तधर्मस्य प्रवर्तकत्वम्]]

अस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुस् स्वायम्भुवस् स्वयम् ॥ उशना बृहस्पतिश् चैव यदोत्पन्नौ भविष्यतः । तदा प्रवक्ष्यतश् शास्त्रं युष्मन्-मतिभिर् उद्धृतम् ॥ युष्मत्-कृतम् इदं शास्त्रं प्रजापालो वसुस् ततः । बृहस्पति-सकाशाद् वै प्राप्स्यते द्विजसत्तमाः ॥ एतद् धि सर्व-शास्त्राणां शास्त्रम् उत्तम-संज्ञितम् । एतद् अर्थ्यं च धर्म्यं च रहस्यं च एतद् उत्तमम् ॥ संस्थिते च नृपे तस्मिन् शास्त्रम् एतत् सनातनम् । अन्तर्धास्यति तत् सर्वम् एतद् वः कथितं मया ॥

इत्य् अत्र पञ्चरात्र-शास्त्रस्य प्राक् (वाजसनेय) शुक्लयजुर्वेद-प्रवर्तक-सूर्यमुख-निस्सृतत्वं चतुर्वेद-तुल्यत्वं सप्त-चित्रशिखण्डि-प्रवर्तितत्वं अष्टम-स्वायम्भुव-मनु-शुक्र-बृहस्पतीनां तद्-उक्त-धर्म-प्रवर्तकत्वं पञ्चरात्र-शास्त्रस्य तदा तदा तिरोधाने ऽपि पुनर् आविर्भावेन द्वापरयुगान्ते कलियुगादाव् अपि अनुष्ठापकत्व-रूपं प्रामाण्यं अनन्तरम् आविर्भविष्यतो ऽपि पञ्चरात्र-शास्त्रस्य चित्रशिखण्डि-संहिता-रूपस्य उपरिचरिवसु-कालानन्तरम् अन्तर्धानम् ॥

▼ दीधितिः

1 अस्मादिति । भविष्यति प्रमाणं वेत्येतत्पूर्वार्धे पञ्चरात्रशास्त्रमेव विवक्षितमिति परेषामपि सम्मतम् । एवं च अस्मादित्यत्र इदंशब्देन पञ्चरात्रशास्त्रमेव परामृश्यते । स्वायंभुवमनोस्तदुक्तधर्मप्रवर्तकत्वमेवात्र विवक्षितम् । एतेन मनोः महाभारतोक्तधर्मप्रवर्तकत्वम् । शुक्रबृहस्पत्योरेव पाञ्चरात्रिकधर्मप्रवर्तकत्वमिति (अ.मा १७) उक्तिरनवधानमूलेति वेदितव्यम् ॥

भगवद्-दर्शनम्, पिष्ट-पशु-प्रयोगः 🔊

[[(उ च) वसुना यज्ञे कृतयुगानुसारात् पिष्टपशोरनुष्ठानं भगवतो दर्शनं च॥]]

तृतीये – उपरिचरवसुना बृहस्पतेस्सकाशात् चित्रशिखण्डिप्रवर्तितं पञ्चरात्रम् अधीत्य तदनुसारेण विरचिते अश्वमेघे बृहस्पत्यादिभिरदृश्येन भगवता स्वां मूर्तिमुपरिचरवसोः एव प्रदर्श्य साक्षादेव यज्ञभागे गृहीते -

न यजेयमहं चात्र परिभूतस्त्वया नृप ॥ १९ ॥ त्वया पशुर्वारितश्च कृतः पिष्टमयः पशुः । त्वं देवं पश्यसे नित्यं न पश्येयमहं कथम् ॥ २० ॥

इति बृहस्पतेः क्रोधान्धत्वम् -

1 नैष धर्मः कृतयुगे यत्त्वं रोषमिहाहिथाः ॥ २४ ॥ अरोषणो ह्यसौ देवः यस्य भागोयमुद्यतः ।

▼ दीधितिः

1 अत्र उत्तरत्र च (ना. आ. ४-८८-८०) युगभेदेन यागीयपशुव्यवस्थायाः करणेऽपि पिष्टमयपश्चाचरणं पाञ्चरात्रिकधर्म इति अस्मिन्नंशे पञ्चरात्रस्य वेदविरोधोद्भावनं (अ. मा. १७) विदुषां विस्मयावहम्. स्मृतिकाराश्च बहुत्र युगभेदेन वैदिकधर्मं व्यवस्थापयन्त्येव ॥

न शक्यः स त्वया द्रष्टुम् अस्माभिर्वा बृहस्पते । यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति ॥ २५ ॥

इति एकतद्वितत्रितमहर्षिभिस्तत्क्रोधशमनस्योपक्रमः -

क्षीरोदधेरुत्तरतः श्वेतद्वीपो महाप्रभः । तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चसः ॥ ३२ ॥ एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः । गच्छध्वं तत्र मुनयस्तत्रात्मा मे प्रकाशितः ॥ ३४ ॥

इति स्वैः अशरीरवाक्यस्य श्रवणं ततश्श्वेतद्वीपं प्रतिगमनं तन्निवासिनाम् एकान्तिपुरुषाणां दर्शनम् ॥

श्वेतद्वीपचरितम् 🖲

[[बृहस्पतिक्रोधशमनाय श्वेतद्वीपचरितम् (ऋग्वेद-जितन्ते)]]

जितन्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन । नमस्तेऽत्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज । इति शब्दः श्रुतोऽस्माभिः शिक्षाक्षरसमन्वितः ॥

इत्यत्र जितन्त इत्यादि । ऋग्वेदखिलशब्दस्य श्रवणम् ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र शिक्षाक्षरसमन्वित इत्यनेन जितन्त इत्यादेर्वेदरूपत्वं सूच्यते.

एवं स्वर्णधर्मानुवाकेन तथापुरुषविद्यया । पौरुषेण च सूक्तेन सामभीराजनादिभिः ॥ इति श्रीभागवत(११-२७. अ.)वचने स्वर्णघर्मानुवाकादिवेदसहपाठेन पुरुषविद्यापदवाच्यत्वेन बहुव्याख्यातृसम्मतजितन्त इत्यादि स्तोत्रस्य वेदरूपता सिद्य[[ध्य??]]ति किञ्च शान्तिकमलाकरोदाहृतमहार्णवऋग्विधानवचनेषु -

एवं हुत्वा ततश्चैवमनुज्ञाप्य यथाक्रमम् । अग्नेर्भगवतस्तस्य समीपे स्तोत्रमुच्चरेत् ॥ जितन्ते पुण्डरीकाक्ष....... महापुरुष पूर्वज ॥

इत्याद्युक्त्या जितन्त इत्यादेः ऋग्वेदरूपत्वं सिद्यति. अत एव कृष्णपादैः एतत्स्तृतिव्याख्यानोपक्रमे अस्य ऋग्वेदखिलत्वोक्तिः संगच्छते ॥

> तैरिष्टः पश्चकालज्ञैः हरिरेकान्तिभिर्नरैः । भक्त्या परमया युक्तैः मनोवाक्कर्मभिस्तदा ॥ ५१ ॥ नूनं तत्रागतो देवो यथातैर्वागुदीरिता । वयं त्वेनं नपश्यामो मोहितास्तस्य मायया ॥ ५२ ॥

इत्यत्र श्वेतद्वीपवासिभिः दृष्टस्य वासुदेवस्यादर्शनम् ॥

दृष्टाः पुरुषाः श्वेताः सर्वेन्द्रियविवर्जिताः । दृष्टो भवति देवेश एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमैः ॥ ५७ ॥

अनैकान्तिभिर् अदर्शनम्®

[[वासुदेवस्यैकान्त्य्-अन्यैर् अदृश्यत्वस्योक्त्या क्रोधस्य निश्शेषं शामनम्]]

गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात् । न स शक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथंचन ॥ ५८ ॥ कामं कालेन महता एकान्तित्वमुपागतैः । शक्यो द्रष्टुं सभगवान्प्रभामण्डलदुर्दृशः ॥ ५९ ॥

इत्यत्र तत्रत्यवासुदेवोक्त्या परावर्तनं इत्यादिकथनेन -

एवमेकतवाक्येन द्वितत्रितमतेन च । अनुनीतः सदस्यैश्च बृहस्पतिरुदारधीः । समापयत्ततो यज्ञं दैवतं समपूजयत् ॥ ५५ ॥

इत्यत्र तत्क्रोधस्य निश्शेषशामनम् । ततो बृहस्पतिना अश्वमेधक्रतुसमापनम् ॥

▼ दीधितिः

1 वितर्कडोलां व्यवधूय सत्वे बृहस्पतिं वर्तयसे यतस्त्वम् । तेनैव देवत्रिदशेश्वराणाम् अस्पृष्टडोलायितमाधिराज्यम् ॥ (ह-ग्री-स्तो-८)

इत्याचार्यपादसूक्तौ एतद्वत्तान्तोऽनुसन्धेयः ।

भू-विवरे ऽपि पाञ्चकालिक-वृत्तिः \$

चतुर्थे - इन्द्र-कृत-यज्ञे बृहस्पतिना सवनीय-पशोः काले पिष्टम् आनीयताम् इत्य् उक्ते (अजेन यष्टव्यम् इति) मांसाभिकाङ्क्षि-देवताभिः ॥

> नैष धर्मस् सतां देवाः यत्र वध्येत वै पशुः। इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः॥ ८॥

इत्य्-अत्र पिष्टमय-पशुना यष्टव्यम् इति वदद्भिः ऋषिभिस् सह विवादे प्रारब्धे उपरिचरवसुं च अन्तरिक्षगतं दृष्ट्वा ऋषिभिर् देवताभिश् च विवाद-पद-निर्णेतृत्वेन वृतेन वसुना पक्षद्वयं ज्ञात्वा देवानाम् अभिप्रायानुरोधेन "छागेन यष्टव्यम्" इति निर्णये कृते -

> अद्य-प्रभृति ते राजन्न् आकाशे विहता गतिः। अस्माच् छापाभिघातेन महीं भित्वा प्रवेक्ष्यसि॥ १९.

इति ऋषिभिश् शप्तेन वसुना -

तत्रापि पञ्चभिर् यज्ञैः पञ्चकालान् अरिन्दम। अयजद् हरिं सुरपतिं भूमेर् विवरगो ऽपि सन्॥ ३६. इत्य् अत्र भू-विवरे ऽपि पाञ्चकालिक-यजनानुष्ठानं वसोर् अनन्यप्रयोजनया भक्त्या परितुष्टेन नारायणेन समाज्ञप्तेन गरुत्मता द्राग् एव आकाश-समारोपणेन शाप-विमोचनम्॥

पाञ्चरात्रिकस्तुतिः 🖲

पञ्चमे नारदकृतपाञ्चरात्रिकवासुदेवस्तुतिः ॥

०६ विश्वरूपसन्दर्शनादि @

विश्वरूपप्रदर्शनम्®

षष्ठे (भ- गी - ११.) कृष्णेनार्जुनस्येव (१श्लो) वासुदेवेन नारदस्य विश्वरूपप्रदर्शनम् । (११-१३ श्लो) वासुदेवस्य एकतद्वितत्रितैरदृश्यत्वम् ऐकान्तिकश्रेष्ठमात्रदृश्यत्वम् ॥

> उवाच वचनं भूयो गच्छ नारद मा चिरम् ॥ १८ ॥ इमे ह्यनिन्द्रियाहारा मद्भक्ताश्चन्द्रवचर्सः । एकाग्राश्चिन्तयेयुर्मां नैषां विघ्नो भवेदिति ॥ १९ ॥ सिद्धा ह्ये ते महाभागाः पुरा ह्येकान्तिनोऽभवन् । तमो रजोभिर्निर्मुक्ता मां1 प्रवेक्ष्यन्त्यसंशयम् ॥ २० ॥

इत्यत्र नारदस्याऽपि श्वेतद्वीप-निवासस्य तत्रत्य-पुरुष-कर्तृक-भगवद्-ध्यान-विरोधित्वम् ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र श्वेतद्वीपनिवासिवासुदेवस्य मामित्युक्तिः (भ-गी ९-३४) (१८-६५): 'मामैवैष्यस्यसी'ति अर्जुनं प्रति कृष्णोक्तिवत् मूलरूपाभेदविवक्षया ।

चतुर्विंशत्य्-अचित्-तत्वानि निर्गुण-श्रुतेर् गुण-त्रय-शून्यत्वे तात्पर्यम्®

सत्त्वं रजस्तमश्चैव नगुणास्तं भजन्ति वै । यश्च सर्व1गतस्साक्षी लोकस्यात्मेति कथ्यते ॥ २२ ॥

▼ दीधितिः

1 सर्वगतत्वम् आत्मत्वे हेतुः ।

2द्विर्द्वादशेभ्यस्तत्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः ३॥ २३॥

▼ दीधितिः

2 चतुर्विंशतिः अचित्तत्त्वानि सुबाल,मन्त्रिकोपनिषदादावधीतानि (३११. अ) अत्रैव मोक्षधर्मे निरूपितानि ।

3 वासुदेवस्य षड्विंशस्याऽपि जीवस्थत्वेनैकत्वविवक्षया पञ्चविंशकत्वोक्तिः इति अत्रैव पूर्वं जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे (३२३ अ. ७७-७८) स्पष्टम् ।

> यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः । स वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा4 सनातनः ॥ २५ ॥

▼ दीधितिः

4 सनातनशब्देन मुक्तप्राप्यत्वं परवासुदेवस्येति बोधितम् ॥

पश्य देवस्य माहात्म्यं महिमानं च नारद । शुभाशुभैः कर्मभिर् यो न लिप्यति कदाचन ॥ २६ ॥ सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणानेतान् प्रचक्षते । एते सर्वशरीरेषु तिष्ठन्ति विचरन्ति च ॥ २७ ॥ एतान् गुणांस् तु क्षेत्रज्ञो5 भुङ्क्ते 6नैभिः स भुज्यते । 7 निर्गुणो गुणभुक्चैव गुणस्रष्टा गुणातिगः ॥ २८ ॥

इत्यत्र वासुदेवस्य निर्गुणत्वम् ।

▼ दीधितिः

5 क्षेत्रज्ञशब्दार्थस्य वासुदेवस्य पूर्वं शुभाशुभकर्मलेपाभावोक्त्या स्वेच्छाप्रवर्तितगुणपरिणाममूलक आनन्द एव भुङ्क्त इत्यत्र विवक्षितः ॥ 6 अत्र गुणानुभाव्यत्वाभावः गुणत्रयसम्बद्धपुरुषानुभाव्यत्वाभावे पर्यवस्यति । सोऽपि त्रिगुणदेशे स्वस्याप्राप्यत्व इति बोध्यम् ॥ तद् एतत् सूचयति गुणातिग इति गुणानतिक्रम्य त्रिगुणप्रकृतेरूध्वं शुद्धसत्त्वपरमपदे वर्तमान इति यावत् ॥ 7 अत्र 'सत्त्वरजस्तमोगुणान्प्रक्रम्य निर्गुण इत्युक्त्या 'साक्षी' चेता केवलो निर्गुणश्च इति श्रुतौ गुणशब्देन तन्त्रभेदेनानियतप्रवृत्तिनिमित्तकेन वेदान्तसाङ्ख्यतन्त्रसिद्धार्थपरिग्रहस्य न्याय्यतया निर्गुणब्दे[[??]]न सत्त्वरजस्तमोगुणशून्यत्वमेव बोध्यते इति सूच्यते । सङ्कर्षणप्रद्युम्नाऽनिरुद्धानां सत्त्वरजस्तमोगुणाधिष्ठातृत्वं परवासुदेवस्य तु तच्छून्यत्वमिति पञ्चरात्रे व्यक्तम् ॥

वासुदेवस्य नित्यविग्रहः, अन्तः प्रविश्य नियन्तृत्वेन सार्वात्म्यं च®

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते ।

इत्यन्ते व्यष्टिसमष्टिप्रलयकारणत्वम् ।

नास्ति तस्मात्परतरः पुरुषाद्वै1 सनातनात् ॥ ३१ ॥

▼ दीधिति:

1 अत्र अहिर्बुध्न्यसंहिताद्युक्तरीत्या गुणत्रयाधिष्ठात्रनिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणलयाधारः परवासुदेवः सनातनशब्दे विवक्षितः ॥

नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् । ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ॥

इत्यत्र परवासुदेव2 विग्रहस्य नित्यत्वम् ।

▼ दीधितिः

2 'नित्यत्वं वासुदेवाह्वयवपुषि जगौ मोक्षधर्मे मुनीन्द्रः', इति (त-मु-क) आचार्यपादश्रीसूक्त्या एतच्श्लोकार्थो निरणायि । विवेचयिष्यते चेदमुपरिष्टात् ॥

आत्मा, शरीरम्, जीवः, मनः⑤

[[वासुदेवात् क्रमेण संकर्षणादित्रयस्योत्पत्तिः - ऐक्यं च॥]]

3 सर्व-भूतात्म-भूतो हि वासुदेवो महा-बलः ॥ ३२ ॥

▼ दीधितिः

3 अत्र सर्व-भूतात्म-भूतत्वम् अन्तः प्रविश्य नियन्तृत्व-निबन्धनम् इति "तद् आविशति चेष्टयन्न्" इत्याभ्यां व्यक्तीकृतम्। 'अन्तःप्रविष्टश्शास्ता जानानाँ सर्वात्मा' इति हि श्रुतिः ॥

> पृथिवी वायुर् आकाशम् आपो ज्योतिश् च पञ्चमम् । ते समेता महात्मनः शरीरम् इति संज्ञितम् ॥ ३३ । (5) तद् आविशति यो ब्रह्मज्ञ् अ-दृश्यो लघु-विक्रमः । उत्पन्न एव भवति शरीरं चेष्टयन् प्रभुः ॥ ३४ ॥ न विना धातु-सङ्घातं शरीरं भवति क्वचित् । न च जीवं विना ब्रह्मन्1 वायवश् चेष्टयन्स्य उत ॥ ३५ ॥

▼ दीधितिः

1 'जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना' इति गर्भोपनिषदि मूलप्रकृतौ वायुशब्दप्रयोगात् प्रकृतिपरिणामशरीरात्मकपञ्चभूतानि वायवः ॥

शेषः **सङ्कर्षणः** प्रभुः । यस्मिंश् च सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति संक्षयम् ॥ ३६ ॥ स मनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते । तस्मात् प्रसूतो यः2 कर्ता कारणं कार्यम् एव च ॥ ३७ ॥

स जीवः परिसंख्यातः

▼ दीधितिः - स्थिति-हेतुत्वम्

2 अत्र प्रद्युम्नस्य स्थिति-हेतुत्वम् एव विवक्षितम् -(१५ पु.) उदाहृतानुशासनिक-वचनानुरोधात् । तस्माद् इत्य्-अत्र तच्-छब्देन वक्ष्यमाण अनिरुद्ध एव विवक्षितः । यद् वा तस्माद् इत्य्-अत्र तच्-छब्दः प्रद्युम्न-परामर्श्य् एव इति प्रद्युम्नस्यैव सृष्टिहेतुत्वम् । स ईशान इत्यत्र अनिरुद्धस्य स्थिति-हेतुत्वं विवक्षितम् अयम् अपि प्रकारः संहितासु व्यक्तः कल्प-भेदेन उभयोर् विरोध-परिहारः ॥

> तस्मात् सर्वं सम्भवति जगत् स्थावर-जङ्गमम् । सो **ऽनिरुद्धः** स ईशानो _(→अहङ्कारः) व्यक्तिस् सा सर्व-कर्मसु ॥ ३८ ॥

वासुदेवस्यैव चिदचित्स्रष्टृत्वं - तद्भक्तानां मुक्तिश्च®

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्र-ज्ञो निर्गुणात्मकः । 3 ज्ञेयस् स एव राजेन्द्र जीवः सङ्कर्षणः प्रभुः ॥ ३९ ॥ सङ्कर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते ।

▼ दीधितिः

3 सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धानां वासुदेवात् क्रमश उत्पत्ति-प्रतिपादनेन भेद-शङ्कां स एवेत्यादि तच्छब्दत्रयेणापाकरोति । विग्रहभेदनिबन्धन एवोत्पाद्योत्पादकभावः न तु स्वरूपपरिणामभेदनिबन्धन इति भावः । अयमप्यर्थः पञ्चरात्रे स्फुटः (स जीवः) इति तु पूर्वोक्तद्वारभूतजीवचेष्टयितृत्वेनेति स्फुटी भविष्यति ॥

> प्रद्युम्नाद् **अनिरुद्धस्** तु सोऽहंकारस् स ईश्वरः ॥ ४० ॥

इत्यत्र वासुदेवकर्तृक-समष्टि-सृष्टिः 1अनिरुद्ध-कर्तृक-व्यष्टि-सृष्टिश् च वासुदेवादीनां चतुर्णाम् ऐक्यम् ।

▼ दीधितिः

1 अनिरुद्ध-कर्तृकेति प्रथम-कल्पाभिप्रायेण । द्वितीयकल्पे तु प्रद्युम्नकर्तृकेति बोध्यम् ॥ मत्तस् सर्वं सम्भवति जगत् स्थावर-जङ्गमम् । अक्षरं च क्षरं चैव सच् चाऽसच् च वै नारद ॥ ४१ ॥

इत्यत्र व्यष्टि-सृष्टेर् अपि वासुदेव-कर्तृकत्वम् ।

▼ दीधितिः

2 अभेदोक्ति-फलम् आह तेनेति । एवं च वासुदेवस्यैव सर्वोत्पादकत्वं पर्यवस्यति । प्रद्युम्नानिरुद्धयोः क्रमशः उत्पत्ति-प्रतिपादनम् -"एकस्मिन् काले वासुदेवस्य न सङ्कर्षणादि-विग्रह-त्रयोत्पत्ति-सङ्कल्पः, अपि तु क्रमेणे"ति क्रमिक-सङ्कल्प-निबन्धनम् इति फलितम् । 'आकाशाद् वायुः वायोर् अग्निः अग्नेर् आपः' इत्यादि-श्रुतावपि एषैव रीतिः । यथोक्तं शङ्कराचार्यैः (२-३-१०)

> 'यदापि ह्य् आकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायु-भावापन्नं ब्रह्म तेजो ऽसृजतेति कल्प्यते । तदापि ब्रह्म-जत्वं तेजसो न विरुध्यते । यथा तस्याः श्रुतं "तस्या दिध तस्या आमिक्षेत्यादि"'

इति ।

अतः सङ्कर्षणादीनां क्रमिकोत्पत्ति-प्रतिपादन-मात्रेण न वासुदेवाद भेदस् सिद्ध्यति । अत एव पूर्वोदाहृत-(२१, पु)-विष्णु-धर्मोत्तर-वचने सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धानां वासुदेवाभेदोक्तिस् संगच्छते इति बोध्यम् ॥

> मां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता भक्तास् तु ये मम ॥ ४२ ॥

इत्य्-अत्र सृष्टि-वाक्यानां3 पितरि पुत्रस्येव जगत्-पितरि वासुदेवे भक्त्य्-अनुष्ठान-मूलक-फल-सिद्धि-तात्पर्यम् ॥ ▼ विश्वास-टिप्पनी

<u>अत्र</u> द्रष्टव्यम्।

▼ दीधितिः - सृष्टिवाक्यानां (पितृपुत्र) (राजकुमार) न्यायद्वयप्रदर्शने तात्पर्यम्

3 परम-कारणत्वं स्वस्यैवाहेत्य् अवतार्य 'मत्तस् सर्वं संभवती'ति श्लोके अक्षरं जीवः इति नीलकण्ठेनापि व्याख्यातम्। ततश् च अक्षर-सच्-छब्दार्थस्य जीवस्य वासुदेवादुत्पत्ति-कथन-पूर्वकं वासुदेव-भक्तानां तत्-प्राप्त्य्-अभिधानेन पितरि पुत्रस्येव मुमुक्षोः भगवति भक्त्या तत्-प्राप्तिः इति सूच्यते ।

बृहद्-आरण्यके (४-१-२०)

'एवम् एतस्माद् आत्मनस् सर्वे प्राणाः' '(सर्व एत आत्मानः) व्युच्चरन्ति'

इति श्रुति-विचरणावसरे

'अत्र च सम्प्रदाय-विदः आख्यायिकां सम्प्रचक्षते — कश्चित् किल राज-पुत्रो जात-मात्र एव माता-पितृभ्याम् अपविद्धो व्याध-गृहे संवर्धितः । सो ऽमुष्य वंश्यताम् अजानन् व्याध-जाति-प्रत्ययो व्याध-जाति-कर्माण्य् एवानुवर्तते, न राजास्मीति राज-जाति-कर्माण्य् अनुवर्तते । यदा पुनः कश्चित् परम-कारुणिको राज-पुत्रस्य राज-श्री-प्राप्ति-योग्यतां जानन्न् अमुष्य पुत्रतां बोधयति —

> न त्वं व्याधः, अमुष्य राज्ञः पुत्रः कथंचिद् व्याध-गृहम् अनुप्रविष्ट

इति । स एवं बोधितः, त्यक्त्वा व्याध-जाति-प्रत्यय-कर्माणि पितृ-पैतामहीम् आत्मनः पदवीम् अनुवर्तते 'राजा अहम् अस्मी'ति'

इति (उभा शं.)। (उक्ते ऽर्थे द्रमिडाचार्य-सम्मतिम् आह — अत्र चेति आ. गि-व्या)।

शङ्कराचार्य-प्रदर्शित-द्रमिडाचार्य-सम्मत-राजकुमार-न्यायः श्रीभाष्यकारैः समन्वयाधिकरण-श्रीभाष्ये सम्यक् प्रदर्शितः, जिज्ञासाधिकरणे भूमाधिकरणादौ चैतदेकदेशश् च ।

अयं च न्यायः (र-त्र-सा) उपोद्घाताधिकारे आचार्यपादैः परिष्कृत्य प्रदर्शितः । स एव न्यायो ऽत्र विवक्षितः । (३३-३४ प्.)

पूर्वोदाहृत-भगवद्-गीता-वचनेषु पितरि पुत्रस्येव जगत्-पितरि नित्ये भगवति पुत्रस्य जीवस्य निरतिशय-भक्ति-तत्-प्राप्त्य्-आदिकं स्फुटम् ॥ ▼ विश्वास-टिप्पनी

वासुदेवे प्रवेशतः, तत उद्गमाच्च, एकविधम् ऐक्यम् अपि वक्तुं शक्यम्। तद् एवाग्रिमेण वदति।

> (विशिष्य मुक्तावस्थायाम् भोगैक्यात्, समानाभिप्रायतः) अहं हि 1पुरुषो ज्ञेयो निष्क्रियः पञ्चविंशकः (अनुप्रवेशतः)। निर्गुणो निष्कलश्चैव निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ ४२ ॥

▼ विश्वास-टिप्पनी

अन्यश् चराजन्! स_(२६-तमः) परस् तथान्यः पञ्चविंशकः । तत्-स्थत्वाद् **अनुपश्यन्ति** ह्य एक एवेति साधवः ॥

इति च पूर्वम् एव मोक्षधर्मे।

▼ दीधितिः

1 **पुरुषः** सर्वशरीरी वासुदेवः। निष्क्रियः विभुत्वात् स्पन्दशून्यः। यद्वा सृष्टि-स्थिति-लय-रूप-क्रिया-शून्यः सङ्कर्षण-प्रद्युम्नाऽनिरुद्ध-रूपेणैव तत्-करणात् । तल्-लयानन्तरं वासुदेवस्य निष्क्रियत्वं सम्भवति ।

निर्गुणः गुणत्रयाऽधिष्ठानशून्यः ।

निष्कलः विग्रहस्य सावयवत्वेऽपि स्व-रूपस्य निरवयवत्वात् ।

एतेन अचिद्वैलक्षण्यमुक्तम् ।

जीव-वैलक्षण्यम् आहं **निर्द्धन्द** इत्यादिना ॥

जगतो भेदः 🖲

[[विश्वरूपस्य वासुदेवेच्छा-नाश्यत्वोक्तेर् अमिथ्यात्वम्॥]]

1 एतत् त्वया न विज्ञेयं रूपवान् इति दृश्यते ॥ ४३ ॥ इच्छन् मुहूर्तान् **नश्येयम्** ईशोऽहं जगतो गुरुः ।

▼ दीधितिः

1 अत्र नीलकण्ठः -

ननु विश्वरूपस्य तव कथं निष्कलत्वम् अत आह - एतद् इति । अयं रूपवान् इति यद् एतत् त्वया न ज्ञातव्यम् । यतो ऽहं **मुहूर्तान् नशेयम्** अदृश्यो भवेयम् **इच्छन्न्** इति मद्-ईक्षा-मात्रं सृष्टि-संहाराव् इत्यर्थः, इति व्याचख्यौ ।

अत्र नाशे वासुदेवेच्छाया एव हेतुत्व-प्रतिपादनेन विश्वरूपस्य ज्ञान-निवर्त्यत्व-रूप-मिथ्यात्वं नास्तीति बोधितम् ।₍₄₎ तद् एतत् प्रकटयति 'ईशोहं जगतो गुरुः', इत्यादिना -वासुदेवस्य प्राकृत-सर्व-वस्तु-नियामकत्वम् एव न तु तद्-भ्रमाधिष्ठानत्वं नापि जगद्--अ-भेद इति भावः ॥

2 माया $_{(\to \overline{\sigma} \eta \overline{\epsilon}/f \overline{a}_{\underline{a}'} + \overline{\kappa} \overline{u} \overline{u})}$ ह्य् एषा मया सृष्टा यन् मां पश्यसि नारद ॥ ४४ ॥

▼ दीधिति:

2 "सर्वभूतात्मभूतः", "स मनः प्रद्युम्नः", 'अनिरुद्धः सोहंकारः' इत्यादौ पूर्वं प्राकृत-पदार्थाभेदो वासुदेवस्य प्रतीयत इति भ्रमं व्युदस्यति - मायेति ।

यत् जगद्-रूपं मां पश्यसि एषा जगद्रूपा मया सृष्टा माया मूल-प्रकृतिर् इत्य् अर्थः । माया-शब्देन जगतो न मिथ्यात्व-सिद्धिर् इति अन्यत्र स्पष्टम् ।

> सर्व-भूत-गुणैर् युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुम् अर्हसि । 3 मयैतत् कथितं सम्यक् तव मूर्ति-चतुष्टयम् ॥ ४५ ॥

▼ दीधितिः

प्राकृत-जगन्-नियामकत्व-मात्रम् एव न तु प्राकृत-वस्त्व्--अ-भेदः, अतः स्वस्य सत्त्व-रजस्-तमो-गुणवत्त्वं न कदापीत्याह - सर्वभूतगुणैर्युक्तमिति । एतेन पूर्वोक्त-निर्गुणत्वं प्राकृत-गुण-शून्यत्वम् एव न तु गुणसामान्य-शून्यत्वम् इति सिद्धम् ॥

3 प्रद्युम्नानिरुद्धयोर् अहंकार-मनोऽभेदाभावेन मूर्ति-चतुष्टयस्यापि सम्यग् उक्तम् इत्य् आह - मयैतत्कथितमिति ।

वासुदेवस्य व्याप्तिधारणादिना जीवसंज्ञत्वम् एवं भूतानैक्यादनश्वरत्वं च®

1 अहं हि जीव-संज्ञो वै _(यतः) मिय जीवः समाहितः _(- न जीवाभेदतः)। _(मां दृष्ट्वा) मैवं ते बुद्धिर् अत्राभूद् दृष्टो जीवो मयेति वै ॥ ४६ ॥

▼ दीधितिः

1 'मनोहंकारयोः मूल-प्रकृत्य्-अ-भेद एव । तन्-नियामकत्वम् एव वासुदेवस्येति कथने ऽपि "स जीवः सङ्कर्षणः", इत्य्-अत्र सङ्कर्षणे जीवाभेदोक्त्या वासुदेवे केषाञ्चिज् जीवाभेदस्य सम्मततया च मूर्ति-चतुष्टयस्य कथं सम्यक्त्वम् इत्य् आक्षेपम् अपाकरोति - अहं हीति ।

मिय जीवस् समाहित इति जीव-संज्ञत्वे हेतु-कथनम्, इत्थं च जीव-संज्ञत्वं न जीवाभेद-निबन्धनम्, अपि तु जीवस्य स्वस्मिन् सम्यग्-आधान-निबन्धनम् इति न मूर्ति-चतुष्टयस्य सम्यक्त्व-क्षतिर् इति भावः।

एतेन जीव-मनो-अहंकाराणां संकर्षणाद्य्-अ-भेदोक्तिर् धारण-नियमन-विशेष-निबन्धनेत्य् उक्तं भवति । तेन च 'न च जीवं विना' इत्य्-अत्र जीवस्य द्वारत्व-मात्रं विवक्षितम् इति बोधितम् ॥

2 वासुदेवस्य जीवाभेदाभावेन तद्-दर्शनं जीवान्तर्यामि-दर्शनम् एव न तु जीव-दर्शनम् इत्य् आह - **मैवम्** इति ॥

3 अहं सर्वत्र-गो ब्रह्मन् भूत-ग्रामान्तरात्मकः । भूतग्राम-शरीरेषु **नश्यत्सु न नशाम्य्** अहम् ॥ ४७ ॥

▼ दीधितिः

3 'इच्छन् मुहूर्तान् नश्येयम्' इत्य्-अत्र वासुदेवस्यापि नाशः प्रतीयते । स च अ-चेतनवत् न स्वरूप-परिणाम-रूपः अपि तु 'ईशोहं जगतो गुरुः' इत्य्-अत्रोक्त-तद्-अन्तर्यामित्वाभाव-रूप एव इति दर्शयति -अहं सर्वत्र-ग इति ।

'सर्व-भूतात्म-भूतो ही'त्य्-आद्य्-उपक्रमे शरीरं प्रक्रम्य 'तदा विशती'ति 'उत्पन्न एव भवति शरीरं चेष्टयन्न्' इति च, 'ईशो ऽहं जगतो गुरुः' 'अहं सर्वत्रगः, भूत-ग्रामान्तरात्मकः', इति उभयत्र व्याप्ति-नियमनयोर् उक्त्या

सूक्ष्म-चिद्-अचिच्-छरीरकं ब्रह्म कारणं स्थूल-चिद्-अचिच्-छरीरकं तद् एव कार्यम्

इति सिद्धान्तितं भवति । (4) अतश् च चेतनाचेतनयोः कार्यत्वं 'मत्तस् सर्वं संभवति' 'अक्षरं च क्षरं चैव' इति मध्ये यद् उक्तं तद् अत्रैव पर्यवसितं भवति । तेन नाद्वैत-श्रुति-विरोधः ॥

मुक्तिः 🖲

▼ दीधितिः

1 अ-चिद्वद् अत्यन्त-पारतन्त्र्यम् एव जीवस्य स्वरूपम् इति नित्य-राज-कुमारत्वम् एव जीवस्येति राज-भूत-वासुदेव-प्राप्तिर् एव जीवस्य न तु वासुदेवाभेद इति सम्यक् प्रतिष्ठापितं भवतीति निगमयति -

सिद्धा हिते ... प्रवेक्ष्यन्ति च मां मुने ॥

इत्यादिना ।

1 सिद्धा हि ते महाभागा नरा ह्य एकान्तिनो **ऽभवन्** । तमो-रजोभ्यां **निर्मुक्ताः** प्रवेक्ष्यन्ति च मां मुने ॥ ४८ ॥ (गत-श्लोकतः - "प्रविश्य [पृथग्] भवन्ति")

इत्य्-अत्र वासुदेवस्य मनोऽहंकार-भूत-नियमनं, मनोऽहंकार-भूतानां मूल-प्रकृति-परिणामतया मूल-प्रकृत्य्-अभेदः, तेन वासुदेवस्य भूत-गुण-शून्यत्व-रूपं निर्गुणत्वं, तद्-अभिन्न-संकर्षण-प्रद्युम्नाऽनिरुद्धानाम् अपि तादृशत्वम्, अभिमान-विशेषेण स्वस्मिन् जीवानाम् आधानेन जीव-संज्ञत्वं, जीवाभेदाभावः, स्वस्य सर्व-भूतान्तर्यामित्वेन जीववत् भूत-नाशे ऽप्य् अ-नश्यत्वं, तेन नित्यस्य राज्ञः स्वस्य नित्य-कुमार-भूतैः मुक्तैः प्राप्यत्वोपपादनम् ॥

रुद्रादित्यवसूनां मैत्रायणीयोक्तदिशा भगवत उत्पत्तिः®

2हिरण्यगर्भो लोकादिश् चतुर्-वक्त्रोऽनिरुक्तगः3। ब्रह्मा सनातनो देवो मम बह्वर्थचिन्तकः॥ ५१॥

- ▼ दीधिति:
- 2 अत्र मैत्रायणीयश्रुतिर्मूलम् ॥
- 3 नामरूपविनिर्मुक्तजीवसमष्टिभूतः ॥

ललाटाच्चैव मे रुद्रो मम क्रोधाद्विनिस्सृतः । पश्यैकादश मे रुद्रान्दक्षिणं पार्श्वमास्थितान् ॥ ५२ ॥ द्वादशैव तथादित्यान्वामपार्श्वे समास्थितान् । अग्रतश्चैव मे पश्य वसूनष्टौ सुरोत्तमान् ॥

इत्यादिना

त्रींश्चैवेमान्गुणान्पश्य मत्स्थान्मूर्तिविवर्जितान् ।

इत्यन्तेन स्वविभूतिभूतब्रह्मरुद्रादिप्रदर्शनम् -

देवानां च पितॄणां च पिताह्येकोऽहमादितः । अहं हयशिराभूत्वा समुद्रे पश्चिमोत्तरे ॥

हयशिरसो यज्ञाराध्यत्वं, तेन ब्रह्मादिभ्यो वरदानम्®

पिबामि सुकृतं हव्यं कव्यं च श्रद्धयान्वितम् । मया सृष्टः पुरा ब्रह्मा मां यज्ञमयजत्स्वयम् ॥ ततस्तस्मै वरान्प्रीतो दत्तवानस्म्यनृत्तमान् । मत्पुत्रत्वं च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च ॥

इत्यादिना

प्रादुर्भावगतश्चाहं सुरकार्येषु नित्यदा । अनुशास्यस्त्वया ब्रह्मन्नियोज्यश्च सुतो यथा । एतांश्चान्यांश्च रुचिरान्ब्रह्मणेऽमिततेजसे । एवं रुद्राय मनवे इन्द्रायाऽमिततेजसे ॥ अहं दत्वा वरान्प्रीतो निवृत्तिपरमोऽभवम् ।

इत्यन्तेन — सर्वदेविपतृजनकस्य स्वस्य हयशिरोरूपधारिण एव पश्चिमोत्तरसमुद्रप्रदेशे हव्यकव्यभोक्तृत्वं स्वसृष्टब्रह्मरुद्रादिभिर्यज्ञादिभिराराधितेन स्वेन तेषाम् अधिकारादिस्वप्रादुर्भावनियामकत्वादिपर्यन्तवराणां प्रदानम् ॥

1 विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थं सनातनम् । ६९. एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये जगत्पुनः ॥ ७२.

▼ दीधितिः

1 विद्याशब्दस्य लक्ष्म्यर्थकत्वं 'विद्यासहायवान्देवः' (ना. आ. १६ - १९.) इत्येतद्विवरणावसरे स्फुटा भविष्यति ॥

> ततो भूयो जगत्सर्गं करिष्यामीह विद्यया । अस्मन्मूर्तिश्चतुर्थी या साऽसृजच्छेषमव्ययम् ॥ स हि संकर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत् । प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः ॥ अनिरुद्धात्तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः ॥

लक्ष्मीविशिष्टस्य सृष्ट्यादिहेतुत्वं, दशावताराः 🕲

ब्रह्मणस्सर्वभूतानि चराणि स्थावराणि च । एतां सृष्टिं विजानीहि कल्पादिषु पुनः पुनः ॥

इत्यत्र – लक्ष्मीविशिष्टस्यैव स्वस्य आदित्यमण्डलान्तस्थत्वं लक्ष्म्या सहैव स्वेन सृष्ट्यादेः करणम्, अनिरुद्धाद्यभिन्नस्यापि लक्ष्मीवैशिष्ट्यम् इत्थमेव प्रतिकल्पं 1 शुद्धाशुद्धसृष्ट्यादिकम् ॥

▼ दीधितिः

1 भगवद्गीतायां (११. अ) विश्वरूपप्रदर्शनप्रकरणे अनुक्तस्य सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धवृत्तस्य अत्र कथनमुखेन पञ्चरात्रप्रामाण्योक्त्या 'कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः' (ना. आ. १५-१० १७-५३) इत्यादिना वक्ष्यमाणं पञ्चरात्रस्य गीतार्थविशदीकरणरूपत्वम् उपपादितं भवति ॥

०७ अवतार: 4

सप्तमे -

शृणु नारद तत्वेन प्रादुर्भावान् महामुने । मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ॥ रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्कीति ते दश ॥ २

इत्युपक्रम्य [(३) मत्स्य (४) कूर्म (५-६) वराह (७) नरसिंह (८-१४) वामन (१५) भार्गवराम (१६ - २०) दाशरिथराम (२१-४१) कृष्णराम (४२-४९) बुद्ध (५०-५२) किल्कि] दशा2वतारचिरतं प्रादुर्भावानाम् आनन्त्यं विश्व-रूप-धरस्य वासुदेवस्यान्तर्धानं नारदस्य नरनारायण दर्शनार्थं बदर्य्-आश्रमगमनम् —

▼ दीधितिः

2 अत्र बुद्धपरशुरामादयः गौणप्रादुर्भावाः प्रतिबुद्धैरनुपास्या इति अन्यत्र स्पष्टम् ॥

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् । 1सांख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ॥ ६२.

▼ दीधितिः

1 अत्र 'साङ्ख्ययोगशब्दाभ्यां ज्ञानयोगकर्मयोगावभिहितौ' इति(श्रीभा) ज्ञानयोगकर्मयोगोपेतमित्यर्थः । इति (श्रु- प्र) ॥

> नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत्पुनः । ब्रह्मणस्सदने तात यथा दृष्टं यथा श्रुतम् ॥ ६३ ॥

इति पञ्चरात्रप्रामाण्यम् आश्चर्यभूतस्य भगवन्माहात्म्यस्य साम्प्रदायिकत्वं (भानु, ऋषि, देव, असितद्विज, पितृ, शन्तनु, भीष्म,) पारम्पर्यक्रमागतस्याख्यानस्य अपात्रे अदेयत्वं आख्यानश्रवणपठनयोः देवप्राप्तिप्रयोजकत्वम् -

> त्वयाऽपि सततं राजन्नभ्यर्च्यः पुरुषोत्तमः । स हि मातापिता चैव कृत्स्नस्य जगतो गुरुः ॥ ८२ ॥

इति भीष्मवचनानन्तरं -

धर्मराजादीनां नारायणपरता®

श्रुत्वैतदाख्यानवरं धर्मराङ्जनमेजय । 2 भ्रातरश्चास्य ते सर्वे नारायण पराभवन् ॥ ८४ ॥

इति धर्मराजादीनां पाञ्चरात्रिकैकान्तिधर्मानुष्ठानम् ॥ इति ॥

▼ दीधितिः

2 एतेन गीतोपदेशानन्तरमर्जुनस्याप्येकान्तिधर्मानुष्ठाननियमो नेति सूचितम् । अनुगीतोपक्रमे अर्जुनस्य स्मृतिभ्रंशप्रतिपादनेनाप्ययमर्थस्सिद्ध्यतीति गीता(१८)तात्पर्यचन्द्रिकायां स्पष्टम् ॥ एतेन द्रोणपर्वणि जयद्रथवधप्रस्तावे पाशुपतास्त्रसिद्धये अर्जुनेन रुद्रपूजा कृतेत्युक्तेर्न विरोधः ॥ यज्ञकरणमन्त्रेषु प्रतीयमानानां तत्तद्देवतानामेव यज्ञभागार्हत्वं यज्ञादिसत्तानिर्वाहकत्वं च वाच्यम् । एवं च वासुदेवस्य यज्ञेष्वग्रहरत्वं यज्ञधारित्वं च कथमिति प्रश्लार्थः ॥

०८ निवृत्तिधर्मेषु वासुदेवस्यैवाराध्यता @

[[निवृत्तिधर्मेषु वासुदेवस्यैवाराध्यता न देवतान्तराणाम्]]

अष्टमे यज्ञाग्रहराध्याये -

3 कथं स भगवान् देवो यज्ञेष्वग्रहरः प्रभुः । यज्ञधारी च सततं वेद-वेदाङ्गवित् तथा ॥ १ ॥

▼ दीधितिः

3 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' 'धारणाद्धर्म इत्याहुः' इत्यादिनोक्तं यज्ञादिधर्माणां लोकधारकत्वं देवताप्रीतिद्वारकमिति अङ्गोपस्कृतेषु वेदेषु यज्ञकरणमन्त्रेषु प्रतीयमानानां तत्तद्देवतानामेव यज्ञभागार्हत्वं यज्ञादिसत्तानिर्वाकत्वं च वाच्यम् । एवं च वासुदेवस्य यज्ञेष्वग्रहरत्वं यज्ञधारित्वं च कथमिति प्रश्नार्थः ।

1 कथं प्रवृत्तिधर्मेषु भागार्ह-देवताः कृताः । कथं निवृत्ति-धर्माश् च कृता व्यावृत्तबुद्धयः ॥ २ ॥

▼ दीधितिः

1 वासुदेवस्य यज्ञेष्वग्रहरत्वं देवतानां यज्ञभागार्हत्वाऽविरोधेनैवोपपादनीयम् । तच्च यज्ञरूपधर्मद्वैविध्यमङ्गीकृत्य क्वचिद्वासुदेवस्य क्वचित्तदन्यदेवतानाम् इति व्यवस्थया वाच्यम् । तथा व्यवस्था च किन्निबन्धना इति भावः ॥

इति (शौ-प्र)

2 अयं हि दुरनुष्ठेयो मोक्षधर्मस्सना3तनः । यं हित्वा देवतास्सर्वाः हव्यकव्यभुजो भवन् ॥ ९ ॥

▼ दीधिति:

2 मोक्षव्यतिरिक्तफलेच्छां विहाय क्रियमाण इत्यर्थः । 'क्रियास्वभ्युदयोक्तासु सक्तादृश्यन्तिसर्वशः' इत्यनन्तरमुक्तेः ॥

3 सनातनशब्देन नश्वरदेवतानां मुमुक्षुभिरनुपास्यत्वं सूच्यते ॥

क्षीरोदधेरुत्तरत्र ब्रह्मादीनां तपः \$

4 किञ्च ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्च बलभित्प्रभुः । सूर्यस्ताराधिपो वायुरग्निर्वरुण एव च ॥ १० ॥

▼ दीधितिः

4 तदेतदद्रढयति किञ्चेत्यादिना ॥

आकाशं जगतीं चैव ये च शेषा दिवौकसः । प्रळयं न विजानन्ति आत्मनः परिनिर्मितम् ॥ ११ ॥ 5 ततस्ते नास्थिता मार्गं ध्रुवमक्षरमव्ययम् ।

▼ दीधितिः

5 एतेन ब्रह्मादिदेवतानां स्वस्वप्रळयाऽज्ञानेन, जातस्याऽपि ज्ञानस्य अकार्यकरत्वेन वा उत्कटवैराग्याभावेन मोक्षमात्रफलेच्छया प्रवृत्यभावेन मोक्षमात्रफलेच्छुभिः स्वकृतयज्ञेषु तेषां देवतात्वेन परिग्रहः न युक्त इति भावः ॥

1 कथं भागहराः प्रोक्ताः देवताः क्रतुषु द्विज ।

2 किमर्थं चाध्वरे ब्रह्मन्निज्यन्ते त्रिदिवौकसः ।

ये च भागं प्रगृह्णन्ति यज्ञेषु द्विजसत्तम ॥

3 ते यजन्तो महायज्ञैः कस्य भागं ददन्ति वै ॥ १८ ॥

▼ दीधिति:

1 कथमिति । वेदमन्त्रेषु ब्रह्मादीनां देवतात्वं श्रूयते तच्च तेषां भागहरत्वमन्तरा न घटते । तच्च भगवतो भागहरत्वे कथमित्यर्थः ॥

2 किमर्थमिति । भगवत एव सर्वफलप्रदत्वात् ब्रह्मादीनां देवतात्वेन परिग्रहे न किञ्चित्फलमिति भावः ॥

3 त इत्यादि । ब्रह्मादिकृतयज्ञेषु भगवत एवाराध्यत्वे सर्वत्राऽपि तस्यैवाराध्यत्वं संभवतीति भावः ॥

इति (ज प्र) प्रश्नद्वयमुपक्षिप्य व्यासेन सुमन्तु, जैमिनि, पैल, वैशम्पायनकृतस्यास्यैव प्रश्नस्य यत्प्रतिवचनमुक्तं तदेव प्रतिवचनमुपक्रम्य समष्टिव्यष्टिसृष्टिः, एकादशरुद्रैः तदन्यैश्च चतुर्मुखसमीपं गत्वा स्वेषां कस्कोऽधिकारः केन केन च बलेन तत्परिपालनम् इति पृष्टेन चतुर्मुखेन स्वस्य तन्निर्णयाशक्त्या -

इतस्सर्वेऽपि गच्छामश्शरणं लोकसाक्षिणम् । महापुरुषमव्यक्तं स नो वक्ष्यति यद्धितम् ॥ ४३ ॥

इत्युक्त्यनन्तरं सर्वैः क्षीरोदोत्तरकूले दिव्यं वर्षसहस्रं दारुणतपसः करणम्

एष ब्रह्मा लोक गुरुस्सर्वलोकपितामहः । यूयश्च विबुधश्रेष्ठाः मां यजध्वं समाहिताः ॥

वासुदेवप्रसादाद् ब्रह्मादीनां प्रवृत्तिधर्मभागार्हता®

सर्वे भागान्कल्पयध्वं यज्ञेषु मम नित्यशः । तत्र श्रेयोभिधास्यामि यथाऽधीकारमीश्वराः ॥

इति वासुदेवस्याऽशरीरवचसश्श्रवणं वेददृष्टेन विधिना कृते वैष्णवे क्रतौ स्वस्वभागकल्पनम् -

येन यः कल्पितो भागः स तथा मामुपागतः । यूयं यज्ञैरिज्यमानास्समाप्तवरदक्षिणैः ॥ युगे युगे भविष्यध्वं प्रवृत्तिफलभागिनः । यो मे यथा कल्पितवान् भागमस्मिन्महाक्रतौ ॥ स तथा यज्ञभागार्हो वेदसूत्रे मयाकृतः । 1 यूयं लोकान्भावयध्वं यज्ञभागफलोचिताः ॥

▼ दीधितिः

1 यद्यपि गीतायां निवृत्तिधर्मप्रकरणे (निष्कामकर्म)

यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र लोकोयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गस्समाचर ॥ ३ अ.

इत्युपक्रम्य -

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तश्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

इत्यादिकमुक्तम् । तथापि तत्र काम्यकर्म न विवक्षितं अपि तु नित्यकर्मैवेति परैरप्यङ्गीकारेण नित्यकर्माणि देवतान्तरसंबन्धस्य तत्तद्देवान्तर्यामिपर्यन्तत्वानुसन्धानेन देवतान्तरसम्बन्धप्रतिपादनस्य न क्षतिः ।

> अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्तां च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ यान्तिदेवव्रता देवान् यान्ति मद्यजिनोऽपि माम् ।

इति तत्रैवोक्तेः । अत्र तु 'लोकान्भावयध्वं' लोकान्वै धारयिष्यथ, इत्यत्र लोकपदेन तत्वज्ञानशून्याः विवक्षिता इति नानुपपत्तिः ॥

तेन तैर्लोकधारणम्®

सर्वार्थचिन्तकालोके मयाधीकारनिर्मिताः । याः क्रियाः प्रचरिष्यन्ति प्रवृत्तिफलसत्कृताः ॥ ताभिराप्यायितबला लोकान्वै धारयिष्यथ । यूयं हि भावितायज्ञैः सर्वयज्ञेषु मानवैः ॥ मां ततो भावयिष्यध्वम् एषा वो भावना मम । 1 अयं क्रियावताम्पन्थाः व्यक्तीभूतस्सनातनः ॥

▼ दीधितिः

1 पूर्वश्लोके, 'प्रवृत्तिधर्मिणश्चैते' इत्यत्रोक्तप्रवृत्तिधर्म एवात्र क्रियापदार्थः ॥

अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकसर्गकरः प्रभुः । यतोहं प्रसृतः पूर्वमव्य2क्तात्त्रिगुणो महान् । तस्मात्परतरो योसौ क्षेत्रज्ञ इति कल्पितः ॥

▼ दीधितिः

2 पूर्वं महापुरुषं प्रस्तुत्य -

तस्मात्प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः । अव्यक्ताद्व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात् ॥ अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मेति कथ्यते । योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम् ॥

इत्यत्र 'व्यक्तीभूतस्सनातनः । व्यक्तीभूतः, इत्यत्र च व्यक्ताभिमानित्वेन व्यक्तत्वमनिरुद्धस्योक्तम् । अत्राऽपि तदेव विवक्षितम् । 'यतोऽहं प्रसृतः, इति अनिरुद्धे अहमर्थवासुदेवाभेदस्योक्त्या अनिरुद्धात्परत्वं वासुदेवस्य विग्रहभेदेन ज्ञानादिषाङ्गुण्याभिव्यक्तिनिबन्धनमिति पञ्चरात्रोक्तमर्थं दर्शयति कल्पित इत्यादिना ॥

ब्रह्मरुद्राभ्यां सर्वपुरुषवरदानाधिकारस्य वितरणम्®

सोऽहं क्रियावताम्पन्थाः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥ या यथा निर्मितो जन्तुर्यस्मिन्यस्मिंश्च कर्मणि ॥ प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा तत्फलं सोऽश्नुतेऽवशः । एष लोकगुरुर्ब्रह्मा जगदादिकरः प्रभुः ॥ एष माता पिता चैव युष्माकञ्च पितामहः । मयाऽनुशिष्टो भविता सर्वभूतवरप्रदः ॥ अस्य चैवानुजो रुद्रः ललाटाद्यस्समृत्थितः । ब्रह्मानुशिष्टो भविता सर्वभूतवरप्रदः ॥ गच्छध्वं स्वानधीकारान् चिन्तयध्वं यथाविधि । प्रवर्तन्तां क्रियास्सर्वाः सर्वलोकेषु मा चिरम् ॥

इत्यत्र वासुदेवेन तद्यज्ञभागस्य स्वीकरणम् । प्रवृत्तिलक्षणधर्मेषु ब्रह्मादिदेवेभ्यो यज्ञभागस्य प्रदानम् । निवृत्तिधर्मेषु स्वस्यैव1 यज्ञभागार्हत्वस्य कल्पनम् ।

▼ दीधितिः

1 अत्र चाध्याये व्यासशिष्यस्य जैमिनेः कर्मसु देवतानां फलप्रदत्वस्य भगवतो निवृत्तिधर्माराध्यत्वस्य च गुरूपदेशान्निर्णयकथनेन कर्मणोऽपूर्वद्वाराफलजनकत्वम् उपनिषदां कर्मकर्तृस्तावकत्वं च व्यासं प्रति जैमिनिना पृष्टोऽर्थस्स्यान्न तु तात्पर्यविषयः इति सिद्ध्यति । तेन पूर्वोत्तरमीमांसयोरैकशास्त्र्यं निर्व्यूढम् ॥

ब्रह्मरुद्राभ्यां सर्वपुरुषवरप्रदानाधिकारस्य दानम् ।

इदं कृतयुगं नाम कालश्श्रेष्ठः प्रवर्तितः । अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मि न तदन्यथा ॥ चतुष्पात्सकलो धर्मो भविष्यत्यत्र वै सुराः ।

कलौ वासदेशः 🕏

इत्युपक्रम्य त्रेताद्वापरकलिषु एकैकपादधर्मह्नासोक्त्यनन्तरं ब्रह्मादिदेवकृतस्य कलौ वासप्रदेशप्रश्नस्य

> गुरवो यत्र पूज्यन्ते साधुवृत्तसमन्विताः । वस्तव्यं तत्र युष्माभिर्यत्र धर्मो न हीयते ॥ यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपस्सत्यं दमस्तथा । 1 हिंसा च धर्मसंयुक्ता प्रचरेयुस्सुरोत्तमाः । स वै देशस्सेवितव्यः मा वोऽधर्मः पदा स्पृशेत् ।

इति प्रतिवचनम् ।

▼ दीधितिः

1 अयमेव पाठः प्राचीनकोशेषु दृश्यते (र. त्र. सा) आचार्यपादादृतश्च । पूर्वम् 'अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्' इति कृतयुगे प्रत्यक्षपशुहिंसानिषेधोक्तिवत् कलियुगे तादृशप्रत्यक्षपशुहिंसानिषेधकवचनस्य महाभारतेऽनुपलम्भादयमेव पाठोयुक्तः ॥

वेधसोऽनिरुद्धेन त्रिदण्डधारिहयशिरोरूपस्य दर्शनम्®

ब्रह्मव्यतिरिक्तदेवानां स्वस्वस्थानं प्रति गमनम् -

गतेषु त्रिदिवौकस्सु ब्रह्मैकः पर्यवस्थितः । दिदृक्षुर्भगवन्तं तमनिरुद्धतनौ स्थितम् ॥ तन्देवो दर्शयामास कृत्वा हयशिरो महत् । साङ्गानावर्तयन्वेदान्कमण्डलु2त्रिदण्डधृक् ।

▼ दीधितिः

2 परमो हंस एवादौ प्रणवं समुपादिशत् । उपादिशत्ततो वेदान् ॥ इति (ह.ग्री.स.) भगवच्छास्त्रवचनैकार्थ्यादत्र हयशिराः परमहंसः सन्यासी विवक्षितः । परमहंसस्य त्रिदण्डधारणं प्रमाणतस्साधितं शतदूषण्यां यतिलिङ्गभेदभङ्गवाद आचार्यैः । हयशिरोनुष्ठानोपज्ञमेव आत्मज्ञानदेशिकानां भगवद्यामुनरामानुजमुन्यादीनां त्रिदण्डधारणाद्यनुष्ठानम् ॥

हयशिरस आचार्यपाद-पर्यन्त-प्रादुर्भाव-परिग्रहोक्तिः 🕏

ततोऽश्वशिरसन्दृष्ट्वा तन्देवममितौजसम् ॥ लोककर्ता प्रभुब्रह्मा लोकानां हितकाम्यया । मूर्ध्ना प्रणम्य1 वरदं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥

▼ दीधिति:

1 हयशिरसश्चतुर्मुखवरप्रदत्वं पूर्वं (५७ पु.) 'अहं हयशिरा भूत्वा, (५८ पु.) 'ततस्तस्मै वरान्प्रीतो दत्तवान्' इत्यत्र व्यक्तम् ॥

स परिष्वज्य देवेन वचनं श्रावितस्तदा । लोककार्यगतीस्सर्वास्त्वं चिन्तय यथाविधि ॥ धाता त्वं सर्वभूतानां त्वम्प्रभुर्जगतो गुरुः । त्वय्यावेशितभारोऽहं धृतिं प्राप्स्याम्यथाञ्जसा ॥ यदा च 2सुरकार्यन्तेऽह्यविषह्यं भविष्यति । 3प्रादुर्भावं गमिष्यामि तदात्मज्ञानदेशिकः ॥

▼ दीधितिः

2 अत्र सुराः दिवौकसः दैवसम्पत्समृद्धाः भूसुरास्तदन्ये च विवक्षिताः । अत एव -

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ परित्राणाय साधूनां....... सम्भवामि युगे युगे ॥

इति गीतावचनैकार्थ्यमुपपद्यते ।

3 अत्र प्रादुर्भावः मत्स्यकूर्महंसादिः आचार्यपादपर्यन्तः विवक्षितः 'आत्मज्ञानदेशिक', इति अत्रैवोक्तेः ।

> साक्षाद्देवो जगन्नाथः कृत्वा मर्त्यमयीं तनुम् । मग्नानुद्धरते लोकान्कारुण्याच्छास्त्रपाणिना ॥ (जय-सं) पूर्वोत्पन्नेषु भूतेषु तेषु तेषु कलौ प्रभुः । अनुप्रविश्य कुरुते यत्समीहितमच्युतः ॥ वि.ध. १०-८-७)

इत्यादिवचनान्तरानुसाराच्च । हयग्रीव एव प्रादुर्भावेषु प्रथम इति एतत्प्रघट्टकार्थं परकालमुनिः श्रीसूक्ताख्यप्रबन्धे सप्तमशतके शठकोपमुनिश्च श्रीमुखसूक्ताख्यप्रबन्धे द्वितीयशतके प्राकाशयताम् — एतत्सर्वमभिप्रेत्याहुराचार्यपादा अपि (श. दू.) ॥

> हयमुखमुखैस्तत्तद्रूपैरकर्मविनिर्मितैः उपदिशति यस्तथ्यं पथ्यं सतामवसीदताम् । जननपदवी यातायातश्रमापहरान्धियं जनयतु स मे देवश्श्रीमान्धनञ्जयसारथिः ॥ इति ॥

हयशिरसोऽन्तर्धानम् 🖲

व्यास उवाच -

एवमुक्त्वा हयहयशिरास्तत्रैवान्तरधीयत । तेनानुशिष्टो ब्रह्माऽपि स्वं लोकमचिराद्गतः ॥

इत्यादौ चतुर्मुखस्य अनिरुद्धदर्शनार्थं गमनम् । अनिरुद्धेन च कमण्डलुत्रिदण्डधारिहयशिरोरूपस्य प्रदर्शनम् । हयशिरसा चतुर्मुखं प्रति देवकार्यार्थम् आचार्यपर्यन्तमत्स्यकूर्मादिप्रादुर्भावान्परिग्रहिष्यामीत्युक्तिः । हयशिरोरूपान्तर्धानम् ।

ब्रह्मणस्स्वस्थानं प्रतिगमनम् ।

विवस्वतेऽश्वशिरसे चतुर्मूर्तिधृते सदा ।

इत्यादि भगवत्स्तोत्रम् । एतदध्यायार्थश्रवणादिफलकीर्तनम् ॥

०९ परत्वोक्तिः 🏵

[[अर्जुनं प्रति भगवता स्वस्य ब्रह्मादिभ्यः परत्वस्योक्तिः॥]]

नवमे अर्जुनं प्रति भगवता (अध्यायत्रयेण) नारायणादिस्वनाम्नां निर्वचनप्रसङ्गे -

यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रश्च क्रोधसम्भवः । योऽसौ योनिर्हि सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ १२ ॥ तस्मात्सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ॥ १५ ॥ एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ ।

रुद्रपूजाया नारायणे पर्यवसानम्®

[[रुद्रजनकत्व--तद्-अन्तार्यामित्वाभ्यां रुद्रपूजाया नारायणे पर्यवसानम्॥]]

तदादर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥ १९ ॥ निमित्तमात्रं तावत्र सर्वप्राणिवरप्रदौ ॥ २० ॥

इत्यनेन 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षश्शूलपाणिः पुरुषोऽजायत तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपतत् ता इमाः प्रतता आपः तद्धिरण्मयमण्डमभवत् तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत' 'स प्रजापतिः पुष्करणपर्णे समभवत्' इति महोपनिषदाद्युक्तक्रमेण नारायणस्य परत्वबोधकं ब्रह्मरुद्रयोः नारायणप्रसादक्रोधजत्वं सर्गप्रलयसामान्यस्यापि तत्प्रवर्त्यत्वं ब्रह्मरुद्रयोः तच्छासनानुसारेण सृष्टिसंहारकारकत्वं सर्वप्राणिवरप्रदत्वं च रुद्राराधकानां रुद्रेण वरदानस्य भगवच्छासनम्लकत्वोपपादकम् -

कपर्दीजटिलो मुण्डः। नारायणात्मको1 ज्ञेयः पाण्डवेय युगे युगे ॥

▼ दीधिति:

1 नारायणात्मक इत्यत्र आत्मशब्द: 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इत्यादिश्रुत्यनुसारात् अन्तःप्रविश्य नियन्तृवचन इति भावः ॥

इत्यन्तेन रुद्रस्य नारायणान्तर्यामिकत्वं तेन च

अस्मिन्हि पूज्यमाने हि देवदेवे महेश्वरे । सम्पूजितो भवेत्पार्थदेवो नारायणः प्रभुः ॥

इत्यनेन2 शरीरपूजायाः शरीरिपर्यवसानवत् 3रुद्रपूजायाः नारायणे पर्यवसानम्

▼ दीधितिः

2 शरीरपूजाया इति । अयं राजेति ज्ञानविधुरेणापि पुंसा राजशरीरे अर्पितं पुष्पमालादिकं राजप्रीतिकरं भवत्येवेति सर्वजनविदितमेतत् ॥

3 रुद्रपूजाया इति । रुद्रान्तर्यामी नारायण इति ज्ञानाभावेपि रुद्रपूजा नारायण एव पर्यवस्यति तदुक्तं गीतायाम् -

> येप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ इति

कृष्णस्य रुद्रपूजनं लोकानुष्ठापनेन स्वदत्तवरपालनार्थम्®

1 अहमात्मा हि लोकानां 2 विश्वेषां पाण्डुनन्दन ॥ २३ ॥

▼ दीधितिः

1 एतेन 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनाना'मिति श्रुतिः अन्तर्यामिब्राह्मणं च नारायणपरमिति ख्यापितम् । अयमर्थः शाङ्कर (बृ. आ.) भाष्यवार्तिकादिवाक्यैः 'ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा' इति श्लोकविवरणावसरे स्थिरीकरिष्यते ॥

2 एतेन विश्वान्तर्यामित्वं भगवतः रुद्रान्तर्यामित्वमन्तरा न घटते तेन च उत्तरार्धगतरुद्रशब्दोऽपि रुद्रान्तर्यामिपर इति द्योतितम् ॥

तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम् । 3 यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम् ॥ २४ ॥

▼ दीधितिः

3 एतावता भगवतः रुद्रान्निकर्षो नास्तीति सिद्धया रुद्रपूजामन्तरैव स्थितिसंभवे रुद्रपूजनं किमर्थमिति शङ्कायां पूर्वं रुद्राय स्वेन दत्तस्य वरस्य कार्यकारित्वसंपादनार्थमित्यभिप्रेत्याह यद्यहमित्यादिना ॥

> आत्मानं नार्चयेत्कश्चिदिति मे भावितात्मनः । मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते ॥ २५ ॥ प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम् । यस्तं4 वेत्ति स मां वेत्ति योऽनुतं स हि मामनु ॥ २६ ॥ रुद्रनारायणश्चैव सत्वमेकं द्विधा कृतम् ।

▼ दीधितिः

4 ज्ञानिनां विशेषमाह यस्त्वं वेत्तीत्यादिना 'नारायणात्मको ज्ञेयः,

एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ । निमित्तमात्रं सर्वप्राणिवरप्रदौ

इति पूर्वोक्तेन यथावस्थिताकारेण वेत्तीत्यर्थः ॥

विष्णोस् स्वान्य-देवं प्रति प्रणामस्य विरहः \$

लोके चरित कौन्तेय 1 व्यक्ति-स्थं सर्वकर्मसु ॥ २७ ॥ 2 न हि मे केनचिद्देयो वरः पाण्डवनन्दन । इति सञ्चिन्त्य मनसा पुराणं रुद्रमीश्वरम् ॥ २८ ॥

▼ दीधिति:

1 एकमित्यस्यात्राप्यनुषङ्गः । व्यक्तिस्थम् । तत्तद्देवताव्यक्तिस्थं तत्तद्देवतान्तर्यामीति यावत् । 'अहमात्मा हि लोकानां, 'व्यक्तिस्थं सर्वकर्मसु' इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां वासुदेवस्य सर्वकर्मसमाराध्यत्वं निर्णीतम् ॥

2 नहीति । एतेन कृष्णस्य रुद्राराधनं वरलाभार्थमिति भ्रमो व्युदस्तः ॥

पुत्रार्थम् आराधितवान् अहम् आत्मानम् आत्मना । 3 न हि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद् विबुधाय च ॥ २९ ॥ ऋते आत्मानम् एवेति ततो रुद्रं नमाम्यहम् ।

▼ दीधितिः

3 तदेव द्रढयति नहीति ॥

इत्यन्तेन सर्वान्तर्याम्यहमेवेति रुद्रान्तर्यामिण4मात्मानं पूजयामि रुद्रस्य 4'वरदानाधिकारसङ्कल्पं मत्कृतमनुसृत्य लोकः प्रवर्तते । मया रुद्रपूजाया अकरणे श्रेष्ठजा[[ज??]]नाचारानुसारी लोकोऽपि रुद्रपूजां जह्यात् । तथासति रुद्रस्य वरदानाधिकारसङ्कल्पस्य मदीयस्य भङ्गस्स्यात् । नारायणात्मकं रुद्रं यो वेत्ति स मां वेत्ति यो नारायणात्मकं रुद्रमनुसरति स मामनुसरति नारायणात्मको रुद्रो नारायणश्चैकं तत्त्वं विशिष्टं विशेषणविशेष्यभावेन द्विधा कृतं न मे केनचिद्वरो देयः न हि विष्णुः कस्मैचिद्विबुधाय प्रणमति । अतः पुत्रार्थं रुद्रान्तर्यामिणमेवाराधितवान्नमामि च ।

▼ दीधितिः

(४ ना. ६ अ. ६७.९ अ. २०) इत्यत्र साक्षात् । (८ अ. ७७) इत्यत्र परम्परया वरदानाधिकारस्योक्तेरिति भावः ॥

नारायणस्य ब्रह्मरुद्रादिभ्यश्श्रेष्ठत्वेन पूज्यतादि®

इति नारायणललाटोद्भूतस्य तदा दर्शितमार्गेण संहारकारकस्य तदनुग्रहलब्धवरदानशक्तिमतो नारायणात्मकस्य प्रादुर्भावदशायां स्वानुशासकत्वेन 1पूर्वं हयशिरसाऽनुगृहीतस्य रुद्रस्य पूजनेऽपि न स्वस्य रुद्रान्निकर्ष इति प्रख्यापनम्

2 सब्रह्मकाः 3 सरुद्राश्च सेन्द्रा देवाः सहर्षिभिः ॥ ३० ॥

▼ दीधितिः

1 ना. ६. ६६ ॥

2 नारायणस्य सर्वदेवताश्रेष्ठत्व, सर्वदेवतार्च्यत्वकथनमुखेन 'नहि मे' नहि विष्णुः' इत्युक्तमर्थं साधयति 'स ब्रह्मका' इत्यादिना ॥

3 अत्र रुद्रस्य ब्रह्मतदितर इन्द्रादिदेवऋषिघटितसमुदायान्तर्भावस्य कथनेन नारायणस्य सर्वसुरश्रेष्ठत्वाभिधानेन हरिमित्यनेन

किञ्च ब्रह्मा च रुद्रश्च । प्रळयं न विजानन्ति आत्मनः'

(ना. ८. ११.) इति पूर्वोक्तरीत्या रुद्रसंहर्तृत्वप्रकाशनेन च पूर्वं रुद्रनारायणयोः स्वरूपैक्यं न विवक्षितमिति स्फुटमावेदितम्अ अत्र

> अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणम् हरिम् । भविष्यतां वर्तताञ्च भूतानां चैव भारत ॥ ३१ ॥ सर्वेषामग्रणी4र्विष्णुस्सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः । नमस्व हव्यदं विष्णुं तथा शरणदं नमः ॥ ३२ ॥

▼ दीधितिः

4 अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् । सर्वेषामग्रणीर्विष्णुस्सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः ।

इत्युभाभ्यां विष्णुनारायणयोः स्वरूपैक्यं सिद्धम् ॥

वरदं नमस्व कौन्तेय हव्यकव्यभुजं नमः ।

इति नारायणस्य ब्रह्मरुद्रादिसर्वदेवाराध्यत्वम् । तदवतारभूतस्य त्रिमूर्तिमध्यगतस्यापि विष्णोस्सर्वोत्तमत्वं हव्यकव्यभुक्त्वम्

भक्तचातुर्विध्यं तत्रैकान्तिनां श्रेष्ठता®

▼ दीधितिः

1 ब्रह्मरुद्रादिभक्तापेक्षया भगवद्भक्तस्योत्कर्षकथनमुखेन भगवतः सर्वस्मात्परत्वं 'चतुर्विधा भजन्ते माम् (७.१४) इति गीतैककण्ठ्येन बोधयितुमुपक्रते । 'चतुर्विधा मम जना' इत्यादिना ॥

2 अत्र भक्ता एवेत्येवकारेण अभक्तः ज्ञानी नास्तीति बोधनमुखेन भक्तित्वानाक्रान्तं ज्ञानं न कार्यकरमित्यर्थस्यावेदनेन 'ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिः' इत्यन्वयेन गीतोक्तार्थः व्यतिरेकेणोक्तः ॥

तेषाम् 3एकान्तिनः श्रेष्ठाः ते चैवा4नन्यदेवताः । अहमेव 5गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् ॥ ३४ ॥ ये तु शिष्टास्त्रयो भक्ताः6 फलकामा हि ते मताः ।

▼ दीधितिः

3 एकत्र, सुरश्रेष्ठे नारायणे 'अन्तः' पूर्वोक्तरीत्या श्रेष्ठत्वस्य निर्णयेन 'अहमेव गतिस्तेषामिति वक्ष्यमाणदिशा प्राप्यत्वस्य निश्चयः येषां ते एकान्तिनः एतत्स्थाने 'एकभक्ति' रिति गीता ॥

4 निश्चयफलमाह । अनन्यदेवता इति । अन्याः 'मम' इत्यत्रोक्तवासुदेवव्यतिरिक्ताः 'सब्रह्मकाः' 'ब्रह्माणं शितिकण्ठं च' इति पूर्वं परत्र च शब्दत उक्ताः ब्रह्मरुद्रादिदेवताः स्वोपास्या न विद्यते येषां ते अनन्यदेवताः । नारायणस्य सर्वस्मात्परत्वनिश्चयेन देवतान्तरभक्तिविधुराः इति फलितम् ॥

5 गतिः प्राप्यः, 'मामेवानुत्तमां गतिम्, ७. १८. 'मद्भक्ता यान्ति मामपि ७.२३. इति हि गीता ॥

6 अत्र फलपदं 'अहमेव गति'रिति पूर्वमुक्त्या भगवद्व्यतिरिक्तः फलपरम् 'ये तु' इत्यत्र तुशब्देन फलकामानां भगवतः प्राप्यत्वनिश्चयवैधुर्येण एकान्तिवैलक्षण्यबोधनाच्च ॥

अन्यभक्तानां नश्वरं फलं प्रतिबुद्धानां मोक्षः विष्णोरेव मुक्तिप्रदत्वम्®

सर्वे च्यवनधर्माणः 1 प्रतिबुद्धस्तु 2 मोक्षभाक् ॥ ३५ ॥

▼ दीधितिः

1 पूर्वोक्तएकान्त्येव प्रतिबुद्धशब्देन बोध्यते । 'चतुर्विधा मम जना भक्ता एव, इति उपक्रम एवास्य भक्तत्वं स्फुटम् । प्रतिबोधे च नारायणकटाक्षः हेतुरिति नारायणेन दृष्टस्तु प्रतिबुद्धो भवेत्पुमान् । एवमात्मेच्छया राजन्प्रतिबुद्धो न जायते ॥

इति (नारा १७७५) इत्यत्र वक्ष्यते ।

2 अत्र 'प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्' इत्येव पाठः प्राचीनलिखितकोशेषु तदनुसारि (वा-रा-शा) मुद्रितकोशेऽपि दृश्यते । आचार्यपादसम्मतश्च ॥

शङ्कराद् ज्ञानमन्विच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् । इति स्मृतौ -

> बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः । कैवल्यदः परम्ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः ॥

इति (भाग ११ - ११) श्रीधरोदाहृतस्कान्दवचने -

एष नो मोक्षदाता च एषमार्ग उदाहृतः । ध्यात्वा मां सर्वयत्नेन ततो जानीत केशवम् ॥ उपास्योयं सदा विप्राः उपायोस्मि हरेः स्मृतौ ।

इति हरिवंशे कैलासयात्राप्रकरणे मुनीन्प्रति रुद्रोक्तौ -

मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ।

इति (हरि कै. या. प्र. १२४ अ.) कृष्णं प्रति शिवभक्तघण्टाकर्णेन शिववचनस्यानूक्तौ च विष्णोरेव मोक्षप्रदत्वं स्पष्टम् ।

रुद्रस्य मुक्तिहेतुज्ञानदत्व-मात्रम्®

अत एव परव्याख्यातृभिरादृतायां रामतापनीयोपनिषदि -

श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः । मन्वन्तरसहस्रैस्तु जपहोमार्चनादिभिः ॥ ततः प्रसन्नो भगवाञ्छ्रीरामः प्राह शङ्करम् । वृणीष्व यदभीष्टं तद्दास्यामि परमेश्वर ॥ इति ॥

ततः सत्यानन्दचिदात्मानं श्रीराममीश्वरः पप्रच्छ -

मणिकर्ण्यां वा मत्क्षेत्रे गङ्गायां वा तटे पुनः । म्रियते देहि तज्जन्तोर्मुक्तिं नातो वरान्तरम् ॥ इति ॥

अथ होवाच श्रीरामः -

क्षेत्रेऽत्र तव देवेश यत्र कुत्राऽपि वा मृताः । क्रिमिकीटादयोऽप्याशु मुक्ताः सन्तु न चान्यथा ॥ अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये । अहं संनिहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु ॥ क्षेत्रेऽस्मिन्योऽर्चयेद्भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव । ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ त्वचो वा ब्रह्मणो वाऽपि ये लभन्ते षडक्षरम् । जीवन्तो मन्त्रसिद्धास्स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते ॥ मुमुक्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम् । उपदेक्ष्यसि तन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥

इत्युक्तिस्सङ्गच्छते । एतेन 'रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षीभवति' (जा-उ-१) इत्यत्र रामतारकं विवक्षितं तेन तत्रैवोत्तरत्र 'किं जप्येनामृतत्वं शतरुद्रीयेणेत्येतानि वा अमृतस्य नामधेयानि' इत्येतदिप परं परयेतिसिद्धम् 'यश्शतरुद्रीयमधीते अनेन ज्ञानमाप्नोति तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं फलमश्रुते' (कै-उ) इत्यत्रापि वेदवेद्यपुरुषशब्दवाच्यवासुदेवज्ञानद्वारकमेव कैवल्यं विवक्षितमिति बोध्यम् ॥

विष्णुभिन्नदेवानां प्रतिबुद्धासेव्यत्वं परिमित-फल-दातृत्वं च®

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चा1न्यादेवताः स्मृताः । 2 'प्रतिबुद्धा न'3 सेवन्ते यस्मात्परिमितं फलम् ॥ ३६ ॥

- ▼ दीधितिः
 - 1 सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवास्सहर्षिभिः ।

इति पूर्ववचनानुसाराद्विष्णोरपि व्यतिरिक्ता इन्द्रादिदेवता एव अन्या देवताः ।

2 अयमेवपाठः प्राचीनलिखितकोशेषु तदनुसारि (वा-रा-शा) मुद्रितकोशे च दृश्यते शिवतत्त्वविवेकेऽप्ययमेव पाठ आदृतः

> कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः । (गी. ७-२०) अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ॥ (गी. ७-२३)

येऽप्यन्यदेवता भक्ताः यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः । (गी. ९-२३) न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ (गी. ९-२४)

इत्यादिगीतैकार्थ्यादयमेव पाठो युक्तः । न तु

प्रबुद्धचर्यास्सेवन्तो मामैवैष्यन्ति यत्फलम् ॥

इत्याधुनिकमुद्रितकोशपाठः । नारायणस्यैव सर्वदेवेभ्यः परत्वं ह्यस्मिन्प्रकरणे प्रतिपाद्यते । परदेवताभक्तानामेव परफलप्राप्तिः न अवरदेवताभक्तानाम् इत्यर्थ एवात्र प्रतिपिपादयिषितः । अतः 'प्रतिबुद्दा[[द्धा??]] न सेवन्त' इत्यादिपाठ एव युक्तः ॥

3 एतेन उपक्रमे 'भक्ता' इत्यत्र भज सेवायामिति धातुरेव विवक्षित इति बोधितम् । तेन च भगवदेकान्तभक्ताः देवतान्तरभक्ता न भवन्तीति पर्यवसायितम् । प्रतिबुद्धशब्दार्थस्तु पूर्ववत् ॥

भक्तम्प्रति विशेषस्ते एष पार्थानुकीर्तितः । 4 त्वं चैवाहं च कौन्तेय नरनारायणौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥

▼ दीधितिः

4 अत्रार्जुनस्य गौणप्रादुर्भावतैव जीवत्वात् एतेन रुद्रस्यापि गौणप्रादुर्भावत्वमेव । बुद्धपरशुरामादिवदिति व्याख्यातम् ॥

> भारावतरणार्थं तु प्रविष्टौ मानुषीं तनुम् । जानाम्यध्यात्मयोगांश्च योऽहं यस्माच्च भारत ॥ ३८ ॥

कृष्णहयशिरसोर् ऐक्यम्®

इत्यनेन ब्रह्मरुद्रयोर्मोक्षव्यतिरिक्तफलदानसामर्थ्यस्य दानेऽपि स्वमात्रभक्तानां मोक्षव्यतिरिक्तफलकामानां स्वेनैव तल्लाभः स्वमात्रभक्तानामितरभक्तापेक्षया श्रेष्ठ्यं तत्रापि प्रतिबुद्धानां निराशीःकर्मकारिणां स्वस्यैव प्राप्यत्वं प्रापकत्वं मोक्षस्य नित्यत्वम् । तदितरफलस्यानित्यत्वं स्वेतरदेवतानां परिमितफलदातृत्वेन प्रतिबुद्धासेव्यत्वम् इति भगवद्भक्तस्य विशेषः । स्वस्य सर्वलोकात्मत्वस्य पूर्वोक्तस्य स्थापनाय नारायणावतारत्वम्, अर्जुनस्य नरावतारत्वं चाभिधाय नारायणादिनाम्नां निर्वचनम् ॥

१०-११ विश्वरूपवृत्तान्तादि @

दशमे विश्वरूपवृत्तान्ते — 'इन्द्रो दधीचोस्थभिः' 1'अथाब्रवीद्वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व' इत्यादिश्रुत्यर्थनिष्कर्षणम् ॥

▼ दीधिति:

1 एतत्तत्वं हयशिरोवतारश्लोकविवरणावसरे व्यक्तीभविष्यति ॥

एकादशे, केषाञ्चिन्नाम्नां निर्वचनानन्तरं (३२-३५) श्लो. भगवतस्सर्ववेदप्रवर्तकत्वम्

यत्तद्धयशिरः पार्थ समुदेति 2वरप्रदम् । सोऽहमेवोत्तरे भागे क्रमाक्षरविभागवित् ॥ ३६ ॥

इत्यनेन हयशिरसः क्रमाक्षरविभागवित्त्वं वरप्रदत्वं कृष्णैक्यं च ।

▼ दीधिति:

2 अहं हयशिरा भूत्वा समुद्रे पश्चिमोत्तरे । पिबामि सुहृतं हव्यं कव्यं च श्रद्धायाऽन्वितम् ॥ ना. ६.६०

इति पूर्वोक्तार्थः वरप्रदशब्देन विशदीकृतः ॥

दक्षयज्ञे रुद्र-नारायणयोर् युद्धम्®

मुञ्जकेशनामनिर्वचनप्रसङ्गे दक्षयज्ञे रुद्रनारायणयोर्युद्धम् -

अहं प्रसादजस्तस्य कुतश्चित्कारणान्तरे । त्वं चैव क्रोधजस्तात पूर्वसर्गे सनातनः ॥ ६२ ॥

रुद्रेण नारायणस्य प्रसादनं ततस्तस्य रुद्रप्रीतिः उभयोश्छिद्रविरहश्च®

मया च सार्धं 1 वरदं विबुधैश्च महर्षिभिः । प्रसादयाशु लोकानां शान्तिर्भवतु मा चिरम् ॥ ६३ ॥ ब्रह्मणा त्वेवमुक्तस्तु रुद्रः क्रोधाग्निमुत्सृजन् । प्रसादयामास ततो देवं नारायणं प्रभुम् ॥ शरणं च जगामाद्यं वरेण्यं1 वरदं2 हरिम् ॥ ६४ ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र वरदपदद्वयेन भगवतः प्रसादकोधजयोरुभयोः तस्यैव वरप्रदत्वस्योक्त्या ब्रह्मरुद्राभ्यां परत्वं स्फुटम् ॥ 2 इलोपहूतं गेहेषु हरे भागं ऋतुष्वहम् । वर्णो मे हरितश्रेष्ठः तस्माद्धरिरहं स्मृतः ॥

इति अत्रैव (११-३) निर्वचनाद्यनुसारेण ब्रह्मरुद्रादिसर्वदेवकृतयज्ञभागहर्तारम् इति हरिमित्यस्यार्थः ॥

> ततोऽथ वरदो देवो जितक्रोधो जितेन्द्रियः । प्रीतिमानभवत्तत्र रुद्रेण सह सङ्गतः ॥ ६५ ॥ ऋषिभिर्ब्रह्मणा चैव विबुधैश्च सुपूजितः ॥ उवाच देवमीशानमीशः 3स जगतो हरिः ॥ ६६ ॥

▼ दीधितिः

3 'ईशस्स जगत' इत्यत्र जगत इति पदेन ईशानपदार्थस्य रुद्रस्य जगदीशत्वं नास्तीति सूचितम् ॥

य4स्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु । नावयो5रन्तरं किश्चिन्मा तेऽभूद्बुद्धिरन्यथा ॥ ६७ ॥

▼ दीधितिः

4 मत्क्रोधजं मदनुग्रहाधीनवरलाभवन्तं त्वां वेत्ति इत्यर्थः पूर्वं 'त्वं चैव क्रोधज' इत्यत्र रुद्रस्य क्रोधजत्वस्य 'वरद'मित्यनेन भगवदनुग्रहाधीनवरलाभवत्वस्य च बोधनात् ॥

5 अन्तरं छिद्रं, छिद्रं, दूषणमिति मेदिनीछिद्राण्यस्य तु वाञ्चन्ति यज्ञघ्नाः ब्रह्मराक्षसाः । प्रहरेदन्तरे रिपुम् ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे, इत्थं च पितापुत्रयोः स्वामिभक्तयोः नारायणरुद्रयोः छिद्रं न सम्भवतीति भावः । एवञ्च -

प्रीतिमानभवत्तत्र रुद्रेण सह सङ्गतः ।

इति पूर्वश्लोकार्थः पोषितो भवति ।

ब्रह्म-रुद्र-दत्त-हव्य-कव्यानां भागवत-प्रिय-भगवच्-चरण-सविध-वर्तित्वम्®

इत्यनेन ब्रह्मरुद्रयोः भगवत्प्रसादक्रोधजत्वं रुद्रेण शरणवरणेन भगवतः प्रसादनं ततो भगवता रुद्रे प्रीतिकरणं नारायणजन्यत्वेन रुद्रस्य ज्ञाने भगवतोऽपि ज्ञानं पितापुत्रयोस्साक्षात्स्वामिभक्तयोः नारायणरुद्रयोः किञ्चिदन्तरं नास्तीति प्रतिपाद्य अर्जुनं प्रति भगवता स्वक्रोधजस्य रुद्रस्य नन्तव्यत्वस्य कथनं प्रतिवचनसमापनं च ॥

१२ एकान्ति-भावः 4

द्वादशे श्वेतद्वीपाद् बदरिकाश्रमं गतेन नारदेन -

तत्र ये पुरुषाः श्वेताः पञ्चेन्द्रिय-विवर्जिताः । प्रतिबुद्धाश् च ते सर्वे भक्ताश्च पुरुषोत्तमम् ॥ ५३ ॥ तेऽर्चयन्ति सदा देवं तैः सार्धं रमते च सः । प्रियभक्तो हि भगवान् परमात्मा द्विजप्रियः ॥ ५४ ॥ रमते सोऽर्च्यमानो हि सदा भागवत-प्रियः ॥ ५५ ॥ साङ्गान् आवर्तयन् वेदांस् तपस् तेपे सुदुश्चरम् । यद्ब् रह्मा ऋषयश् चैव स्वयं पशुपतिश् च1 यत् ॥ ६२ ॥

▼ दीधितिः

1 'सब्रह्मकाः सरुद्राश्च' इति पूर्वत्रैव रुद्रस्यापि विष्णुभक्तत्वविष्णुप्रियतरत्वप्रतिपादनेन 'प्रीतिमानभवत्तत्र' इति पूर्वोक्तार्थः अत्राऽपि परिपोषितो भवति ॥

> हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते । कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठतः ॥ ६३ ॥

एकान्तिदत्तानां भगवता शिरसा प्रतिग्रहः®

1 याः क्रियाः सम्प्रयुक्तास्स्युरेकान्तगतबुद्धिभिः । ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ॥ ६४ ॥

▼ दीधितिः

1 ब्रह्मरुद्राद्यपेक्षया अनन्यप्रयोजनभगवद्भक्तानां विशेषं दर्शयति । 'याः क्रिया' इत्यादिना । एतेन 'ब्रह्माणं शितिकण्ठञ्च प्रतिबुद्धा न सेवन्ते' इति पूर्वाक्तार्थो दृढीकृतः ॥ न तस्यान्यः प्रियतरः प्रतिबुद्धैर्महात्मभिः । विद्यते त्रिषु लोकेषु ततोऽस्म्यैकान्तिकं गतः ॥ ६५ ॥

इत्यादिना एकान्तिषु प्रतिबुद्धेषु ब्रह्मारुद्राद्यपेक्षया भगवतोऽधिकप्रीतिः ।

१३ पञ्चरात्रोक्तक्रममुक्तिः @

त्रयोदशे नरनारायणाभ्यामुक्तार्थमनूद्य

ये तु दग्धेन्धनालोके पुण्यपापविवर्जिताः । तेषां वै क्षेममध्वानं गच्छतां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥ सर्वलोक तमोहन्ता आदित्यो द्वारमुच्यते । ज्वालामाली महातेजा येनेदं धार्यते जगत् ॥ १४ ॥ आदित्यदग्धसर्वाङ्गा अदृश्याः केनचित्क्वचित् । परमाण्वात्मभूताश्च तं देवं प्रविशन्त्युत ॥ १५ ॥ तस्मादिप च निर्मुक्ता अनिरुद्धतनौ स्थिताः । मनोभूतास्ततो भूयः प्रद्युम्नं प्रविशन्त्युत ॥ १६ ॥ प्रद्युम्नाच्चापि निर्मुक्ता जीवं सङ्कर्षणं ततः । विशन्ति2 विप्रप्रवराः 3साङ्ख्यायोगाश्च तैः सह ॥ १७ ॥

▼ दीधितिः

2 अत्र 'विप्रप्रवरा' इति उत्तरत्र 'द्विजश्रेष्ठा' इति पदद्वयेन पञ्चरात्रे तत्प्रतिपाद्यधर्मे च पतितकुण्डगोलकादीनामेव अधिकारः (तं.अ.नि.) इति गुरुद्रोहिदीक्षितोक्तिरपाकृता ॥

3 एतेन पञ्चरात्रसाङ्ख्ययोगानाम् एैकरस्यमाविष्कृतम् । एतच्चोत्तरत्र 'एवमेकं साङ्ख्ययोगं पञ्चरात्रं च कथ्यते', (ना. आ. १७-८१) इत्यत्र व्यक्तीभविष्यति ॥

ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा । प्रविशन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्षेत्रज्ञं निर्गुणात्मकम् । सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः ॥ १८ ॥ समाहितमनस्काश्च नियताः संयतेन्द्रियाः । एकान्तभावोपगता वासुदेवं विशन्ति ते ॥ १९ ॥

इत्यादिना1 पञ्चरात्रोक्तक्रममुक्तिप्रकारवर्णनम् ।

▼ दीधितिः

1 जयत्सेनसंहितादौ (र-सा) गतिचिन्तनाधिकारे ।

१४ विष्णोस् सर्व-कर्म-समाराध्यता @

चतुर्दशे वराहरूपधारिणा भगवता भूम्युद्धरणकाले स्वदंष्ट्राविलग्नानां त्रयाणां मृत्पिण्डानां धूननं भूमौ कुशानास्तीर्य आत्मानमुद्दिश्य तेषामेव स्थापनादिकम् । तेन लोके मर्यादा प्रतिष्ठापनम् । ततः -

ये यजन्ति पितॄन्देवान्गुरूश्चैवातिथींस्तथा । गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पितरं मातरं तथा ॥ २५ ॥ कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते । अन्तर्गतः स भगवा2न्सर्वसत्वशरीरगः ॥ २६ ॥

▼ दीधितिः

2 एतेन वेदमन्त्रघटकतत्त्तद्देवताबोधकशब्दानां तत्तद्देवतान्तर्यामिपरत्वं स्फोरितम् ।

समः सर्वेषु भूतेषु ईश्वरः सुखदुःखयोः । महान्महात्मा सर्वात्मा नारायण इति 3 श्रुतिः ॥ २७ ॥

▼ दीधितिः

3

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्स्थितः ॥ अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा । सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति

इत्यादिकाश्श्रुतयः ॥

इत्यादिना सर्वान्तर्यामिणो विष्णोस्सर्वकर्मसमाराध्यत्वम् ।

१५ विष्णु-द्वेषे पितृ-दण्डः 👁

[[विष्णुद्वेषे पितॄणां नरके पतनम्]]

पञ्चदशे -

1 नैव तस्या परो लोको नायं पार्थिवसत्तम । कर्मणा मनसा वाचा योद्विष्याद्विष्णुमव्ययम् ॥ ५ ॥

▼ दीधितिः

गीतायास् सात्त्वत-धर्म-संग्रहता

1 मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः । (गी. १६-१८) तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ (गी. १६-१९)

इति गीतोक्तार्थं प्रकटीकरोति 'नैव तस्ये'त्यादिना पूर्वं 'सर्वसत्वशरीरगः' इत्यनेन गीतायां 'मामात्मपरदेहेषु' इत्यस्यार्थ उक्तः तेन च 'यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाऽविधिपूर्वकम्' इति तत्पूर्वगीतावाक्ये 'अविधिपूर्वकम्' इत्यत्र 'ये त्वन्यदेवता भक्ताः' 'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' इति गीतानवमोक्तार्थोऽपि विवक्षित इति व्यञ्जितम् ॥

मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः । यो द्विष्याद्विबुधश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ॥ ६ ॥ कथं नाम भवेद्द्वेष्य आत्मा लोकस्य कस्यचित् । आत्मा हि पुरुषव्याघ्र ज्ञेयो विष्णुरिति श्रुतिः ॥ ७ ॥

इत्यादिना सर्वान्तर्यामिविष्णुद्वेषे पितृणां नरके पतनं

नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः । एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप ॥ ९ ॥ एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम । कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ १० ॥

इत्यादिना भगवद्गीतायाः (वासुदेवमात्रप्रतिपादिकायाः)पाञ्चरात्रिकधर्मसङ्ग्रहरूपत्वं चेत्येतत्सर्वं न्यरूपयत् ॥

१७ सात्त्वतधर्मः @

सात्त्वतधर्मस्य ऋग्वेदमूलकत्वं ब्रह्मणो जन्मसप्तके आविर्भावतिरोभावौ च®

सप्तदशे हयशिर उपाख्यानानन्तराध्याये -

अहोकान्तिनस् सर्वान् प्रीणाति भगवान्हरिः । विधिप्रयुक्ताम्पूजां च गृह्णातिशिरसा स्वयम् ॥ केनैष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा । एकान्तिनां च का चर्या कदा चोत्पादिता विभो ॥

इति (ज) प्रश्नस्य प्रतिवचने -

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृथे । अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥ गहनो ह्येष धर्मो वै दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः । संमितः सामवेदेन पुरैवादियुगे कृतः । धार्यते स्वयमीशेन राजन्नारायणेन ह ॥

इत्यनेन पुरातनस्य एकान्तिधर्मस्य गीतोक्तत्वं ब्रह्मणो मानसचाक्षुषवाचिकजन्मसु अस्य धर्मस्याविर्भावतिरोभावौ

ऋग्वेदपाठपठितं व्रतम् एतत् तु दुश्चरम् ।

इत्यनेन ऋग्वेदपठितत्वं ब्रह्मणश्श्रावणजन्मन्यपि तथैवाविर्भावतिरोभावौ

ततो हि सात्त्वतो धर्मो व्याप्य लोकानवस्थितः ।

इत्यनेन गीतोक्तिकान्तिधर्माभिन्नस्य सात्वतधर्मस्य कृतयुगे व्याप्तिं त्रेतायुगे ब्रह्मणो ना(सिक्य)सत्यजन्मनि अण्डजजन्मनि च आविर्भावतिरोभावौ

> यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप । तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन ह ॥ ४८ ॥

तस्य कृत-त्रेता-युग-व्याप्तिः गीतोक्तदिशा परम्पराप्राप्तिश्च®

पितामहाय शुद्धाय युगाादौ लोकधारिणे । पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ ॥ ४९ ॥ ततो ज्येष्ठे तु दौहित्रे प्रादाद्दक्षो नृपोत्तम । आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वान् जगृहे ततः ॥ ५० ॥ त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ । मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥ ५१ ॥ इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।

इत्यादिना 'इमं विवस्वते योग'मिति गीतोक्तदिशा सात्त्वतधर्मस्य परम्पराप्राप्तत्वं त्रेतायुगेऽपि व्याप्तिम् ॥ कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ५३ ॥ नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यस्ससंग्रहः । एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्न[[न्ना??]]रायणान्नृप ॥ ५ ॥ एवमेष महान्धर्म आद्यो राजन्सनातनः । दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च सात्त्वतैर्धार्यते सदा ॥ ५५ ॥

धर्मज्ञानेन चैतेन सुप्रयुक्तेन कर्मणा ।

1 अहिंसाधर्मयुक्तेन प्रीयते हरिरीश्वरः ॥ ५६ ॥

▼ दीधितिः

1 अहिंसेति कृतयुगाभिप्रायम् । वस्तुतस्तु 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मीति' गीतैकार्थ्याज्जपयज्ञ एवात्र विवक्षितः । अत्रैव (ना. ७ अ) धर्मराजादीनामेतदाख्यानश्रवणानन्तरं 'नित्यं जप्यपराभूत्वा' इति जपयज्ञनिष्ठत्वोक्तेः । त्रेतायुगे -

प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे । (ना. ८-८२).

इति प्रत्यक्षपशुवधस्य, अत्रैतद्धर्मस्य व्याप्तेश्चाभिधानेन पशुहिंसानिषेधविवक्षायाः वक्तुमशक्यत्वाच्च । अत्र

> इतरेषु यज्ञेषु हिंसादिप्रसङ्गोऽधिकारिविशेषादिना विषयव्यवस्थापनम् इत्यादिमहान्क्लेशः । जपयज्ञे तु तत्प्रसङ्गाभावात् अव्याक्षेपेणार्थप्रतीत्या सहजयोगद्वारा सहसासमाधौ निवेशनाच्च यज्ञान्तरेभ्यो जपयज्ञः प्रशस्ततमः ।

इत्यादितात्पर्यचन्द्रिकासूक्तिरनुसन्धेया ॥

एक-द्वि-त्रि-चतुर्-व्यूह-विभागेन सात्त्वतैस् तस्यानुष्ठानम्®

1 एकव्यूहविभागो वा क्वचिद्दविव्यूहसंज्ञितः । त्रिव्यूहश्चापि संख्यातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते ॥ ५७ ॥

▼ दीधितिः

1 वासुदेव एको व्यूहः, वासुदेव नारायणौ द्वौ व्यूहौ, सत्याच्युतपुरुषाः त्रयो व्यूहाः इति पाद्मसंहितायां क्रियापादे (१८ अध्याये ५६, ५७ श्लो). सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धास्त्रय एव व्यूहा इति अहिर्बुध्न्यसंहितादौ च व्यक्तम् । एकः परवासुदेवः वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाः चत्वारो व्यूहा इति लक्ष्मीतन्त्रादौ स्फुटम् । तदनेन गीतायास्सङ्ग्रहत्वमुपपादितं भवति ॥

> हरिरेव हि क्षेत्रज्ञो निर्ममो निष्कलस्तथा ॥ ५८ ॥ यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत्स्यात्कुरुनन्दन ॥ ६२ ॥

अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतिहते रतैः । भवेत्कृतयुगप्राप्तिराशीःकर्मविवर्जिता ॥ ६३ ॥ एवं स भगवान्व्यासो गुरुर्ममविशांपते । कथयामास धर्मज्ञो धर्मराजे द्विजोत्तमः ॥ ६४ ॥ ऋषीणां सन्निधौ राजञ्शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ॥ ६५ ॥

इत्यनेन गीतायां सङ्ग्रहेणोक्तस्य पञ्चरात्रे विस्तृतस्य चातुरात्म्यवासुदेवाराधनधर्मस्य सात्वतैर्धार्यत्वम् । त्रेतादौ पर्वक्रमेण अनुष्ठातृविरलत्वं च

एवं प्रविरलं धर्मं प्रतिबुद्धैर्निषेवितम् ।

जन्म-काले दृष्टिः 🖲

मधुसूदनदृष्टस्यैव सात्त्विकता तेनैवोक्तधर्मस्याचरणम्®

न कुर्वन्ति कथं विप्रा आद्यं (अन्ये)1 नानाव्रते स्थिताः ॥ ६७ ॥

▼ दीधितिः

1 नानेति – मोक्षव्यतिरिक्तनानाफलार्थं नानादेवतोद्देशेनानुष्ठीयमानत्वं नानात्वम् ॥ इति (ज) प्रश्नस्य (वै) प्रतिवचने -

> तिस्रः प्रकृतयो राजन्देहबन्धेषु निर्मिताः । सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति भारत ॥ ६८ ॥ देहबन्धेषु पुरुषः श्रेष्ठः कुरुकुलोद्धह । सात्त्विकः पुरुषव्याघ्र भवेन्मोक्षाय निश्चितः ॥ ६९ ॥ एकान्तभक्तस्सततं नारायणपरायणः ॥ ७१ ॥ मनीषिणो हि ये केचिद्यतयो मोक्ष(धर्मिणः)काङ्क्षिणः । तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥ ७२ ॥ जायमानं हि पुरुषं यं पश्ये2न्मधुसूदनः । सात्त्विकस्सतुविज्ञेयस्स वै मोक्षार्थचिन्तकः ॥ ७३ ॥

▼ दीधितिः

2 अनन्तरपूर्वाध्याये हयशिरसः मधुसंहर्तृत्वोक्तेरत्र हयशिरा एव मधुसूदनशब्दार्थः ॥

साङ्ख्ययोगेन 3तुल्यो हि धर्म एकान्तिसेवितः । नारायणात्मके4 मोक्षे 5 ततो यान्ति पराङ्गतिम् ॥ ७४ ॥

▼ दीधितिः

3 एकान्तिधर्मस्य सांख्ययोगतुल्यत्वकथनेन न पञ्चरात्रस्य वेदाविरोधः किन्तु सांख्ययोगयोरेवेति भ्रमो निरस्तः ॥

4 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्या 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणे'ति कोशोक्तनिर्वाणरूपमोक्षत्वं नारायणस्येति बोध्यम् ॥

5 ततः एकान्तिधर्मात् नारायणादिति वा । द्वितीये फलस्योपायत्वप्रतिपादनेन उपायफलयोरैक्यमुक्तं भवति ॥

ब्रह्म-रुद्र-दृष्टयोः राजस-तामसते, त्रिवर्गपरता उक्तधर्मस्यासंस्पर्शश्च®

नारायणेन दृष्टस्तु प्रतिबुद्धो भवेत्पुमान् । एवमात्मेच्छया राजन्प्रतिबुद्धो न जायते ॥ ७५ ॥ राजसी तामसी चैव व्यामिश्रे प्रकृती (जिनितृ) स्मृते । तदात्मकं हि पुरुषं जायमानं विशांपते । प्रवृत्तिलक्षणैर्युक्तं नावेक्षति हरिः स्वयम् ॥ ७६ ॥ पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा 1 रुद्रोऽथ वा पुनः । रजसा तमसा चैव मानसं समभिद्रुतम् ॥ ७७ ॥

▼ दीधितिः

1 'ब्रह्मा रुद्रोऽथ वा पुनः' इति पाठ एव प्राचीनलिखितकोशेषु तदनुसारि (वा. रा. शा.) मुद्रितकोशे च दृश्यते । आचार्यपादसम्मतः, युक्तश्च न तु 'ब्रह्मा लोकिपतामहः' इति कल्पितः पाठोयुक्तः । सात्त्विकराजसतामसाधिकारित्रयनिरूपणपरेऽस्मिन्प्रकरणे जननकाले सत्त्वाधिष्ठातृविष्णुकटाक्षेण सात्त्विकत्वोक्तिवत् रजस्तमोऽधिष्ठातृब्रह्मरुद्रकटाक्षाभ्यां राजसत्वतामसत्वयोरभिधानस्यावश्यकत्वात् । ब्रह्मकटाक्षेण तामसत्वस्योपपादनासंभवात् । 'यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ सब्रह्मचारिणो योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ सब्रह्मचारिणो योऽयं ब्रह्माऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ सब्रह्मचारिणो योऽयं विष्णुः' (५-२) इति मैत्रायणीयश्रुतौ विष्णुब्रह्मरुद्राणां सत्त्वरजस्तमोधिष्ठातृत्वं स्फुटम् ॥

2एवमेकं साङ्ख्ययोगं वेदारण्यकमेव च । परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रञ्च कथ्यते ॥ ८१ ॥

▼ दीधिति:

2 अस्यार्थः (२-२-८) श्रीभाष्ये स्पष्टः ॥

एष एकान्तिनां धर्मो नारायण परात्मकः ॥ ८२ ॥ एष ते कथितो धर्मः सात्वतो यदुबान्धव ॥ ८४ ॥

साङ्ख्य-योगादि®

सांख्य-योग-वेद-पञ्चरात्राणाम् एकरसतां तन्त्र-निर्णयार्थम् आशङ्का च®

इत्थं हि दुष्करो धर्म एष पार्थिवसत्तम । यथैवत्वं तथैवान्ये न भजन्तीह मोहिताः ॥ ८७ ॥ कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा । संहारकारकश्चैव कारणं च विशांपते ॥ ८८ ॥

इत्यनेन जननकाले मधुसूदनकटाक्षविषयस्य सात्त्विकस्य प्रतिबुद्धस्य एकान्तिधर्मापरनामसात्वतधर्मेऽधिकारः । ब्रह्मरुद्रष्टृष्योः राजसतामसयोस्तत्रानधिकारः । 1 पूर्वं मोक्षधर्मे नारायणपरत्वेन प्रतिपादितयोः साङ्ख्ययोगयोः वेदारण्यकानां च एकतत्त्वप्रतिपादनपरत्वेनैक्यम् ।

▼ दीधितिः

1 (३०७ - ३०८, ३२३ - ३५७ अ).

पञ्चरात्रस्य तदुक्तार्थविशदीकरणरूपत्वम् अतस्सात्वतधर्मस्य साविकैः अनुष्ठेयत्वम् । मोहितैः तस्याननुष्ठानम् ॥

१८७

अष्टादशे 'एवमेकं साङ्ख्ययोगं पञ्चरात्रन्तु कथ्यते' इति श्लोकार्थनिर्णिनीषया जनमेजयेन कृतस्य साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति हि ॥ किमेतान्ये कनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने ॥

इति (ज) प्रश्नस्य (वै) प्रतिवचने -

साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि2 नाना मतानि वै ॥

▼ दीधितिः

2 "यानि पुनः साङ्ख्ययोगपाशुपतपञ्चरात्राणि तान्यपि धर्मशास्त्रभेदा एव परिशुद्धात्मचिन्तनरूपज्ञानयोगप्रदर्शनाधिकृतं शास्त्रं साङ्ख्यं समाधिपर्यन्तकर्मयोगनिष्ठं शास्त्रं योगः प्रतिबुद्धेतरविषयपशुपतिभजनप्रतिपादकं पाशुपतम् । प्रतिबुद्धविषयभगवदनन्यभजनोपदेशप्रवृत्तं तु शास्त्रं पञ्चरात्रम्, इति न्यायपरिशुद्धावाचार्यपादैरुक्तमिहानुसन्धेयम् । अत्र पृथङ्निष्ठानीत्यनुक्त्वा नानेत्युक्त्या वस्तुत एकनिष्ठानीत्यङ्गीकृतम् इति प्रतीयते ॥

सांख्यादीनां नारायण-निष्ठत्वं एतज्-ज्ञान-विरहिणां तामसत्वं च®

इत्युपक्रम्य साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः योगस्य च हिरण्यगर्भः, अपान्तरतमानामवेदाचार्यः, ब्रह्मणस्सुतः उमापतिः पाशुपतस्य, पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणस्स्वयम्1 इत्यभिधाय

▼ दीधितिः

1 स्वयमित्यनेन पुत्रचतुर्मुखपौत्ररुद्रकृतशास्त्रतो विशेषः ख्याप्यते । कृत्स्नस्येत्यनेन सर्वांशे प्रामाण्यं व्यज्यते ॥

> सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते । यथागमं2 यथान्यायं निष्ठानारायणः प्रभुः ॥

▼ दीधितिः

2 यथान्यायमिति । पुत्रपौत्राद्युत्कर्षस्य मूलपुरुषोत्कर्षपर्यवसानवत् ब्रह्मरुद्राद्युत्कर्षस्य तज्जनकनारायणोत्कर्षे पर्यवसानमिति भावः ॥

> न चैनमभिजानन्ति 3 तमोभूता विशाम्पते । तमेव शास्त्रकर्तारः 4 प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

▼ दीधिति:

3 तमोभूता इति । साङ्ख्ययोगादीनां नारायणपर्यवसायित्वमजानानाम् 'पश्यत्येनम्' इति (१७) इत्युक्तदिशा तामसत्वमेव जननकाले मधुसूदनकटाक्षविरहेण न सात्त्विकत्वमिति भावः ॥

4 अत्र शास्त्रकर्तार इत्येव प्राचीनकोशेषु पाठो दृश्यते आचार्यसम्मतश्च । शास्त्रकर्तारमिति पाठे शास्त्रपदं पञ्चरात्रमात्रपरम् अनेन साङ्ख्ययोगसूत्रेषु नारायणस्याप्रतिपादनेऽपि सूत्रकृत्तात्पर्यविषयत्वमस्तीति बोधितम् । पूर्वं 'कपिलेन आसुरिं प्रति जीवात्परस्योपदेशादन्यत्र साङ्ख्ययोगयोर्नारायणपरत्वस्याभिधानाच्च प्रापकप्राप्यनारायणभजनमन्तरा न मुक्तिरिति भावः ॥

निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति च वादिनः । निस्संशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः ।

प्राचीनसांख्ययोगयोर् वेद-पञ्चरात्रैकरसता 🔊

[[प्राचीनसांख्ययोगयोर् वेद-पञ्चरात्रैकरसता न तु विज्ञानभिक्षुसूत्रादीनाम्]]

1 ससंशयान् हेतुबलान्नाध्यावसति माधवः ॥

▼ दीधितिः

1 तमोभूताः इत्यादिपूर्वोक्तार्थं विशदयति ससंशयानित्यादिना ॥

पञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप । एकान्तभावोपगतास्ते हिरं प्रविशन्ति वै ॥ साङ्ख्यं च योगं च 2 सनातने द्वे वेदाश्च सर्वे निखिलेन राजन् । सर्वेस्समस्तैः ऋषिभिर्निरुक्तो नारायणो3 विश्वमिदं पुराणम् ॥

▼ दीधितिः

2 सनातनेत्यनेन प्राचीनसाङ्ख्ययोगसूत्रद्वयस्यैव वेदैककण्ठ्यम् । न तु नवीनषडध्यायात्मकसाङ्ख्यसूत्राणां साङ्ख्ययोगव्याख्यानानां चेति बोधितम् । एतेन विज्ञानभिक्षुभाष्यमूलसूत्राणि अन्यदर्शनसूत्राण्युदाहृत्य साङ्ख्यदर्शने कारिका एवोदाहरद्भिः प्राचीनैश्शङ्कराचार्यादिभिरनुदाहरणात्प्रामाणिकैरनादरणीयानीति सिद्धम् । अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ६-६८, इति सूत्रे पञ्चशिखशब्देनापि तत्सूत्राणां कापिलत्वं नास्तीत्यवसीयते एतत्सूत्राणां प्राचीनभोजराजवृत्तिस्तु न सम्प्रतिपन्ना ॥ 3 पञ्चरात्रवक्तुस्तत्प्रतिपाद्यस्य नारायणस्य सांख्यादिसर्वपर्यवसानभूमित्वं पूर्वमभिधायात्र पाशुपतशब्दं विहाय साङ्ख्ययोगवेदानां पञ्चरात्रप्रतिपाद्यतद्वक्तृनारायणपर्यवसानोपसंहारोक्त्या पाशुपतोक्ताचारादीनां त्रिवर्गनिष्ठैरेवोपादेयत्वं न मुमुक्षुभिरिति बोधितम् । सप्तदशे सात्त्विकादिभेदेनाधिकारित्रैविध्यमभिधायात्र साङ्ख्यादीनां नारायणपर्यवसानमजानतान्तमोभूतत्वोक्तेः 'एवमेकं साङ्ख्ययोगम्' 'साङ्ख्यं च योगं च' इति श्लोकद्वयेऽपि पाशुपतपदाप्रयोगा(८०)दुदाहृतवचने (ना. आ. १३-१७) साङ्ख्ययोगयोरेव पञ्चरात्रोक्तमुक्तिकथनान्नारायणपदाभ्यासाच्चेत्थमेवार्थः व्याससम्मत इति निर्धार्यते इत्याचार्यपादानामाशयः ॥

सांख्ययोगयोर् विभु-निर्गुण-बहु-पुरुषाभ्य्-उपगमेन वेदैकरस्यं न संभवतीतिशङ्का®

इत्यनेन पञ्चरात्रवक्तुर्नारायणस्यैव वेदवेद्यस्य साङ्ख्यादिष्वपि पर्यवसानभूमित्वं सांख्ययोगप्राचीनसूत्रकर्तृतात्पर्यविषयत्वम् एवं ज्ञानविरहस्य तमोमूलकत्वम् अस्मिन्नंशे निस्संशयेषु हरेर्नित्यसान्निध्यम् अत्र चांशे सन्दिहानेषु हैतुकेषु माधवसङ्गविरहम् । 'एवमेकं पञ्चरात्रन्तु कथ्यते' इत्युक्तप्रकारेण पञ्श्चरात्रं जानताम् एकान्तिनां हरेः प्राप्यत्वं पञ्चरात्रवक्तुः तत्प्रतिपाद्यस्य च नारायणस्यैव सनातनसांख्ययोगवेदारण्यकतात्पर्यविषयकत्वम् ॥

१९-२० सांख्य-वेदैकरस्यादि @

एकोनविंशे सांख्ययोगव्याख्यातृभिर् विभुबहुपुरुषाङ्गीकारेण सगुणस्य सर्वान्तर्याम्युपादनभूतस्य एकस्य पुरुषस्यानङ्गीकारेण च जातस्य सांख्ययोगवेदानाम् ऐकरस्यांशे संशयस्य परिहारपूर्वकं 'नारायणो विश्वमिदं पुराणम्'1 इत्युपक्षिप्तस्य 'विश्वमेवेदं पुरुषः' 'पुरुष एवेदं सर्व'मित्यादिश्रुत्यर्थस्य निर्णिनीषया

▼ दीधितिः

1 सगुणात्मवादस्य प्राचीनसाङ्ख्ययोगवक्तृसम्मतत्वे गुणवाचिशुक्लादिशब्दानामिव चेतनाचेतनवाचिशब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वसम्भवेन अत्र सामानाधिकरण्यं निर्वहति । एवं परमपुरुषस्य जीवोपादानत्वस्य तत्सम्मतत्वे 'मृद्घट' इत्यादिवदिष सामानाधिकरण्यमुपपद्यते न त्वन्यथेति भावः । 'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणि, 'नाराणामयनं ख्यातः' इति नारायणशब्दनिर्वचनानुसारेण इत्थमेवाशय इत्युन्नीयते ॥

2 बहवः पुरुषा ब्रह्मन् उताहो एक एव तु ।

▼ दीधितिः

2 'बहवः पुरुषा' इत्यत्र पुरुषशब्दः पुरि शेत इति व्युत्पत्त्या शरीरसंबन्धिनमाचष्टे । अविशेषात्सर्वशरीरसम्बन्धिपरः । सर्वशरीरसम्बन्धिनः बहव आत्मानः उत एक एव इति प्रथमप्रश्नार्थः ॥

कपिलाद्य्-अनन्तर-कालिकैस् तथाऽभ्युपगमेऽपि प्राच्यसूत्राणां वेदैकरस्यम्®

को ह्यत्र पुरुषः 1 श्रेष्ठः का वा 2 योनिरिहोच्यते ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र पुरुषेषु श्रैष्ठ्यं 'गुणाधिक'मिति प्रतिवचनानुसारेण गुणनिबन्धनं विवक्षितं विभुनिर्गुणात्मपक्षे अवच्छेदकभेदेन भेदव्यवहारोपपत्तौ पुरुषबहुत्वासम्भवेन पुरुषेषु श्रेष्ठो न घटत इति हृदयम् ॥

2 अत्रेत्यतः पृथक् इहेति प्रयोगाच्चिदचितौ विवक्षितौ योनिशब्दः 'योनिश्च हि गीयते' इति सूत्र (शं) भाष्योक्तदिशा परिणाम्युपादानं प्रतिपादयति विभुनिर्गुणात्मपक्षे चिदचिदुपादानत्वेनैकरूपेण चिदचितोः ब्रह्मणश्चाभेदश्रुतिनिर्वाहो न सम्भवतीति हृदयम् ॥

इति कृतस्य (ज) प्रश्नस्य (वै) प्रतिवचने -

बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारिणः3 (रिणाम्) ।

▼ दीधितिः

3 स्मृत्यधिकरणे 'सांख्ययोगविचारिणाम्' इति पाठः शङ्करभाष्ये दृश्यते । 'सांख्ययोगविचारिण' इति आचार्यपादसम्मतः पाठः । प्रथमपक्षे सर्वशरीरसम्बन्धिनः बहव इति साङ्ख्ययोगविचारिणाम्मतमित्यर्थः । द्वितीयपक्षे साङ्ख्ययोगविचारिणो बहवो जना इत्यर्थः । परमतभङ्गे कपिलहिरण्यगर्भयोः वेदविरुद्धांशे तात्पर्यं नास्ति 'साङ्ख्ययोगविचारिण' इत्युक्ताः प्रवर्तकाः वृथा निर्बन्धं कृतवन्त इति कपिलहिरण्यगर्भानन्तरकालिकप्रवर्तकग्रन्थाः उपेक्षणीया इति निर्विवादम्, इत्याचार्यपादैरुक्तम् । पूर्वम् 'तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ती'ति वचनात् 'साङ्ख्यं च योगं च सनातने द्वे' इत्यत्र सनातनशब्दस्य अत्र 'सांख्ययोगविचारिण' इत्यत्र विचारिन्शब्दस्य च प्रयोगाच्च अयमेवार्थो व्याससम्मतः । शारीरके एतन्निरसनन्तु न कपिलहिरण्यगर्भहृदयमनुसृत्य किन्त्वापातप्रतीतिमात्रमवलम्ब्येति पञ्चरात्राधिकरणे व्यासार्यैरप्युक्तम् अत्र विचारिशब्देन योगभाष्यं न ब्रह्मसूत्रकर्तृव्यासप्रणीतमित्यपि सिध्यतीति बोध्यम् ॥

बहुपुरुषोपादानगुणाधिकैकपुरुषस्य व्याससम्मतत्वम्®

नैत(दि)इच्छन्ति पुरुषमेकं1 कुरुकुलोद्वह ॥

▼ दीधितिः

1 सर्वशरीरसम्बन्धिनमेकं नेच्छन्ति अपि तु बहूनिच्छन्तीत्यर्थः ॥

बहूनां2 पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते । तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम् 3 ॥

▼ दीधितिः

2 अत्र प्रतिवचनेऽपि पुरुषशब्दः शरीरसम्बन्धिनम्प्रतिपादयति न देहमात्रम् । उत्तरत्र 'बहवः पुरुषा ब्रह्मंस्त्वया सृष्टा, इत्यत्र पुरुषोत्तमविलक्षणपुरुषसृष्टेः 'बहवः पुरुषाः पुत्र एवमेतत्' 'एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषः, इत्यत्र शरीरसम्बन्धिनां जीवानामेव बहुत्वस्य प्रतिपादनात् । एकैकशरीरसम्बन्धिनो जीवा एवात्र विवक्षिताः न तु सर्वशरीरसम्बन्धिनस्सर्वे जीवाः । उत्तरत्र एकपुरुषस्य पुरुषोत्तमत्वस्य तदुपपादकस्य सर्वगत्वस्य, सर्वशरीरसम्बन्धस्य च प्रतिपादनपूर्वकं महापुरुषशब्दबोध्यत्वमभिधाय पुरुषबहुत्वस्योपसंहारात्' ॥

3 'गुणाधिक'मित्येव (स्मृ- अ - शं) भाष्येऽपि पाठः ॥

इदं पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पठ्यते । 4 उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः । अध्यात्मचिन्तामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत ॥

▼ दीधितिः

4 उत्सर्गेण सामान्यतः आत्मत्वसामान्येनेति यावत् । अपवादेन प्रकृतिप्राकृततत्ववैलक्षण्येन । आदिशब्देन हिरण्यगर्भासुरी ग्राह्यौ ॥

समासतस्तु यद्भ्यासः पुरुषैकात्म्य5मुक्तवान् । तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि प्रसादादमितौजसः ॥

▼ दीधितिः

5 अत्र पुरुषैकात्म्यमिति प्राचीनलिखितकोशेषु पाठः आचार्यसम्मतश्च । अत्र 'पुरुषाणामैकात्म्यं एकेनात्मना युक्तत्वम् अनेन जगच्छरीरकः परमात्मा हि सर्वोपादानमित्युक्तं भवति ॥

तवान्तरात्मा मम च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः । सर्वेषां साक्षिभूतोसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ॥

इति पुरुषैकात्म्यशब्दविवक्षितस्य स्वेनैव व्याख्यातत्वात् । बहूनां पुरुषाणामिति पूर्वमुक्तत्वाच्च, इति व्यासार्योक्तेश्च । युक्तञ्चैतत् । 'एकात्मानं तथात्मानमपरेऽध्यात्मचिन्तका' इति व्यासिसद्धान्तस्य वर्णनात्, तत्र आत्मानमिति उपक्रमोक्तजीवसामान्यपरम् । एकात्मानमिति बहुव्रीहिः । एकात्मकित्यर्थः । अन्यथा आत्मशब्दस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अतः उपक्रममध्योपसंहारवाक्यपर्यालोचनायां व्यासार्योक्तमेव युक्तम् । पुरुषैकत्विमिति (शं-भा) पाठेऽपि 'स वा एष सर्वासु पूर्षु' इति बृहदारण्यकश्रुत्यनुसारेण 'शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ' इति अत्रत्योत्तरवाक्यानुसारेण च जगच्छरीरकः परमात्मा सर्वोपादानमिति व्यासिसद्धान्त इत्येवोक्तं भवति ॥

ब्रह्मरुद्रसंवादः 🖲

प्रश्न:6

[[उक्तार्थसाधनार्थं ब्रह्मरुद्रसंवादोपन्यासः, तत्र ब्रह्माणं प्रतिरुद्रप्रश्नः]]

इत्यादिना साङ्ख्ययोगविचारिभिर्विभुबहुपुरुषाभ्युपगमेन सर्वान्तर्याम्युपादानसगुणपुरुषानभ्युपगमेऽपि कपिलादिभिः सामान्यतः प्रकृत्यतिरिक्तपुरुषमात्राभ्युपगमेऽपि सगुणैकपुरुषाप्रतिषेधेन बहुपुरुषविभुत्वानभ्युपगमेन च पुरुषसूक्तप्रतिपाद्यस्य व्यासतात्पर्यविषयसगुणसर्वशरीर्येकपुरुषस्य कपिलादितात्पर्यविषयत्वम् अस्मिन्नर्थे ब्रह्मरुद्रसंवादमुपक्षिप्य तत्र -

बहवः 1 पुरुषा ब्रह्मंस्त्वया सृष्टाः स्वयम्भुवा । सृज्यन्ते चापरे ब्रह्मन्सपरः पुरुषो विराट् ॥ २३ ॥

को ह्यसौ चिन्त्यते ब्रह्मंस्त्वयैकः पुरुषोत्तमः ॥ २४ ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र 'बहवः पुरुषाः त्वया सृष्टाः सृज्यन्ते च । परः पुरुषः एकः पुरुषोत्तमस्त्वया कश्चिन्त्यत इति प्रश्नवाक्यपर्यालोचनायां सृज्यशरीरसम्बन्धिजीवविलक्षणः कश्चिन्त्यत इत्येव प्रश्नतात्पर्यं प्रतीयते । अतोऽत्र पुरुषशब्दस्य शरीरसम्बन्धिजीववाचित्वमेव । न तु शरीरपरत्वमिति सिद्धम् ॥

प्रतिवचने एकपुरुषस्य बहुपुरुषाधारत्वम्®

इति रुद्रकृतस्य सृज्यपुरुषविलक्षणः पुरुषोत्तमस्त्वया चिन्तनीयः क इति प्रश्नस्य ब्रह्मणः प्रतिवचने -

> बहवः पुरुषाः पुत्र त्वया ये समुदाहृताः । एवमेतदतिक्रान्तं 1 द्रष्टव्यं चैवमित्यपि ॥ २५ ॥

▼ दीधितिः

1 'द्रष्टव्यं चैविमत्यिप ' इत्येव प्राचीनकोशेषु पाठः (वा-रा-शा) मुद्रितकोशेऽपि दृश्यते पूर्वसृष्टाविप शरीरसम्बन्धिनो जीवाः बहवः, एतत्सृष्टाविप शरीरसम्बन्धिनो जीवा बहव एवेत्यर्थः । 'सृष्टाः' 'सृज्यन्ते' इति प्रश्नवाक्ये पदद्वयप्रयोगात्प्रतिवचने सृष्टिद्वयोक्तिरिति बोध्यम् 'नैविमत्यिप' इति पाठस्य प्रामाणिकत्वे अतिक्रान्तमित्यिप न द्रष्टव्यं वर्तमानत्वात् इत्यर्थः एवमेतदित्यत्र वर्तमानत्वमस्मिन् पाठे विविक्षितम् । एतेन 'बहूनां पुरुषाणां हि' इत्युपक्रमे पुरुषशब्दः शरीरसम्बन्धिजीवपरः न तु (स्मृ-अ) (आ-गि) (र-प) (ब्र-वि-आ) शरीरपर इति निर्णीतं भवति । एतेन, 'नराज्जातानि तत्वानि नाराणीति ततो विदुः' इति उक्तदिशा नारशब्दार्थ उक्तो भवति ॥

2 आधारत्वं प्रवक्ष्यामि एकस्य पुरुषस्य वै ।

▼ दीधिति:

अथ 'नाराणामयनं ख्यातमहमेकस्सनातनः' इत्येतदर्थमाह 2 आधारत्वमित्यादिना । अत्र विवर्ताधिष्ठानबोधकपदस्याभावान्न तद्विवक्षा युक्ता ॥ अयमाशयः - गुणगुणिनोरपृथिक्सिद्धिं गुणं प्रति द्रव्यस्योपादानत्वमभ्युपगच्छद्भिस्तान्त्रिकैर्गुणवाचिपदस्य गुणाधारद्रव्यबोधकत्वं तेन शुक्लः पट इत्यादिसामानाधिकरण्यनिर्वाहः । गुणगुणिनोरुभयोस्सत्त्वेऽपि आधारैक्यतात्पर्येण एकोऽत्र वर्तत इत्यादिपदप्रयोगश्चेति अङ्गीक्रियते । तथैव परमात्मनः

जीवानामुपादानत्वमभ्युपगच्छताम्मतेऽपि जीववाचिपदस्य जीवाधारपरमात्मपर्यन्तत्वं तेन 'पुरुष एवेदं सर्व'मिति सामानाधिकरण्यनिर्वाहः जीवब्रह्मणोर्भेदेऽपि आधारैक्यविवक्षया ऐक्यव्यपदेशश्च इति नानुपपत्तिरिति । अयं चाशयः 'तथा तं पुरुषं गुणाधिकम्' इत्युपक्रमे अत्र च वचनव्यक्त्या व्यञ्जितः ॥

बहूनां पुरुषाणां स यथैका1 योनिरुच्यते ॥ २६ ॥

▼ दीधितिः

1 एतेन ब्रह्म व्यष्टौ द्वारभूतनिमित्तकारणमेव । ब्रह्मादीनां सर्वेषां परमापरमात्मैवोपादानकारणमिति सिद्धम् ॥

ब्रह्मोपादानता®

[[ब्रह्मणा रुद्रं प्रति बहुपुरुषोपादानगुणाधिकैकपुरुषस्य निरूपणम्]]

तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम् ।

इत्यनेन सृष्टिकर्मभूता बहवः पुरुषा इति सत्यमेव तेषामाधारभूत एकः पुरुष इति तमेव बहुपुरुषोपादानं गुणाधिकमाख्यास्यामीत्युपक्रम्य विंशे -

> शृणु पुत्र यथा ह्येकः पुरुषश्शाश्वतोऽव्ययः । अक्षयश्चाप्रमेयश्च2 सर्वगश्च निरुच्यते ॥ १ ॥

▼ दीधितिः

2 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति श्रुतेः प्रामाणिकत्वे सा (१०-अ. १२- श्लो. गी. ता. चं.) परमात्मपरैव तेन आकाशवत्स्वसमानसत्ताकसर्वसंयोगित्वमेव परमात्मन इति सिद्भ्यति ॥

> न स शक्यस्त्वया द्रष्टुं मयाऽन्यैर्वाऽपि सत्तम । 3सगुणो निर्गुणो विश्वो ज्ञानदृश्यो ह्यसौ स्मृतः ॥ २ ॥

▼ दीधिति:

- 3 'सगुणः पराऽस्य शक्ति'रित्यादिश्रुत्युक्तगुणषट्कवान् निर्गुणः सत्त्वादिगुणत्रयशून्यः ॥
 - 4अशरीरश्शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ ।
- ▼ दीधितिः

4 अशरीर इत्यादिना ब्रह्मणः सर्वशरीरित्वेन पुरुषोत्तमत्वं जगच्छरीरित्वेनोपादानत्वं चोपपादितम् ॥

परमात्मनि क्षेत्रज्ञशब्दस्योपपत्तिः ©

वसन्नपि शरीरेषु 1 न स लिप्यति कर्मभिः ॥ ३ ॥

▼ दीधितिः

1 जगच्छरीरत्वेन जीववत्कर्मसम्बन्धप्रसक्तौ तन्निषेधति नेत्यादिना ॥

2 तवान्तरात्मा मम च ये चान्ये देहि संज्ञिताः । सर्वेषां 3साक्षिभूतोसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ॥ ४ ॥

▼ दीधिति:

2 ब्रह्मणः न सर्वाचेतनमात्रशरीरत्वम् अपि तु सर्वजीवशरीरत्वमपीत्याह तवेत्यादिना । युष्मदस्मच्छब्दयोरचिदमिश्रचिद्वाचकत्वं (सर्वा भाव. प्र.) उपपादितम् ॥

3 साक्षिभूतः - साक्षाद्द्रष्टा ॥

विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः । एकश्चरति क्षेत्रेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥ ५ ॥ क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभम् । तानि वेति स योगात्मा ततः 4क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ६ ॥

▼ दीधितिः

4 गीतायाम् 'इदं शरीरम्' 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' इत्यत्र एकशरीरवेदितृत्वेन क्षेत्रज्ञत्वं जीवस्योक्तम् । स्वापृथक्सिद्धसर्वशरीरवेदितृत्वरूपं क्षेत्रज्ञत्वन्तु परमात्मन एव न जीवस्येति 'क्षेत्राणि शरीराणी'ति बहुवचनेन बोधितम् । एवं 'बीजं चापि शुभाशुभम्' इत्यनेन – इदं शरीरमेतत्कर्मारम्भाय एतत्कर्मफलभोगाय च इति सङ्कल्पवत्त्वरूपं क्षेत्रज्ञत्वं परस्यैव न जीवस्येति बोधितम् ।

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि (सभूता) (परमात्मो)च्यते बुधैः (१२-१२)

इति मनूक्तेश्च (गीता. १३-४ ता. च.) इत्यवसेयम् ॥

मनुवचने 'भूतात्म, पदं मैत्रायणीयश्रुत्यनुसारेण जीवपरमिति (ना- आ - १६. अ. ११ श्लो) विवरणावसरे व्यक्तीभविष्यति । एतेन क्षेत्रज्ञशब्दः जीवे पृथक् न रूढः अपि तु जीवपरमात्मसाधारणः 'प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगा'दिति न्यायात् इति बोधितम् ।

पुरुषात्मशब्दयोरपि जीवपरोभयसाधारण्यं क्षेत्रज्ञशब्दप्रयोगश्च

एवमेव पुरुषशब्दोऽपि जीवे परमात्मनि च वर्तते । अत्रैव ब्रह्मरुद्रसंवादे उभयत्र पुरुषशब्दप्रयोगात् । तत्रावयवार्थपौष्कल्यं परमात्मन्येव । सर्वक्षेत्रवेदितृत्वसर्वशरीरसम्बन्धित्वादेस्तस्यैव प्रतिपादनात् । एवमात्मशब्दोपि जीवपरोभयसाधारणः 'तत्र यः परमात्मा हि' 'कर्मत्मात्ववरो योऽसौ' इत्युत्तरत्र परजीवयोरुभयत्रात्मशब्दप्रयोगात् । एतेन 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष' इति कोशोपि न जीवे पृथग्रूढिग्राहकः । अपि तु जीवपरोभयपर एवेति निर्णीयते । अत एव मोक्षधर्म एव पूर्वं नारदसनत्कुमारसंवादे (वा. रा. सु. को. १५६ अध्या. १६३ - १६४ वा.)

प्रकृतिं क्षेत्रज्ञं च परः क्षेत्रज्ञष्षड्विंशको ऽनुपश्यति । न तु पञ्चविंशः क्षेत्रज्ञः प्रकृतिर्वा परं क्षेत्रज्ञं पश्यति इति सनत्कुमारोक्तौ क्षेत्रज्ञशब्दस्य जीवे परमात्मनि च प्रयोग उपपद्यते । अयमर्थः कपिलस्यापि सम्मतः । अत्रैव पूर्वं कपिलासुरिसंवादे (वा.रा.मु. को. ११५ अध्या १४६ वा) ज्ञातानामाऽसुरे क्षेत्रज्ञो द्रष्टा शुचिरुपेक्षको ज्ञानात्मको बुध्यमानाऽप्रतिबुद्धयोः परं तं विदित्वा निरवयवमस्माद्दुःखाद्विमुच्यत इत्युपक्रम्य (२५९ वा)

> कूलमन्यो वृक्षोऽन्यः मशकोऽन्योऽन्यदुदुम्बरम्, अन्यो मत्स्य अन्यदुदकम्, मुञ्जमन्यदन्येषीका, अन्यदुदकमन्यत्पुष्करपर्णम्, तथा अन्यत्क्षेत्रं क्षेत्रज्ञोऽन्यः पुरुषः पञ्चविंशकः, अन्यश्चास्मात्क्षेत्रज्ञ इति

(२६६ वा) 'द्रष्टा क्षेत्रज्ञः द्रष्टव्यमव्यक्तम्, अन्यदृष्टव्यम् अन्यः पुरुषः, पञ्चविंशतितत्वमन्यत्, अन्योऽस्मात्क्षेत्रज्ञ इति' इति आसुरिं प्रति कपिलोक्तौ जीवपरयोः क्षेत्रज्ञशब्देन निर्देशस्य भेदस्य च स्फुटमवगमादिति बोध्यम् ॥

1 नागतिर्न गतिस्तस्य ज्ञेया भूतेन केनचित् ।

▼ दीधितिः

1 जीवपरयोरुभयोः क्षेत्रज्ञशब्देन व्यपदेशेपि परस्य विभुत्वेन कर्मसम्बन्धानर्हत्वेन च कर्मबद्धाणुजीववद्गत्यागत्योरसम्भवेन वैलक्षण्यमाह । नागतिरित्यादिना । एतेन 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' २-३-२० इति सूत्रोक्तगत्यागतियोगेन जीवस्याणुत्वमिति बोधितम् ॥

भगवतस्सांख्ययोगविधिना क्रमेण चिन्तनीयता®

साङ्ख्येन विधिना चैव योगेन च1 यथाक्रमम् ॥ ७ ॥

▼ दीधितिः

1 प्रथमं साङ्ख्योक्तदिशा प्रकृतिविविक्तज्ञात्रात्मस्वरूपज्ञानम् अनन्तरं तस्यैवात्मनः अष्टाङ्गयोगः तत आत्मावलोकनं ततः परमात्मध्यानरूपो भक्तियोग इति क्रमेणेत्यर्थः । अयं च क्रमः भगवद्गीतायां स्फुट इति निरूपितं तद्भाष्यतात्पर्यचन्द्रिकयोः । एतदेवाभिप्रेत्य उदाहृतन्यायपरिशुद्धा 'परिशुद्धात्मचिन्तनरूपज्ञानयोगप्रदर्शनाधिकृतं शास्त्रं साङ्ख्यम् । समाधिपर्यन्तकर्मयोगनिष्ठं शास्त्रं योगः' इत्याचार्यपादोक्तिः । जीवात्मयोगस्य कर्मयोगफलरूपत्वं तात्पर्यचन्द्रिकासारज्ञानां सुगमम् ॥

चिन्तयामि गतिं 2 तस्य न 3 गतिं वेद्मि 4 चोत्तराम् । यथाज्ञानं तु वक्ष्यामि पुरुषं हि 5सनातनम् ॥ ८ ॥

▼ दीधितिः

- 2 पुरुषोत्तमक्षेत्रज्ञशब्दार्थस्य वासुदेवस्य ॥
- 3 गतिम् । प्राप्तिसाधनम् । प्राप्तिं वा ॥
- 4 पूर्वोक्तक्रमेण गतिविलक्षणाम् । एतेन साङ्ख्ययोगयोः क्रमेण पञ्चरात्रप्रतिपाद्य पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनप्रतिपादकत्वाद्वेदैककण्ठ्यं द्योतितम् ॥

5 एतेन सृष्टिकर्म जीववैलक्षण्यं द्योतितम् ॥ वासुदेवस्य सर्वशरीरित्वेन गुणैश्च महत्वादवयवार्थपौष्कल्येनैव महापुरुषशब्दबोध्यता न तु रूढ्या । अतश्च 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' 'महान्प्रभु वै पुरुषस्सत्वस्यैष प्रवर्तकः' इति पुरुषसूक्तश्वेताश्वतरादौ नारायण एव प्रतिपिपादयिषित इत्याह ॥

निर्गुणपरवासुदेवस्य प्राप्यता®

6 तस्यैकत्वं महत्वं हि स चैकः पुरुषस्स्मृतः । महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकस्सनातनः ॥ ९ ॥

▼ दीधितिः

6 तस्यैकत्वमित्यादिना । अस्य नारायणत्वमनुपदमेव वक्ष्यते ॥ एतेन श्वेताश्वतरश्रुतौ महापुरुषस्य सत्वप्रवर्तकत्वोक्त्या 'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्त्विकस्स तु विज्ञेयः' इति पूर्वोक्तार्थः स्थापितो भवति । एवमनेन महापुरुषशब्दो विष्णौ रूढः रुद्रे यौगिको मुख्यश्चेताश्वतरादौ विवक्षित इति (शि-त-वि) निरस्तम् ॥ नानाविधविषमपरिणामशून्यत्वेन एकस्य हुताशसूर्यवाय्वादेर्योनित्वं यथा तथैव नानाविधविषमपरिणामप्रयोजकीभूतसत्वरजस्तमोगुणाधिष्ठानशून्यत्वेन निर्गुणस्यैकस्य परवासुदेवस्य प्राप्यत्वमिति 'एको हुताशः' इत्यादिना 'पुरुषश्चैको निर्गुणो विश्वरूपः तन्निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ति' इत्यन्तेनाभिधायास्य निर्गुणत्वं विशदीकरोति ॥

इत्यनेन तस्य प्रलयागोचरत्वं सर्वगत्वं सर्वप्रत्यक्षाविषयत्वं सगुणत्वं सत्वादिगुणत्रयशून्यत्वं सर्वशरीरवर्तित्वेऽपि कर्मालेपः क्षेत्रज्ञशब्दाभिधेयत्वं साङ्ख्ययोगविधिना चिन्तनीयत्वं 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' 'महान्प्रभुर्वै पुरुषः' इत्यादौ महापुरुषशब्दार्थत्वम् ॥

> एको हुताशो बहुधा समिध्यते एकस्सूर्यस्तपसो योनिरेका । एको वायुर्बहुधा वाति लोके महोदधिश्चाम्भसां योनिरेकः । पुरुषश्चैको निर्गुणो विश्वरूपस्तं निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ति ॥ १० ॥

निर्गुणत्वविचारः ®

1 हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म हित्वा शुभाशुभम् । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा ह्येवं भवति निर्गुणः ॥ ११ ॥

▼ दीधितिः

1 हित्वेत्यादिना । अत्र निर्गुणः पुरुषः ब्रह्मणा पूर्वं चिन्त्यत्वेनोक्तः पुरुषोत्तमः परवासुदेव एव । पूर्वं 'निर्गुणं निर्गुणा भूत्वा प्रविशन्ति सनातन'मित्यत्र सर्वजीवप्राप्यत्वेनोक्तस्यैव तन्निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ती'त्यत्र प्रतिपादनात् । प्रागुदाहृतेषु 'विश्वावासं निर्गुणं वासुदेवम्' 'एका मूर्तिर्निर्गुणाख्या' 'आत्मभूतो वासुदेवः' 'ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते'

प्रविशन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्षेत्रज्ञं निर्गुणात्मकम् । सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः ॥

इत्यादिवचनेषु वासुदेवस्य निर्गुणत्वत्रैगुण्यहीनप्राप्यत्वयोः स्फुटमभिधानाच्च ।
'ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते प्रविशन्ति निर्गुणात्मकम्' इति वचनैककण्ठ्यात्; निर्गुणं निर्गुणाः' इत्यत्रापि
निर्गुणा इत्यस्य गुणत्रयशून्या इत्यर्थः स्फुट इति निर्गुणम् इत्येतदर्थस्यास्फुटत्वात्तन्निरूपणम्
एतन्निरूपणेन निर्गुणाः इत्यस्यार्थोऽपि विशदीकृतो भवति । 'निर्गुणः' 'त्रैगुण्यहीनाः' इत्युभयत्र
बहुवचनेन मुक्तिकाले जीवबहुत्वप्रतिपादनात् पारमार्थिकं जीवबहुत्वमिति सिध्यति । अत्र
नीलकण्ठः ।

गुणमयं देहेन्द्रियाद्यहङ्कारान्तं हित्वा तद्धानाच्च शुभाशुभं कर्म त्यक्त्वा ततः सत्यानृते सत्यमक्षरं जीवाख्यं अनृतं प्रधानं भोक्तारं भोग्यं च त्यक्त्वेत्यर्थः ।

इति व्याचख्यौ ॥ अत्राद्यपादेन साक्षाद्गुणत्रयाधिष्ठानविरहव्यञ्जकगुणत्रयसम्बन्धविरह उक्तः । 'निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव चे'ति अत्रैव पूर्वं (३१० अध्या. ४३ श्लो. सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेण) गुणत्रयाधिष्ठानस्योक्तेः । तच्चाधिष्ठानं सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणेति निरूपयिष्यते ॥

> एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

इति (श्वे) श्रुतौ पदत्रयेण भूतसम्बन्धोक्त्या गुणत्रयसम्बन्धप्रसक्तौ 'निर्गुण' इत्यनेन तन्निषेधः क्रियत इति भावः ॥ द्वितीयपादेन श्रुतौ कर्माध्यक्ष इत्यनेन प्रतीतकर्ममूलकगुणसम्बन्धप्रसक्तौ परस्य निर्गुण इत्यनेन कर्ममूलकगुणसम्बन्धनिषेधः क्रियते ॥

'एवं भवति निर्गुण' इत्यस्य योजनान्तरम्॥

तृतीयपादेन 'तत्सृष्ट्वा सत्यं चानृतं च सत्यमभव'दिति श्रुत्युक्तदिशा सृष्टिकर्मभूतचिदचित्सम्बन्धस्य प्रतीत्या 'एको देव' इति श्रुताविप सर्वभूतसम्बन्धस्य तादृशत्वेन चिदचित्सम्बन्धनिबन्धनगुणानां प्रसक्तौ स्वाभाविकगुणवतः परस्य चिदचित्सम्बन्धनिबन्धनगुणनिषेधः क्रियते ॥ जीवस्य तु प्रकृतिसम्बन्धदशायां देहगतसत्त्वादिगुणत्रयप्रयोज्यगुणानां कर्ममूलकानां तेषां स्वस्वरूप अचेतन एतदुभयनिमित्तकानां तेषां च सम्भवेन मुक्तिकाले कर्मक्षयात्प्रकृतिमण्डलातिक्रमणाच्च तिन्निषेधोऽप्यत्र विविक्षितः ॥ यद्वा 'तिन्निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ती'त्यनन्तरश्लोके 'एवं भवित निर्गुण' इति विन्यासपर्यालोचनायां निर्गुणः एवं भवित प्राप्यो भवित । तत्र 'हित्वा गुणमयं सर्व'मित्यनेन प्रकृतिमण्डलादूर्ध्वमित्यर्थो लभ्यते । द्वितीयपादेन कर्मत्यागानन्तरमेव प्राप्तिः न तु प्रारब्धकर्मसत्तादशायां जीवतो मुक्तिरिति प्रतिपाद्यते । तृतीयपादेन सृष्टिकर्मभूतचिदचित्सम्बन्धत्यागानन्तरमेव प्राप्तिः न तु सृष्ट्यादिव्यापाराधिकरणदेश इत्यर्थो लभ्यते । तेन चापुनरावृत्तिस्सूच्यते । प्रकृतिमण्डलाद्बिहस्थान एव गतिद्वारा मुक्तिर्भगवत्प्राप्तिरिति कपिलादेर्मतमिति युधिष्ठिरं प्रति भीष्मेण साङ्ख्यस्य निरूपणावसरे (भा. मो. ३०७ अध्या.) -

एवं तत्त्वमिदं (शृणु मे त्वमिदं) कृत्स्नं साङ्ख्यानां विदितात्मनाम् । यदुक्तं मुनिभिर्मुख्यैः (विहितं यदिदं वृद्धैः) किपलादिभिरीश्वरैः ॥ यस्मिन्न विभ्रमाः केचिद्दृश्यन्ते मनुजर्षभ ॥ ४ ॥ तीर्त्वातिदुस्तरं राजन् (जन्म) विशन्ति विमलं नभः ॥ ७२ ॥ तत्र तान्सुकृतीन्सर्वान्सूर्यो वहित रिश्मिभिः । पद्मतन्तुवदाविश्य प्रवहन्विषयान्नृप ॥ ७३ ॥ तत्र तान्प्रवहन्वायुः प्रतिगृह्णाति भारत ।

प्रकृतेर् ऊर्ध्वं निर्गुण-प्राप्तौ कपिलादिसम्मतिः॥

वीतरागान्यतीन्सिद्धान्धिया युक्तान्स्तपोधनान् ॥ ७४ ॥ सूक्ष्मश्शीतस्सुगन्धिश्च सुखस्पर्शश्च भारत । सप्तानां मरुतां श्रेष्ठो लोकान्गच्छित यश्शुभान् ॥ ७५ ॥ सतान्वहित कौन्तेय तमसः परमाङ्गितम् । तमो वहित लोकेश रजसः परमाङ्गितम् ॥ ७६ ॥ रजो वहित राजेन्द्र सत्त्वस्य परमाङ्गितम् ॥ ७७ ॥ सत्त्वं वहित शुद्धात्मा परं नारायणं प्रभुम् ॥ ७७ ॥ प्रभुर्वहित शुद्धात्मा परमात्मानमात्मना । परमात्मानमासाद्य तद्भृतायतमानसाः ॥ ७८ ॥ अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्तन्ति चाभिभो[[??]] । परमा सा गितः पार्थ निर्द्धन्द्वानाम्महात्मनाम् ॥ ७९ ॥ आत्मा केवलतां प्राप्तो यत्र गत्वा न शोचित । ईदृशं परमं स्थानं निरयास्ते च तादृशाः ॥ प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम् ।

परं नारायणं देवं निर्द्धन्द्वं प्रकृतेः परम् ॥ ९६ ॥ विमुक्तस्सर्वपापेभ्यः प्रविष्टस्तमनामयम् । परमात्मानमगुणं न निवर्तति भारत ॥ ९७ ॥

इति वचनेषु पूर्वमेव निरूपितम् । एतानि (४-२-५) व्यासार्यैरुदाहृतानि ॥

एतन्मयोक्तं नरदेवतत्वं नारायणो विश्वमिदं पुराणम् । स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥ (३०७ अ. ११५-लो.)

इति तत्रत्याध्यायान्तिमश्लोकसमानार्थकत्वमेतत्प्रघट्टकस्य स्फुटम् ।

ये तु दग्धेन्धना लोके पुण्यपापविवर्जिताः । विशन्ति विप्रप्रवरास्साङ्ख्यायोगैश्च तैस्सह ॥ १७ ॥

'ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते' 'प्रविशन्ति' क्षेत्रज्ञं निर्गुणात्मकम्, इति पूर्वम् (८०. पु) उदाहृतवचनेषु साङ्ख्ययोगानां पञ्चरात्रोदितक्रमिकभगवत्प्राप्तिरूपमुक्तिस्स्फुटमुक्ता इति यथोक्त एवार्थः ॥

पर-जीव-चिन्तकानां पर-जीव-प्राप्तीच्छा®

2 एकं हि परमात्मानं केचिदिच्छन्ति पण्डिताः । एकात्मानं तथाऽत्मानं परमध्यात्मचिन्तकाः ॥ १३ ॥

▼ दीधितिः

2 अत्रोत्तरार्धे 'अपरे' इति क्वचित्पाठः तस्मिन्नपि पाठे 'केचित्' 'अपरे' इति पाठद्वयेन विरुद्धं (व्यास, किपल) मतद्वयमत्र विविक्षतिमिति न शङ्क्यम् । तथासित अनन्तरश्लोकद्वये परमात्मजीवात्मनोरुभयोर्निरूपणमनुचितमेव स्यात् । अतः उत्तरार्धे 'अध्यात्मचिन्तका' इति पदेन उपक्रमे 'अध्यात्मचिन्तामाश्रित्ये'ति पदप्रत्यिभज्ञापनेन तस्य जीवचिन्तका इत्यर्थः । पूर्वीर्धे 'पण्डिता' इत्यनेन जीवसाक्षात्कारस्यिप सिद्धतायाः प्रतीत्या परिनिष्पन्न जीवसाक्षात्काराः विविक्षिताः । परिनिष्पन्नजीवसाक्षात्काराः परमात्मानिमच्छिन्ति अतथाविधाः जीवात्मचिन्तकास्तु जीवात्मानं तं चैकात्मानमित्युत्तरार्धे विविक्षितमिति प्रतीयते । एकात्मानमित्यस्य एकः आत्मा यस्येति बहुव्रीहिर्विवक्षितः । 'तवान्तरात्मा मम चे'ति पूर्ववचनानुसारात् । 'वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव चे'त्यानुशासनिकवचनानुसाराच्च ॥ तन्निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ती'ति पूर्वमुक्त्या अत्रेच्छन्तीत्यत्र प्राप्यत्वे नेच्छाविविक्षितेति प्रतीयते । इत्थं च जीवात्मचिन्तकाः परमात्मशरीरभूतं स्वात्मानं प्राप्यमिच्छन्तीत्यर्थः पर्यवस्यति । एतत्तात्पर्येणैव न्यायपरिशुद्धौ 'परिशुद्धात्मचिन्तनरूपज्ञानयोगप्रदर्शनाधिकृतं शास्त्रं साङ्ख्य'मित्याचार्यपादोक्तिरिति बोध्यम् ॥

परमात्मनिरूपणम्®

1 तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणस्स्मृतः । स हि नारायणो ज्ञेयस्सर्वात्मा पुरुषो हि सः ॥ १४ ॥

▼ दीधिति:

1 अन्तर्यामिब्राह्मणम् 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः(सु)' 'पुरुषं निर्गुणं साङ्ख्यम्', (मं) इत्यादिश्रुतीरभिप्रेत्य परमात्मस्वरूपं दर्शयति । तत्रेत्यादिना । अन्तर्यामिब्राह्मणे प्रतिपर्यायं 'एषत आत्माऽन्तर्याम्यमृत' इति अमृतशब्दप्रयोगेण नित्यत्वं तत्तत्स्थानादिसम्बन्धनिबन्धनदोषसम्बन्धशून्यत्वं च विवक्षितिमिति 'नित्यो निर्गुण' इति पदद्वयेन बोधितम् ॥ अचित्सम्बन्धनिबन्धनराजस्तमोगुणशून्यत्वं जीवसम्बन्धनिबन्धनकर्ममूलकगुणशून्यत्वं च 'निर्गुण' इत्यत्र विवक्षितम् ॥ अस्मिन्श्लोके प्रथमं 'हि'द्वयं प्रसिद्धौ । 'सर्वात्मा पुरुषो ही'त्यत्र हिः हेतौ । यतः पुरुषः अतस्सर्वात्मा इत्यर्थः । 'स वा एष सर्वासु पूर्षु' (बृ.४) इति श्रुत्या सर्वशरीरसम्बन्धिनः पुरुषपदार्थत्वेन 'अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाँ सार्वात्मा' इति श्रुत्युक्तरीत्या अन्तः प्रविश्य नियन्तृत्वरूपं सार्वात्म्यं तेन 'नारायणो विश्वमिदम्' इत्यादौ सामानाधिकरण्यं निर्व्युढमिति भावः ॥

2 न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ।

▼ दीधितिः

2 पूर्वं 'वसन्नापि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः' इत्युक्तमर्थं विशदयति । 'न' लिप्यत इत्यनेन । एकस्मिन्शरीरे जीवपरमात्मनोस्सत्वेऽपि

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति (श्वे. ४-६)

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः'

(कठ ५.११) इत्यादिश्रुत्युक्तदिशा कर्मफलसम्बन्धः न परमात्मन इति भावः ।

1 'कर्मात्मा त्वव(प)रो योऽसौ2 मोक्षबन्धैस्स युज्यते ॥ १५ ॥

▼ दीधितिः

1 कर्मफलसम्बद्धजीवात्मानं दर्शयति । कर्मात्मेत्यादिना । कर्मपरतन्त्र आत्मा कर्मात्मा शाकपार्थिवत्वात्परतन्त्रपदलोपः । अत्र 'अवर' इति प्राचीनकोशेषु पाठः आचार्यसम्मतश्च । 'प्राणाधिपस्सञ्चरति स्वकर्मभिः' आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे) इत्यादिश्रुत्यनुसारात् ॥ अत्र पूर्वं पुरुषोत्तमशब्देन महापुरुषशब्देन 'को ह्यत्र पुरुषश्रेष्ठः' 'आख्यास्यामि गुणाधिकम्' इति प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां च 'बहूनां पुरुषाणाम्' इत्युक्तजीवानामवरत्वस्य प्रतीतेश्चायमेव पाठो युक्तः । अपर इति पाठेऽपि न परः अपर इति विग्रहेण उत्कृष्टभिन्न इत्यर्थः । अपर इत्यस्याखण्डत्वमङ्गीकृत्य भिन्न इत्यर्थाङ्गीकारेऽपि भावान्तराभावपक्षस्यैव सिद्धान्तत्वेन भेदो निकर्ष एव पर्यवस्यतीति बोध्यम् । एतेन सर्वैः प्रकारैरप्रकृष्टस्योत्कृष्टाभेदो न घटत इति द्योत्यते ॥

2 'कर्मात्मा मोक्षबबन्धैस्स युज्यते' इति वाक्यपर्यालोचनायां बन्धः कर्मबन्धः मोक्षश्च कर्ममोक्ष एव इति विवक्षितमिति प्रतीयते । 'युज्यते' इत्यनेन बन्धमोक्षयोस्तात्त्विकत्वं बोधितम् ॥

> 3 ससप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः4 । एवं बहुविधः प्रोक्तः5 पुरुषस्ते यथाक्रमम् ॥ १६ ॥

▼ दीधितिः

3 वनपर्वणि (२१४ अ.) सप्तदशकराशिः प्रतिपादितः ।

4 अत्र 'पुन'रित्येव शङ्करभाष्यपाठः । एतेन स्थूलदेहवियोगानन्तरं स्थूलदेहान्तरप्राप्तिमध्यकालेऽपि कर्मकृतसूक्ष्मशरीरसम्बन्धो वर्तत इत्युक्तं भवति ॥

5 'बहूनां पुरुषाणां हि' इति प्रतिवचनोपक्रमे सृष्टिकर्मत्वेन पूर्वे प्रस्तुतः पुरुषोत्तमाधारकः पुरुषोत्तमोपादानकः अवरश्च पुरुष उक्तः ।

जीवस्य गुणवत् परमात्म-पर-तन्त्रता अनिरुद्धाच् चतुर्-मुखस्योत्पत्तिश् च ॥

सः कर्मपरतन्त्रः कर्ममूलकतत्तद्देहान्तर्मात्रवृत्तिः बन्धमोक्षभागी बहुविधः पुरुषः पुरुषोत्तमनिरूपणानन्तरमुक्त इत्यर्थः । अत्र एकपुरुषस्याधारत्वमुक्त्वा आधेयभूतानां पुरुषाणां बहुत्वं प्रतिपादितम् । यथैकस्मिन्द्रव्ये विद्यमानानां गुणानां बहुत्वं तद्वदित्यर्थस्तु 'गुणाधिक'मित्यनेन सूचितः । भगवद्गीतायामपि सप्तमे चेतनाचेतनयोर्भगवच्छेषत्वमुक्त्वा

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

इत्यनेन तयोर्भगवदाधारकत्वमप्यभिहितम् । चिदचितोर्भगवदाधारकत्वेन चेतनाचेतनगुणानामपि भगवदाधारकत्वं सिद्ध्यतीति 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' इत्यादिना बोधितम् । तेन च गुणगुणिनोरपृथक्सिद्धिवच्चिदचितोर्भगवतश्चापृथक्सिद्धिरिति द्योतितम् । एतद्द्योतनायैव 'आपोऽह'मित्याद्यनभिधाय 'रसोऽह'मित्याद्यक्तिः । अतश्च यथा एकद्रव्यपरतन्त्राः बहवो गुणास्तद्वदेकपुरुषोत्तमपरतन्त्राः बहवो जीवा इत्यर्थस्सिद्धः । आकृत्यधिकरणे 'अर्थैकत्वमविभागात्, (१-३-३०) इति सूत्रे जैमिनिना गुणगुणिनोर्योऽविभाग उक्तः स

एवाविभागो मुक्तिकालेऽपि जीवब्रह्मणोरिति 'अविभागेन दृष्टत्वात्' (४-४-४२) इति सूत्रे व्यासेन सिद्धान्तितम् । अयमर्थः श्रीभाष्यादिषु सम्यक्प्रतिष्ठापित इति बोध्यम् ॥ एतेन कर्मवश्यत्वाकर्मवश्यत्वाभ्यां जीवपरमात्मनोर्भेदः बन्धमोक्षव्यवस्थया जीवानां परस्परभेदश्च बोधितः ॥

1 यद्वै सूते धातुराद्यं विधानं । तद्वै विप्राः प्रवदन्तेऽनिरुद्धम् ॥

▼ दीधिति:

1 पूर्वं चतुर्मुखस्य यत्स्रष्टृत्वमुक्तं तत्परमात्मनि पर्यवसाययितुं चतुर्मुखोत्पत्यादिकं दर्शयति यद्वै इत्यादिना ॥

प्रवृत्तिधर्माराध्यतादि®

[[अनिरुद्धस्य तदन्यदेवानां च प्रवृत्तिधर्माराध्यता वेधसो रुद्रादेः स्रष्ट्रता च॥]]

1 यद्वै लोके वैदिकं कर्म साधु । आशीर्युक्तं तद्धि तस्योपभोग्यम् ॥ १९ ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र 'यद्वै लोक' इति सामान्यनिर्देशेन ब्रह्मादिकृतप्रवृत्तिधर्माराध्यत्वमप्यनिरुद्धस्येति दर्शितम् ॥

2 देवास्सर्वे मुनयस् साधु दान्ताः तं प्राग्वंशे यज्ञभागं भजन्ते । 3 अहं ब्रह्मा चाद्य ईशः प्रजानाम्त तस्माज्जातस्त्वं च मत्तः प्रसूतः ॥ २० ॥

▼ दीधितिः

- 2 ब्रह्मादिदेवव्यतिरिक्तपुरुषकृतप्रवृत्तिधर्माराध्यत्वं ब्रह्मादिदेवानामिति दर्शयति देवा इत्यादिना ॥
- 3 अत्र चतुर्मुखाद्रुद्रस्योत्पत्तिकथनेन रुद्रेशत्वं चतुर्मुखस्येति चतुर्मुखस्य प्रजेशत्वप्रतिपादनपूर्वकमनिरुद्धाज्जन्मनः प्रतिपादनेन अनिरुद्धस्यैव सकलप्रजेशत्वम् इति

चोक्तं भवति । तेनेशादिशब्दानामसङ्कुचितयोगार्थः 'ईशस्त्वं सर्वभूतानामीश्वरोऽसि ततो हरे' (ह-वं) इत्युक्तदिशा नारायण एव नान्यत्रेति सिद्धम् ॥

मत्तो जग4ज्जङ्गमं स्थावरं च।

▼ दीधिति:

4 जङ्गमस्थावरयोरुभयोरपि जीवसम्बन्धः -

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्वं स्थावरजङ्गमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ । (गी. १३, २६) वाचिकैः पक्षिमृगताम्मानसैरन्त्यजातिताम् । शरीरजैः कर्मदोषैर्यातिस्थावरतां नरः ॥ मनु-१०-९.

इति गीतामनुवचनाभ्यां सिद्ध्यति । एतेन चतुर्मुखस्य व्यष्टिसृष्टिद्वारकर्तृत्वकथनेन 'बहवः पुरुषास्सृष्टा' इति उपक्रमैकरस्यं निर्व्यूढम् ॥

एकायनशाखा®

[[रहस्याम्नायविचारः नारायणाख्यानोपसंहारश्च॥]]

सर्वे 1वेदास् सरहस्या हि पुत्र ॥ २१ ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र 'सरहस्या' इत्यत्र रहस्यपदं पञ्चरात्रमूलभूतरहस्याम्नायपरम् । न च 'सर्वे वेदा' इत्यत्र वेदानां पृथग्गणनाद्रहस्यान्म्नाय एवाप्रामाणिक इति रहस्यपदेन वेदिभिन्नप्रमाणमेव विविक्षितमिति वाच्यम् । एकायनापरपर्यायरहस्याम्नायस्य वेदतायाः न्यायपिरशुद्धौ शब्दाध्याये आचार्यपादैः प्रतिष्ठापनात् । तथा च एकायनश्रुतिं प्रस्तुत्य तद्गन्थः "न चात्र वेदत्वे सन्देग्धव्यं यंवाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च' 'महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम् । स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूतास्तथा मुने, इत्यादिवचनात् । तथा 'ऋग्वेदपाठपिठतं व्रतमेतत्सुदुश्चरम् इति संवाददर्शनात् । वेदशाखाव्यासदशायां निरुक्तशाखाया अपि गणितत्वात् । भगवच्छास्त्रसारभूतसात्त्वतपौष्करादिषु रहस्याम्नायविधाने 'एकायनीयशाखोक्तैर्मन्त्रैः परमपावनै'रित्यादिभिः तच्छ्रुतित्वप्रतिपादनात्" इति । पञ्चरात्राधिकरणश्रुतप्रकाशिकायां च व्यासार्यैः एकायनीयशाखायाः वेदत्वसाधनावसरे "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वण'मित्यादि 'एकायनं देविवद्यां ब्रह्मविद्या'मित्यन्त(छां)श्रुतिसन्दर्मे ऋग्वेदादेः पृथक्पिठतस्याप्येकायनस्य ब्रह्मविद्याया इव ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन

श्रैष्ठ्यात्पृथगुपादानोपपत्तेः" इत्याद्युक्त्या तेनैव न्यायेनात्रापि पृथगुपादानोपपत्त्या रहस्यपदस्य रहस्याम्नायपरत्वे न काचिदनुपपत्तिः ।

रहस्याम्नायमूलकत्वेन पञ्चरात्रस्य रहस्यता®

एकायनीयशाखायाः शुक्लयजुर्वेदशाखाभेदरूपत्वं (११ पु.) पूर्वमेव समर्थितम् एतेन (९०) 'साङ्ख्यं च योगं च सनातनाद्ये वेदाश्च' इत्यत्र चशब्देन रहस्यं ग्राह्यमिति बोधितम् । 'सरहस्या इत्यत्र रहस्यपदस्य पञ्चरात्रमूलभूतरहस्याम्नायपरत्वेन पूर्वोदाहृतवचनेषु उपरिचरवसुवृत्तान्ते पञ्चरात्रं प्रस्तुत्य -

एतद्धि सर्वशास्त्राणां शास्त्रमुत्तमसंज्ञितम् । एतदर्थ्यं च धर्म्यं च रहस्यं चैतदुत्तमम् ॥

इत्यत्र पञ्चरात्रशास्त्रस्य रहस्यत्वकथनपूर्वकमन्तर्धानोक्तिः । सप्तसु जन्मसु पाञ्चरात्रिकधर्मस्याविर्भावितरोभावकथनावसरे -

धर्मं च मत्तो गृह्णीष्वसात्त्वतं नाम नामतः ।

इत्युपक्रम्य -

धर्म्यं चाग्र्यं च जग्राह सरहस्यं ससङ्ग्रहम् ।

इत्युक्तिः तदनन्तरं गीतोक्तदिशा सात्त्वतधर्मस्यापि साम्प्रदायिकत्वमभिधाय -

कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः । नारदेन तु सम्प्राप्तस्सरहस्यस्ससङ्ग्रहः ॥ दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च सात्त्वतैर्धार्यते सदा ।

इत्युक्तिश्च सङ्गच्छते ॥

अत्र 'यद्वै सूते धातुराद्यं विधान'मित्युपक्रम्य सर्वे वेदास्सरहस्या' इत्यभिधानेन -

यो ब्रह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे.) ।

इति श्रुतिरत्र विविक्षितेति प्रतीयते । तत्र श्रुतौ च शब्देन रहस्याम्नायमूलकं पञ्चरात्रं विविक्षितमिति प्रतीयते । चतुर्मुखाय वेददानवत्पञ्चरात्रदानमि तत्रतत्र संहितासु प्रतिपादितम् । इत्थं च 'सर्वे वेदास्सरहस्या' इत्यत्र हयशिरोरूपधारिणोऽनिरुद्धस्यानुग्रहेण चतुर्मुखेन लब्धयोर्वेदपञ्चरात्रयोस्तेनैव प्रवर्त्यत्वमिभिहितं भवति ॥

प्राच्यसाङ्ख्ययोगगीता पञ्चरात्राणां वेदैकरस्यम्®

चतुर्विभक्तः पुरुषस्स क्रीडित यथेच्छिति । एवं स भगवान्देवः स्वेन ज्ञानेन बोधयत् ॥ २२ ॥ एतत्ते कथितं पुत्र यथावदनुपृच्छतः । सांख्ये योगे पञ्चरात्रे वेदारण्ये च वर्णितम् ॥ २३ ॥

इत्यनेन प्राप्यस्य परमात्मनः निर्गुणत्वप्रकारं साङ्ख्ययोगविधिना चिन्तनीयस्य जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं परमात्मजीवात्मनोर्व्यावर्तकधर्मा जीवानां बहुविधत्वं ब्रह्मादिदेवप्रवृत्तिधर्माराध्यस्यानिरुद्धस्यैव रुद्रजनकब्रह्मजनकत्वं हयशिरोरूपधार्यनिरुद्धानुग्रहेण चतुर्मुखेन लब्धयोर्वेदपश्चरात्रयोस्तेनैव प्रवर्त्यत्वं चतुरात्मवासुदेवस्यैव प्राप्यभूतस्य जगत्कारणत्वं साङ्ख्ययोगतात्पर्यविषयत्वम् एवमेव भगवदनुग्रहेण चतुर्मुखस्य ज्ञानं चेत्यादिकं प्राचीकशत् ॥

▼ दीधितिः

रुद्रजनकचतुर्मुखजनकस्यैव पुरुषस्य पूर्वं परत्वमभिधायात्र पञ्चरात्रोक्तदिशा चतुर्विधत्वाभिधानेन तस्यैव प्राप्यत्वं पूर्वं प्रक्रान्तमुपसंहृतम् । साङ्ख्ययोगतात्पर्यविषयत्वं पञ्चरात्रप्रतिपाद्य पुरुषस्य यत्पूर्वमुक्तं तत् सनातनसाङ्ख्ययोगयोः वेदाविरोधं तदनन्तरकालिकग्रन्थानामेव वेदविरुद्धत्वं प्राचीनसाङ्ख्ययोगयोः पञ्चरात्रोक्तमुक्त्यनुगुणत्वं चोपपाद्य अन्ते प्राच्यलिखितकोशपाठे -

साङ्ख्यज्ञाने तथा योगे यथावदनुवाणतम् । (मुद्रितकोशे)

इति पाठे वा तयोर्वेदैकरस्यस्योपसंहारेण स्थिरीकृतम् । एतेन -

एवमेकं साङ्ख्ययोगं वेदारण्यकमेव च । परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रन्तु कथ्यते ॥

इति वचनार्थः : 'तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यम्' 'यो वैवेदांश्च'(श्वे) 'पुरुषं निर्गुणं साङ्ख्यम्' (मं) इति श्रुत्यर्थश्च प्रतिष्ठापितः ॥

कपिलासुरिसंवादवसिष्ठकराळजनकसंवादादौ कपिलदेवहूतिसंवादे (भाग ३ स्कं) च जीवब्रह्मणोर्भेदस्साङ्ख्यतात्पर्यविषय इति स्पष्टम् अयमर्थः उत्तरत्र निरूपियष्यते । चतुरात्मनो वासुदेवस्य महाभारते पूर्वं तत्र तत्र निरूपणपूर्वकमोक्षधर्मेऽपि परत्वप्राप्यत्वयोः नारायणाख्याने तदाराधनभूतैकान्तिधर्मस्य भगवद्गीतायां सङ्ग्रहेण प्रतिपाद्यतायाः पञ्चरात्रप्रामाण्यप्रतिपादनपूर्वकं तत्र विस्तृतस्यास्य सात्त्विकैरनुष्ठेयतायाश्च प्रतिष्ठापनेन गीतानां मोक्षधर्माणां चैकार्थ्यं निर्व्यूढम् ॥

उपसंहारः @

तदेवं नारायणाख्याने विंशतिभिरध्यायैः पञ्चरात्रप्रामाण्यकथनपूर्वकं भगवद्गीतायां सङ्गृहीतस्य पञ्चरात्रे विस्तृतस्य सर्वधर्मश्रेष्ठस्य भगवत्प्राप्तिफलकस्यैकान्तिधर्मस्य प्रतिबुद्धैरनुष्ठेयत्वम् अप्रतिबुद्धैरननुष्ठेयता अनुष्ठातृदौर्लभ्यं चोक्तं भवति ॥

०३ उपाख्यानारम्भः 2

[[जन्मकाले पुंसां सात्त्विकताम् अनुग्रहीतुर् हयशिरस उपाख्यानावतारोपक्रमः]]

तत्र सप्तदशे हयशिरउपाख्यानानन्तराध्याये एकान्तिधर्मानुष्ठातृदौर्लभ्यप्रतिपादनावसरे, प्रतिबुद्धाः सात्विकाः अप्रतिबुद्धाः राजसास्तामसा चेति पूर्वापरपर्यालोचने व्यक्तं विदुषाम् । तत्त्रैव -

> जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्त्विकस्स तु विज्ञेयस्स वै मोक्षार्थचिन्तकः ॥

इत्यत्र सात्त्विकत्वे निदानं जननकाले मधुसूदनकटाक्षः इति ।

पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथ वा पुनः । रजसा तमसा चास्य मानसं समभिप्लुतम् ॥

इत्यत्र जननकाले चतुर्मुखकटाक्षः राजसत्वे निदानं तामसत्वे च रुद्रकटाक्ष इति चाभिहितम् । तत्र कस्य पुरुषस्य कृपया रजस्तमो निबर्हणेन सत्वमवर्धत । येन जननकाले मधुसूदनकटाक्षस्सात्त्विकताज्ञापकस्स्यात् इति जिज्ञासानिवृत्तये मधुसूदनपदसुपात्तम् ।

▼ दीधितिः

भगवद्गीतायां च भक्तेः ज्ञानदर्शनप्राप्तिसाधनत्वं स्थिरीकृतम् । तेन -

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

इति श्रुतौ अर्थप्रकाशः ज्ञानरूपः 'सर्वे ह पश्यः पश्यित सर्वमाप्नोति सर्वशः (छां. ७-२६-२)' इत्युक्तरीत्या दर्शनरूपः प्राप्तिरूपश्च विवक्षितः 'आत्मबुद्धिप्रसादं (काशं) मुमुक्षुः' इति पूर्वमुक्तेः 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इत्यादाविप भक्तिसाध्यत्वेनोक्तप्राप्तेर्मुक्तधीविकासरूपत्वादिति बोध्यम् ।

उपाख्यानावतरणसमाप्तिः ③

तदर्थश्च हयशिरोवृत्तान्तज्ञानमन्तरा न ज्ञातुं पार्यत इति तत्पूर्वं षोडशः हयशिरोवृत्तान्तनिरूपणपरः हयशिर उपाख्यानाध्यायः प्रववृते (इत्यवतरणम्)॥

▼ दीधितिः

तदनेन प्रघट्टकेन साङ्ख्ययोगपञ्चरात्रपाशुपतानाम् धर्मशास्त्रत्वं तत्र पञ्चरात्रपाशुपतयोः प्रतिबुद्ध(सात्त्विक)तदन्य(तामस)रूपविभिन्नाधिकारिकत्वं च निर्णीतम् । एतेन वेदमूलास्स्मृतयस्त्रिविधाः धर्मशास्त्रेतिहासपुराणभेदात् । तत्राद्ययोरदूरविप्रकर्षादेकविद्यास्थाननिवेशः । यानि पुनस्सांख्ययोगपाशुपतपञ्चरात्राणि तान्यपि धर्मशास्त्रभेदा एवेति (न्या. प. श. अ.) इत्याद्याचार्यपादसूक्तिर्निर्व्यूढा ।

शम्भुभट्टाद्युक्तिविमर्शः

शम्भुभट्टोऽपि भाट्टदीपिकाव्याख्यायां -

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनमुदाहृत्य महाभारतरामायणसांख्यपातञ्जलपाशुपतवैष्णवानां च धर्मशास्त्र एवान्तर्भावः । पञ्चरात्रस्यात्त्रैव वैष्णवमन्त्रशास्त्रेऽन्तर्भाव इत्याचार्यपादोक्तरीतिमनुससार ॥ प्रमाणत्वेनासम्प्रतिपन्नकाशीखण्डविवरणस्य किल्पितत्वेन प्रिक्षिप्तवचनमूलकत्वादप्पय्यदीक्षिताद्युक्तेस्तामवलम्ब्य शम्भुभट्टस्य पञ्चरात्रस्याधिकारिनिकर्षकथनं तद्गुरोः खण्डदेवस्य कौस्तुमे शिष्टत्रैवर्णिकापरिगृहीतत्व,वामागमप्रचुरत्वाभ्याम् असिद्धहेतुभ्यां पञ्चरात्रागमस्य सर्वस्याप्रामाण्यभिधानं च नारायणाख्यानस्य सम्यगपरामर्शनिबन्धनत्वादनुपादेयमिति बोध्यम् । (८५-पु.) कृष्णभीष्मयोः शृण्वतो ऋषीणां सन्निधौ गीतासङ्गृहीतं सात्त्वतधर्मं धर्मराजायोपदेष्टुः (आ. प. ६४. अध्या) उपरिचरवसुदौहित्रस्य व्यासस्य स्वमातामहस्य भ्रष्टत्वं, श्रीभीष्मेणोपदिष्टस्य द्वापरयुगान्ते कलियुगादौ पाञ्चरात्रिकधर्मानुष्ठानस्य अधमविषयकत्वं च तात्पर्यविषय इत्युत्प्रेक्षणस्यानुचितत्वात् ॥

नीलकण्ठोक्तिविमर्शः सांख्ययोगपञ्चरत्राणामैकरस्योपसंहारश्च

'यस्य देवे' इत्यादिश्रुतौ गीतायां च भक्तेः मुक्तिसाधनत्वमपि विवक्षितमिति साधनेन प्रेममात्रस्य निरुपाधिकप्रेममात्रस्य वा लोके भक्तिशब्देन व्यवहारविरहात् महनीयविषयकप्रीतिरूपाया भक्तेर्गुणाधिक एव सम्भवेन ब्रह्मणो गुणाधिकत्वं जीवब्रह्मणोर्भेदं चान्तरा निर्गुणे तदसम्भवेन ब्रह्मजीवयोः परावरभावादेः ब्रह्मणो गुणाधिकत्वस्य च नारायणाख्याने स्थापनेन च, यत् नीलकण्ठस्य पञ्चरात्रस्य भक्तिमात्रे उपसंहारः साङ्ख्ययोगयोर्ज्ञान इति विभागः भक्त्यङ्गकं ज्ञानमत्र विवक्षितमिति तस्यैव ज्ञानस्य नारायणाख्यानान्ते उपसंहार इत्युक्त्वा निर्गुणात्मवादे स्वाभिमतजीवब्रह्माभेदज्ञानं मुक्तिसाधनमित्यर्थस्यात्र विवक्षोत्प्रेक्षणं तदप्यनवकाशम् ॥ अत्र -

साङ्ख्ये योगे पञ्चरात्रे वेदारण्ये च वर्णितम्।

इति प्राचीनपाठ एव साधुः

एवमेकं साङ्ख्ययोगं वेदारण्यकमेव च । परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं तु कथ्यते ॥

इत्युदाहृतवचनानुसारात्

साङ्ख्यज्ञाने तथा योगे यथावदनु वर्णितम् ।

इति । (नी. क.) पाठाभ्युपगमेऽपि 'यथावत्' इत्यनेन प्राच्यसाङ्ख्ययोगसूत्रतात्पर्यानुसारेण सगुणात्मतत्त्वमेव तत्र विवक्षितमिति उदाहृतवचनोक्तरीत्या तदेवात्रापि वर्णितमित्यर्थः प्रदर्शितो भवति । तेन त्रयाणामैकरस्यं सिद्ध्यति ॥

एवं च साङ्ख्ययोगवेदपञ्चरात्राणां प्रतिबुद्धविषयकत्वं भक्तेरेव साक्षान्मुक्तिहेतुत्वं च सुप्रतिष्ठितम् ॥

ननु अधुना परिदृश्यमानानां साङ्ख्यसूत्राणां शङ्कराचार्यादिभिरनुदाहृतत्वेनाश्रद्धेयत्वेऽपि योगसूत्राणां प्राचीनैस्सर्वैरप्युदाहृतत्वेन प्रामाण्यमेष्टव्यम् । तत्र च 'द्रष्टा दृशिमात्र' इति सूत्रे दृशिमात्र इत्यत्र मात्रपदेन आत्मनि धर्मसामान्यविरहो बोध्यत इति व्याख्यातृभिरुक्तत्वेन योगसूत्राणां निर्गुणात्मपरत्वमेवेति कथं भक्तेस्साक्षान्मुक्तिसाधनत्वमिति चेत्, उच्यते ।

योगसूत्राणां सगुणात्मपरत्वोपपपादनम्

'द्रष्टा दृशिमात्र' इत्यत्रमात्रपदेन न धर्मसामान्यं व्यवच्छिद्यते । किन्तु दृश्यस्वरूपतैव । 'द्रष्टृदृश्ययोस्संयोगो हेयहेतुः' (२-१८) इत्यनेन द्रष्टृदृश्यसंयोगस्यैव दुःखहेतुत्वं नत्वध्यासस्य परसम्मतस्येत्यभिधाय 'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' इत्यत्र सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकवस्तुसामान्यस्यापि दृश्यत्वमभिधाय 'द्रष्टा दृशिमात्र' इत्युक्त्या मात्रपदेन दृश्यस्वरूपताव्यवच्छेदस्य स्फुटं प्रतीतेः । द्रष्टा इत्यनेन अहं पश्यामीति प्रतीतिसिद्धदर्शनाश्रयत्वेनाहमर्थः विवक्षित इति प्रतीयते । अत्र च स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यादिप्रतीतिभिः शरीरादिमनोन्तस्यापि अहमर्थताप्रसक्तौ तन्निषेधार्थं मात्रपदम् । तेन च स्थूलोऽहमित्यादेः भ्रमत्वेन दृश्यस्य नाहमर्थता एवं च अहमर्थकोटौ न दृश्यान्तर्भावसिद्धिरिति बोध्यते । एतेन अहंकारस्य चिदचिद्गन्थित्वमपि व्युदस्तं भवति । दृशिशब्देन अहमिति ज्ञानस्यापि प्रत्यक्षरूमत्वमुक्तम् ॥

नन्वेवं सित दृशेस्स्वरूपपरिणामशून्यत्वेन दर्शनरूपविकारासम्भवात्कथं द्रष्टृत्वमित्याशङ्कायां 'शुद्धोऽपी'त्यादिसूत्रखण्डः प्रववृते शुद्धोऽपि स्वयंप्रकाशोऽपीत्यर्थः स्वरूपपरिणामशून्योऽपीति वा प्रत्ययपश्य[[??]] इत्यनुक्त्वा प्रत्ययानुपश्य इत्युक्त्या प्रत्ययं स्वधर्मभूतज्ञानमनुसृत्य पश्यः द्रष्टा इति तदर्थो विवक्षित इति प्रतीयते । अहमर्थस्य स्वरूपपरिणामशून्यत्वेऽपि प्रभास्थानीयस्य तद्धर्मभूतज्ञानस्य विषयसम्बन्धसम्भवेन विषयसम्बद्धधर्मभूतज्ञानाश्रयत्वेन द्वष्टृत्वमुपपद्यत इति

भावः ॥ तदुत्तरं 'तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा' इत्यत्र दृश्यस्य परार्थत्यरूपपराक्त्वबोधनेन द्रष्टुः स्वार्थप्रकाशमानत्वरूपं प्रत्यक्त्वम् अहन्त्वापरपर्यायं दर्शितं भवति ॥ 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजं, 'स पूर्वेषामिप गुरुः कालेनानवच्छेदात्' इत्यादिसूत्रस्वारस्यपर्यालोचनायाम् ईश्वरस्यापि सगुणत्वं तद्भक्त्यैव समाधिसिद्धिरिति स्पष्टं प्रतीयते । असम्प्रज्ञातसमाधेः यथा सगुणविषयकत्वं योगसूत्रतात्पर्यविषयः तथा 'भिक्तिर्मुक्तरेरुपायः (त-मु-क-जी-स- २९ श्लो.)' इत्येतद्भावप्रकाशे विशदीकृतम् ॥ अतश्च योगसूत्रे क्वापि निर्गुणात्मसाधकानन्यथासिद्धयुक्त्यादिविरहस्य द्रष्टृपदादिरूपस्य सगुणात्मसाधकस्य सद्भावाच्च तेषामिप सूत्राणां सगुणपरत्वमेवेति बोध्यम् । इत्यवतरणम् ॥

भगवच्छब्दार्थविचारः ③

शौनक उवाच -

श्रुतं भगवतस्तस्य माहात्म्यं परमात्मनः । जन्म धर्मगृहे चैव नरनारायणात्मकम् ॥

श्रुतमित्यादि भगवत इति ।

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः ॥ (वि. पु. ६.)

इति भगवच्छब्दार्थनिष्कर्षः पराशरेणोक्तः । 'सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतिश्शिवः" (श्वे. ३-११.) 'एवं स देवो भगवान्वरेण्यः' (श्वे. ५-४.) इति पूर्वाध्यायद्वयगतभगवच्छब्दस्य "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानव[[??]]लक्रिया च" (श्वे. ६-८.) इति 1 श्रुत्यैवार्थो निर्णीतः । अत्र क्रिया ऐश्वर्यम् । चशब्दः वीर्यतेजसङ्ग्रहार्थः यद्वा क्रियाशब्द एवत्रयसङ्ग्राहकः चशब्दः विततिरूपगुणसमुच्चायकः उक्तसमुच्चायक एव वा ।

▼ दीधितिः

इति 1 श्रुत्यैवेति ।

'न तत्समश्च' इत्यादिश्रुत्यर्थः, परमतासामञ्जस्यं च॥

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इत्येतत्पूर्वार्धम् । तत्पूर्वं "देवस्यैष मिहमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्' इत्यादिना 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम्', 'पितं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्' इत्यन्तेन वासुदेवस्य तत्तद्धर्मान्वयमुखेन माहात्म्यं निरूपितम् ॥ 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति मन्त्रखण्डेन पूर्वोक्तधर्मेंस्सदृशस्य येन केनाप्याकारेणाधिकस्य च वस्तुनः प्रतिषेध उक्तः । अत्र समनिषेधेनैवाधिकनिषेधस्यार्थसिद्धौ पृथगभ्यधिकश्च न दृश्यत इत्युक्त्या ईश्वरादधिकं

निर्धर्मकमपि वस्तु अप्रामाणिकमिति बोधितम् ॥ 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इत्युक्तार्थः 'परास्य शक्ति'रित्येतदुत्तरं

> न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् । स कारणं करणाधिपाधिपः न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप

इति मन्त्रेण दृढीकृतः ॥ एवमनेन मन्त्रेण 'नान्योतोऽस्ति द्रष्टा, इति (बृ) श्रुताविप नियन्तुर्नियन्त्रन्तरमेव निषेध्यतया विविध्वितमिति वृत्तिकारमतं स्थापितम् । ईक्षत्यिधकरणे चैते मन्त्राः ईश्वरपरतया उदाहृताः शङ्कराचार्यैः ॥ अत्रानन्दिगिरः - 'समः, समानजातीयः, अभ्यधिकः विजातीयः दृश्यत इति नञा अन्वितम् । द्वयं मानाभावपरम्" इति 'न तत्समश्चेति श्रुतिखण्डं व्याचख्यौ । एतत्पर्यालोचनायां सजातीयविजातीयभेदशून्यपरत्वमेतत्खण्डस्य तदिभप्रेतिमिति प्रतीयते । ईश्वरं प्रस्तुत्य एतच्छ्रुतिखण्डप्रवृत्या 'न तस्य कश्चित्पतिरस्ती'ति तदुत्तरमन्त्रे विशेषिनष्रधमध्ये 'सकारणं करणाधिपाधिपः' इत्युक्तार्थस्य निर्गुणश्रुत्युत्तरं 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः; इति पुनरुक्त्या समाभ्यधिकशब्दयोः प्रसिद्धार्थत्यागस्यानुचितत्वेन च एवमर्थविवक्षा न युक्तेति स्पष्टं विदुषाम् ॥

'परास्य शक्तिः' इत्यादिश्रुतेः परोक्तार्थविमर्शः॥

तथा सित तदन्यन्न दृश्यत इत्येतावन्मात्रेणैव तदभीष्टसिद्धौ मन्त्रभागस्य सर्वस्यापि वैफल्यं कथं परिह्नियते । अतो निर्धर्मकमप्रामाणिकमित्येवैतच्छृतितात्पर्यं पराशराद्यभिमतं युक्तम् । 'परास्य शक्ति'रिति मन्त्रस्य 'सत्वाऽसत्वादिनाऽनवगाह्यत्वं परत्वं' शक्तिर्मूलकारणं माया तस्य विविधत्वं आकाशाद्यशेषाकारत्वम्' ऐतिह्यमात्रसिद्धा सा न प्रामाणिकीति वक्तुं श्रूयत इत्युक्तम् । उक्तमायानुसारित्वं स्वाभाविकत्वम् । ज्ञानमेव बलं तेन क्रिया सा च स्वाभाविकी'ति आनन्दगिरिविवरणम् । 'शक्तिर्माया स्वकार्यापेक्षया परा । ज्ञानस्य चैतन्यस्य बलम् । मायावृत्तिप्रतिबिम्बितत्वेन स्फुटत्वम् । तस्य क्रियानामबिम्बत्वेन ब्रह्मणो जनकता । ज्ञातृताऽपि स्वाभाविकीऽति वाऽर्थः । इति रामानन्दविवरणम् । तत्राद्ये 'परं ब्रह्मे'त्यादौ परशब्दसमानार्थकस्य परशब्दस्य सदसद्विलक्षणार्थकत्वं प्रत्यक्षाद्यविषयत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयार्थकस्य श्रूयत इत्यस्याप्रामाणिकार्थकत्वं 'देवाऽऽत्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढाम्' इत्यत्र 'स्वगुणै'रित्ये तदनुसारेण शक्तिशब्दस्य प्रकृत्यर्थकत्वेऽप्यत्रगुणवाचिपदान्तरसमभिव्याहारेण ईश्वरप्रकरणेन शक्तिशब्दस्वारस्येन च ईश्वरगुणार्थकस्यापि शक्तिशब्दस्य मायार्थकत्वं च श्रुतिपीडनमेव । द्वितीये 'ज्ञानबलक्रिया चे'त्यर्थवर्णनमपि तथैव । ज्ञानमेव बलमिति विवरणे ज्ञानबलक्रियेत्यस्य ज्ञातृतेति विवरणे च बलशब्दस्य क्रिया चशब्दयोश्च वैय्यर्थं स्पष्टमेव । अतो ज्ञानबलक्रियाणां परमात्मसम्बन्धित्वं वाक्यस्वरससिद्धं नापह्नवमर्हति । एतदेवाभिप्रेत्य ज्ञानबलाभ्यां सहिता क्रियेति व्याचभ्यौ[[ख्यौ??]] ब्रह्मविद्याभरणकारः । एवं च 'स च भगवान' ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिस्सदा सम्पन्न' इति गीतावतरण(शं)भाष्येऽपि इयमेव श्रुतिरभिप्रेतेति प्रतिभाति । श्रुतौ चास्यां स्वाभाविकज्ञानबलक्रिया चे'त्यत्र चशब्देन शक्तिवदविशेषेण ज्ञानबलक्रियाणां परमात्मसम्बन्धप्रतीतावपि उक्तमायानुसारित्वं स्वाभाविकत्वम् इत्युक्तिः स्वाभाविकी इत्यस्य औपाधिकीति विवरणरीतिमनुसरति ।

निर्गुणवाक्यानुरोधेन स्वाभाविकी इत्यस्य भूतपरिणामोपाधिशून्येति सङ्कुचितार्थकत्वमङ्गीकरणीयमिति (अ-सि) उक्तिस्तु 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुत्या निर्विशेषस्याप्रामाणिकत्वसिद्ध्या निर्गुणश्रुतेस्संकोचकत्वासंभवे नाना[[??]]दरणीया ॥

निर्गुण-श्रुत्य्-अर्थः ③

परा, विविधा स्वाभाविकी, इति पदैः शक्त्यादीनाम् अवरत्वं सङ्ख्यावत्त्वम् औपाधिकत्वं च व्यवच्छिद्यते (श्व. ६-११.) निर्गुणश्रुतेः (६-२) पूर्वं (६-१६.) परत्र च 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' इति श्रुतौ 'गुणी' इत्यत्र 'भूमनिन्दाप्रशंसासु... भवन्ति मतुबादयः' इति वार्तिकानुसारेण प्रशंसायामिनिः, एवं च सगुणश्रुतिसन्दष्टश्रुतौ 'निर्गुणः' इत्यनेन 1 अप्रशस्तगुणानामेव निषेधः 2 अन्ते 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।

▼ दीधितिः

1 अप्रशस्तगुणानामेवेति । निर्गुणश्रुत्यभावे 'गुणी' इत्यत्र संसर्गविवक्षायामिनिप्रत्ययसम्भवेन अघटितघटनासामर्थ्येन अप्रशस्तानामपि गुणानां संसर्गः प्रतिपाद्यतया विवक्षितस्स्यादिति तद्भ्युदासाय निर्गुणश्रुतिरिति भावः ॥

2 अन्त इति । 'विना हेयैर्गुणादिभि'रित्यत्र हेयपदं 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इति श्रुतिघटकअवद्यपदमभिप्रेत्य प्रयुक्तम् । आदिशब्दार्थः अवद्यकार्यम् । तन्निषेधश्च 'निरञ्जन'मिति श्रुतिसिद्धः । निरवद्यश्रुत्या हेयगुणनिषेधसिद्धावपि सातिशयसंख्यावद्गणनिषेधार्थं निर्गुणश्रुतिः ॥

(१९) इत्यत्रापि 'निरवद्य'मित्यनेन ब्रह्मण्य3विद्यासम्बन्धनिषेधेन आविद्यकहेयगुणसम्बन्धनिषेधस्यैव सिद्धेः अतो निर्गुणः, इति न गुणसामान्यनिषेधकं किन्तु हेयगुणनिषेधकमेवेति ज्ञानादिषट्कवान्भगवच्छब्दार्थः इति पराशरस्याशयः 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधित ततो ब्रवीति च भूयः, इति सूत्रकृद्ध्यासोऽप्येवमेवाभिप्रैति (३-२-२१) ।

▼ दीधितिः

3 अविद्यासम्बन्धनिषेधेनेति । निर्गुणश्रुत्या गुणानां द्रव्यपरिणामतापक्षे ब्रह्मणः स्वरूपपरिणामनिषेघलामेऽपि अविद्यासम्बन्धनिषेधः न ततो लभ्यत इति भावः ॥

वासु-देवस्यैव भगवच्-छब्दार्थता®

इममे1व नयं (वे. अ. सं.) प्रदर्शयन्तः भगवच्छ्रीभाष्यकाराः (आ. सि.) भगवद्यामुनमुनिसूक्तिक्रमेण स्वाभाविकानवाधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणः, इति बहुत्र व्यवहरन्त इत्थं श्रुतिस्मृत्योस्सौहार्दमाविश्चक्रुरित्यवसेयम् ॥

▼ दीधितिः

1 इममेवनयमिति । अन्ते 'निरवद्यं निरञ्जन'मित्यनन्तरमपि 'अमृतस्य परं सेतुम्' इत्यादिना मुक्तिहेतुत्वादीनां प्रतिपादनात् । पूर्वं 'केवलो निर्गुणश्च' इत्यनन्तरमपि 'एको वशी' 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षास्थितिबन्धहेतु'रित्यादिना अनन्तगुणविशेषाणां प्रतिपादनाच्चेति भावः ।

ज्ञानिदगुणष्ट्कवांश्च वासुदेव एव नान्यः विष्णुपुराणे - 'सर्वत्रासौ - वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते' (१-२-१४) इति वासुदेवस्य परत्वमुपक्रम्य 'अद्यापि न निवर्तन्ते द्वादशाक्षरिचन्तकाः' (६-३९) इत्यत्र द्वादशाक्षरिचन्तकानामपुनरावृत्तिमिभधाय 'ओं नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा, (१९७८) 'ओं नमो विष्णवे तस्मै, (८४) इत्यत्र द्वादशाक्षरमन्त्रं पदव्यत्यासेन विष्णुषडक्षरमन्त्रं यथावच्च प्रदर्श्य तेन विष्णोर्नादार्थवासुदेवरूपतां प्रकाश्य षष्ठेंशे 'ज्ञान-शक्ति' इत्यादिना 'विनाहेयैर्गुणादि'रित्यनेन (६-५-७९) भगवच्छब्दार्थमिभधाय

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि । भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥ (६-५-८)

2 इत्युपसंहारात्।

▼ दीधितिः

2 इत्युपसंहारादिति । एतेन 'सर्वव्यापी भगवान्' इति श्रुतौ सर्वव्यापिपदे वासुदेवशब्दयोगार्थो विवक्षित इति बोधितम् ॥

भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि । निरुपाधी च वर्तेते वासुदेवे सनातने ।

इति पुराणान्तराच्च । एतेन 'एको देवः - निर्गुणश्च' (श्वे. ६) इति 1श्रुतौ देवः वासुदेव इति सिद्धम् ॥

▼ दीधितिः

इति 1 श्रुताविति । 'एवं स देवो भगवान्वरेण्यः' इति श्रुत्यनुसारादिति भावः । सर्वव्यापी स भगवान्तस्मात्सर्वगतश्शिवः । इत्यत्र शिवशब्दः -

> अप्रमेयमनाद्यन्तं ज्ञात्वा च परमं शिवम् । सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः ।

इति ब्रह्मबिन्दूपनिषदि उपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया शुभत्वप्रवृत्तिनिमित्तेन वासुदेवपरः इदं च 'सर्वगुह्यमयश्शिवः वासुदेव', इति वचनविवरणावसरे (१७. पु.) प्रतिपादितम् ॥

पञ्चम-वेद--तद्-उपनिषद्-अर्थस्य श्रुति-प्रसिद्धता परमात्म-शब्दार्थश् च®

'इतिहासपुराणाभ्यां' (आ. प. १-२२३) इतीतिहासश्रेष्ठस्य महाभारतस्य वेदोपबृंहणत्वमभिधाय 'कार्ष्णं वेदिममं विद्वान्श्रावयित्वार्थमश्रुते (१९४), इत्युपक्रमे 'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्' इति बहुत्र मध्ये 'कार्ष्णं वेदम्' इति पूर्ववत् (स्व. आ. प.) उपसंहारे च वेदत्वेन व्यवहृते पञ्चमवेदे -

लोकानां च हितार्थाय कारुण्यान्मुनिसत्तमः । अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ (आ. प. २७९)

इति पञ्चमवेदोपनिषत्त्वेन व्यवहृतायां भगवद्गीतायां च श्रुतिप्रसिद्धस्यैव माहात्म्यमभिधीयते नान्यस्येत्यभिप्रेत्य तस्येत्युक्तम् । तस्य श्रुतिप्रसिद्धस्य । परमात्मन इति ॥

> यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते ॥

इति स्मार्तनिर्वचनसिद्धात्मशब्दार्थस्य जीवसाधारण्येन तद्घ्युदासाय परमत्वविशेषणम् । तच्च निरुपाधिकत्वम् । इत्थञ्च 'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ' इत्युणादिसूत्रानुसारिणः 'यच्चास्य सन्ततो भाव' इति निर्वचनसिद्धस्य 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (छां) इत्युपनिषदभिप्रेतस्य धर्मभूतज्ञानघटितव्यापकत्वार्थस्य अन्यस्योपाधिकस्य(परेच्छाप्रयुक्तस्य) अर्थस्य जीवसाधारण्येऽपि निरुपाधिकस्य कस्यापि ब्रह्मादिजीवेषु नैव सम्भवः । अत एव भागवद्गीतायां

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

इत्यादि ।

माहात्म्यशब्दार्थः तस्य औपनिषदता ③

विष्णुपुराणे -

परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः । विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥ इति च संगच्छते ॥

माहात्म्यं - महात्मनो भावः माहात्म्यं 'अज आत्मा महान् ध्रुवः (बृ. ६-४-२०), 'स वा एष महानज आत्मा - सर्वस्य वशी सर्वस्येशानस्सर्वस्याधिपतिस्स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवा साधुना कनीयान् । एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' (२२) 'स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः' (२४) 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयं ब्रह्म' (२५) इत्यादिश्रुतौ 'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः' (३-१०) इति पूर्वोक्तजीवात्मव्यावर्तकाः महात्मधर्माः प्रतिपादिताः ।

तेन जीवब्रह्मभेदसिद्धिः तद्ज्ञानस्य फलम्, आदिपर्वोक्तं नारायणपरत्वं च®

एवं 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (क. २- १२) 'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (२२) इत्यत्र 'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (क. ४-४)

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते (५)

इत्यत्र च जीवात्मनस्स्वव्यावर्तकधर्मवत्त्वेन महात्मनो ज्ञानस्य फलमप्युक्तम् । उक्तश्रुतीरनुसन्धाय प्रवृत्तं 'पश्य देवस्य माहात्म्यं महिमानं च नारद' 'महान्महात्मा' इत्यादिकमितः 1 प्राग्वचनजालमभिप्रेत्य माहात्म्यमित्युक्तम् एतेन शोकात्यन्तनिवर्तकधर्मादिना परस्य जीवाद्धेदस्सिद्धः ॥

▼ दीधितिः

1 प्राग्वचनजालमिति । अत्र श्रुतौ महात्मनः अकर्मवश्यत्वं (सर्वनियन्तृत्वं) सर्वेश्वरत्वं (सर्वस्वामित्वं) सर्वभूताधिपतित्वं सर्वधारकत्वं सेतुत्वं च प्रतिपादितं तने[[??]] जीवमहतोः भेदस्स्थापितः उदाहृतवचनेषु नारायणस्यैव महात्मत्वनिर्धारणपूर्वकं तस्यैवाकर्मवश्यत्वस्थापनेन विष्णोः कर्मवश्यत्वोत्प्रेक्षणं शाक्तानां व्यासेन व्युदस्तं भवति । श्रुतौ 'सर्वस्येशानः' 'सर्वेश्वर' इत्यत्र निरुपाधिकमैश्वर्यं वासुदेवे प्रतिष्ठित'मित्युक्तदिशा वासुदेव एव विवक्षित इति भावः ॥

श्रुतमिति । तत्र तत्र श्रुतमित्यर्थः । तत्तत्प्रकरणस्थकतिपयवचनोदाहरणेन भगवन्माहात्म्यं पूर्वं निरूपितम् ॥ एवम् आदिपर्वोपक्रमवचनेष्वपि नारायणस्य परत्वं स्थापितम् । यथा तत्र -

> आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् । ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥ २८ ॥ असच्च सच्चैव च यद्विश्वं सदसतः परम् । परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥ २९ ॥ मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम् । नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥ ३० ॥

इति ॥

नास्ति नारायणसमं न भूतं न भविष्यति ॥

इति ।

भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।

नारायणस्य प्रणवार्थत्वम् ③

[[(आ-शां) रुद्रं प्रति सनत्कुमारोक्तं नारायणस्य प्रणवार्थत्वम् । अर्चनीयत्वं च]]

स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥ शाश्वतं ब्रह्मपरमं ध्रुवं ज्योतिस्सनातनम् ।

इति चोक्तम् । अत्र 'ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्, इत्यनेन 'चतुष्पादिदमक्षरं परं ब्रह्म' इत्यथर्वशिखार्थ उक्तः ॥

आनुशासनिके रुद्रं प्रति सनत्कुमारोक्तौ -

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यत्तत्सदसतः मरम् । 1 अनादिमध्यपर्यन्तं कृटस्थमचलं ध्रुवम् ॥

▼ दीधितिः

1 अनादीत्यादि । एभिर्विशेषणैः प्रळयासंस्पर्शित्वं नादार्थस्य बोधितम् । हरिशब्देनापि सर्वसंहर्तृवाचिना स एवार्थो दढीकृतो भवति । विष्णुं, हरिमिति सामानाधिकरण्येन उकारार्थविष्ण्वभेदः नादार्थस्योक्तः ॥

योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम् । अप्रमेयमविज्ञेयं हरिं नारायणं प्रभुम् ॥ कृताञ्जलिश्शुचिभूत्वा प्रणम्य प्रयतोऽर्चयेत् ॥ (१६६-३१)

इत्यत्र नारायणस्य प्रणवप्रतिपाद्यत्वं स्फुटम् ॥ एवं हरिवंशे कैलासयात्रायां कृष्णस्य रुद्रसमागमानन्तरम् ऋषीन् प्रति रुद्रोक्तौ (१३२)

एतदेव परं वस्तु नैतस्मात्परमस्ति नः । एष नो मोक्षदाता च॥

इत्यादौ -

2 हरिरेकस्सदा ध्येयो भवद्भिस्तत्त्वसंस्थितैः ।

▼ दीधितिः

2 हरिरेक इति । अयं 'ओमित्येवम्' इति च (शं) सहस्रनामभाष्ये उदाहारि । रसगङ्गाधरे उल्लेखप्रकरणे 'महाविष्णुरिति वैष्णवाः शिव इति शैवाः, इत्युपक्रम्य 'ब्रह्मेत्यौपनिषदावदन्ति सोऽयमादिपुरुषोहरि'रित्यत्र एतद्वचनमभिप्रेतमिति प्रतीयते । सर्वसंहर्ता वासुदेव एव नादार्थः हरिशब्दार्थोऽत्र विवक्षितः ।

नादार्थत्वं 🏵

▼ दीधितिः

[[ऋषीन् प्रतिरुद्रोक्तं प्रणवार्थमोक्षप्रदत्वादिकम् । वाराहे तदुक्तं नादार्थत्वं च]]

वाराहे -

नारायणः परो देवस्सर्वरूपो जनार्दनः । त्रिधात्मानं स भगवान्ससर्ज परमेश्वरः ॥ यस्सत्त्वं स हरिर्देवः यो हरिस्तत्परं पदम् ।

इत्युपक्रम्य ब्रह्मरुद्रयोः रजस्तमोधिष्ठातृत्वमुक्त्वा ।

सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रितयं चैतदुच्यते । सत्त्वेन मुच्यते जन्तुस्सत्त्वं नारायणात्मकम् ॥

इत्यादिषु अगस्त्यं प्रति रुद्रवचनेषु सत्त्वाधिष्ठातुरेव प्रळयकाले सत्वम् । तदनुग्रहेणैव सत्त्वाभिवृध्या चेतनानां मुक्तिः । तस्यैव मुक्तप्राप्यत्वम् । पाशुपताद्युक्तकर्मणां रौद्रत्वं मुक्तीतरफलहेतुत्वं चाभिधाय नारायणस्यैव द्वापरे पञ्चरात्रेणोपास्यत्वम् । कलौ तामसैः रुद्रकृतमार्गेण द्वेषबुध्या जनार्दनस्य इज्यत्वं चाभिहितम् । एतत्प्रघट्टकपर्यालोचनायामपि सत्त्वाधिष्ठातुरेव नादार्थत्वं प्रतीयते । सङ्कर्षणादीनामि प्रलयस्याहिर्बुध्यसंहितायां 'नासदासी'दिति श्रुत्यर्थकथनावसरे प्रतिपादनेन परवासुदेवस्यैव नादार्थस्योपास्यत्वं प्राप्यत्वं चेति सिद्धम् ॥

1 नान्यो जगित देवोऽस्ति विष्णोर्नारायणात्परः ॥ ओमित्येवं सदा विप्रा पठत ध्यातकेशवम् । ततो नश्श्रेयसः प्राप्तिर्भविष्यति न संशयः ॥ एवं ध्यातो हरिस्साक्षात्प्रसन्नो नो भविष्यति । भवनाशमयं देवः करिष्यति दृढं हरिः ॥ १३२ ॥

▼ दीधितिः

1 नान्य इति । अत्र परशब्दान्यशब्दयोः प्रयोगात् नारायणादुत्कृष्टस्यैव तदन्यदेवस्य निषेधः नत्वपकृष्टस्य तदन्यदेवस्येति स्फुटम् । एवम् 'एतदेव परं वस्तु नैतस्मात्परमस्ति नः' इत्युपक्रमवाक्येऽपि बोध्यम् ॥

रुद्रोपासनस्य हरिस्मृतिहेतुतामात्रम् (ह-वं) ③

1 ध्यात्वा मां सर्वयत्नेन ततो जानीत केशवम् । उपास्योऽयं सदा विप्रा उपायोऽस्मि हरेस्स्मृतौ ॥ इत्यन्तेऽपि बोध्यम् । एतत्पूर्वाध्याये -

इत्युक्त्वा पुनराहेदं याथात्म्यं दर्शयन्निव । मुनीनां श्रोतुकामानां याथात्म्यं तत्र सत्तमः ।

▼ दीधितिः

1 ध्यात्वा मामिति । अत्र शिवेन स्वज्ञानस्य केशवज्ञानहेतुत्वस्य स्वस्मृतेः हरिस्मृतिहेतुत्वस्य च प्रतिपादनेन शतरुद्रीयादिज्ञानस्य केशवज्ञानसम्पादकत्वमात्र एव उपयोगः । न तु मुक्तौ साक्षादिति बोधनेन 'एष नो मोक्षदाता च' 'भवनाशमयं देवः करिष्यति' इत्यत्रोक्तं स्वस्यापि मुक्तिहेतुत्वं नारायणस्यैवेत्ययमर्थः दृढीकृतः । एतेन पूर्वाध्याये -

> आदिस्त्वं सर्वभूतानां मध्यमन्तस्तथा भवान् । त्वत्तस्समभवद्विश्वं त्विय सर्वं प्रलीयते ॥ अहं त्वं सर्वगो देव त्वमेवाहं जनार्दन । आवयोरन्तरं नास्ति शब्दैरर्थैर्जगत्पते ॥ नामानि तव गोविन्द यानि लोके महान्ति च । तान्येव मम नामानि नात्र कार्या विचारणा ॥ त्वदुपासा जगन्नाथ सैवास्तु मम गोपते । यश्च त्वां द्वेष्टि देवेश समां द्वेष्टि न संशयः ॥ त्वद्विस्तारे यतो देवा अहं भूतपितस्ततः । न तदस्ति विना देव यत्ते विरहितं हरे ॥ यदासीद्वर्तते यच्च यच्च भावि जगत्पते । सर्वं त्वमेव देवेश विना किञ्चित्त्वया न हि ॥

इति वचनान्यपि निर्व्यूढानि । अत्र पूर्वं 'क इति ब्रह्मणो नामे'त्यत्र ब्रह्मरुद्रयोः भगवतो जन्म प्रतिपाद्य 'आदिस्त्व'मित्यत्र सर्ववस्तूनामिप तत एव जन्मादिकमुक्त्वा अहं त्वमित्याद्यभेदिनर्देशेन अन्ते 'सर्वं त्वमेव देवेशे'त्युक्त्या च सर्वाभेदव्यपदेशतुल्य एव ब्रह्मरुद्राभेदव्यपदेश इति स्फुटम् । तत्र च उत्पत्तिलयकारणत्वकथनेन उपादानोपादेयभावनिबन्धन एवैक्योपदेश इति प्रतीयते । एवं 'अहं त्वं सर्वग' इत्यत्र सर्वव्याप्तेः प्रतिपादनेन 'विना किञ्चित्त्वया न हि' इति तस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमुखेन दृढीकरणेन च अपृथक्सिद्धिनिबन्धन ऐक्य (अविभाग) व्यपदेश इति प्रतीयते । आवयोरन्तरं नास्ति शब्दैरथैंर्जगत्पते, इति तु अपृथक्सिद्धप्रकारवाचिनां शब्दानां विशिष्टबोधकत्वतात्पर्यकम् । 'नामानि तव गोविन्दे'ति तु पूर्वार्धे 'महान्ति' इत्यस्य सत्त्वेन उत्तरार्धे तदसत्त्वेन च रुद्रवाचकाश्शब्दाः नारायणे असङ्कुचितयोगार्थाः रुद्रे तु सङ्कुचितयोगार्था इति तात्पर्यकमपीति बोध्यम् ॥

कृष्णमुद्दिश्य अञ्जलिं सम्पुटं कृत्वा शङ्करोक्तविष्णुयाथात्म्यादेर्विचारः (ह-वं)®

अञ्जलिं सम्पुटं कृत्वा विष्णुमुद्दिश्य शङ्करः । उमया सार्धमीशानो 1 याथात्म्यं वक्तुमैहत ॥

▼ दीधितिः

1 याथात्म्यमिति । अत्र 'याथात्म्यं श्रोतुकामानां याथात्म्यं वक्तुमैहत, इति वाक्यद्वयपर्यालोचनायां देवेन वक्ष्यमाणोऽर्थस्सर्वोऽपि परमार्थभूत इति प्रतीयते । तेन 'याथात्म्यं दर्शयन्निवे'त्यत्र इवशब्दः दर्शनस्यैव सम्भावनाविषयत्वं बोधयति । न तु याथात्म्यस्य । वाक्येन बोधनं विशदबोधनरूपमपि न मुख्यं दर्शनमिति तात्पर्येण इवशब्दः । अत एव 'छिन्नो नस्संशयस्सर्व, इत्याद्युपसंहारे ऋषीणां संशयपिरहारार्थमत्रागमनं, रुद्रवाक्यश्रवणसमनन्तरं केशवहरिशब्दवाच्यस्य नारायणस्य परमात्मत्वनिष्कर्षणं संशयपिरहरणं च प्रतिपादितं सङ्गच्छते ॥

कित दुर्गाणि दुर्गायाः लङ्काया ब्रूहितानि मे ।
 ज्ञातुमिच्छामि तत्सर्वं दर्शनादिव वानर ॥ (रा.यु. ३.३)

इत्यत्र इवशब्दवत्।

इत्यनन्तरं कृष्णं प्रति रुद्रोक्तौ -

क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् । आवां तवाङ्गे सम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान् ॥ हरसि प्राणिनो देव ततो हरिरिति स्मृतः ।

इति केशवहरिशब्दयोरर्थ उक्तः ।

रुद्रोक्त्यनन्तरम् ऋषीणां नारयणस्य परमात्मत्वनिर्णयः विष्णोश्चातुरात्म्यम् ®

अत्र रुद्रेण नारायणस्य ब्रह्मरुद्रजनकतायाः प्राणिसामान्यसंहर्तृत्वस्य नारायणान्यपरतत्त्वनिषेधस्य स्वोपासनस्य केशवज्ञानध्यानोपायतायाः केशवस्यैव मुक्तिदातृत्वस्य च प्रतिपादनेन ॥

छिन्नो नस्संशयस्सर्वो गृहीतोऽर्थस्स तादृशः । एतदर्थं समायाता वयमद्य तवालयम् ॥ यथाह भगवान् रुद्रो यतामस्सततं हरौ । इति ते मुनयः प्रीताः प्रणेमुः केशवं हिरम् ॥ १३३ ॥ तमेव परमात्मानं मत्वा नारायणं हिरम् । विस्मयं परमं गत्वा मेनिरे सुकृतार्थताम् ॥ इति ऋषीणामुक्ताविप (१३२) केशवहरिशब्दवाच्यस्यैव परत्वकथनेन च प्रणवघटकार्धमात्रार्थोऽपि नारायण एवेति निर्णीतं भवति । यथोक्तं बृहन्नारदीये -

> नारायणं परानन्दं स्मरेत्प्रणवसंस्थितम् । नादरूपमनौपम्यमर्धमात्रापरिस्थितम् ॥ ३१ - १५८ ॥

इति आदिपर्ववचनेषु व्यक्ताव्यक्तमित्यत्र वासुदेवसङ्घर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धात्मकत्वेन चातुरात्म्यं विवक्षितम् । तद्क्तं विष्णुपुराणे 'ओंकारो भगवान्विष्णुः' (२-८-५५) इति ।

ध्रुवमेकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येव व्यवस्थितम् ॥ ३-३-५१ ॥

डत्यादि ।

यदूपं वासुदेवस्य परमात्मस्वरूपिणः । एतद्ब्रह्म त्रिधा भेदम्॥

इत्यन्तम् । आहं च योगयाज्ञवल्क्यः -

त्रिरात्मा त्रिस्वभावश्च तथा त्रिव्यूह एव च ।

चतुरात्मनो वासुदेवस्य प्रणवार्थता व्यक्ताव्यक्तशब्दार्थता च®

पञ्चरात्रे तथा ह्येष भगवद्वाचकस्स्मृतः ॥ बलं वीर्यं तथा तेजस्त्रिरात्मेति च संज्ञितः । ज्ञानैश्वर्ये तथाशक्तिस्त्रिस्वभाव इति स्मृतः ॥ सङ्कर्षणोऽथ प्रद्युम्नो ह्यनिरुद्धस्तथैव च । त्रिव्यूह इति निष्कृष्ट ओङ्कारो विष्णुरव्ययः ॥ भगवद्वाचकः प्रोक्तः प्रकृतेर्वाचकस्तथा । व्यक्ताव्यक्तो वासुदेवः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ (ता. चं.)

इति । श्रीभागवते च - (१२-स्कं.)

वासुदेवस्सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषस्स्वयम् । अनिरुद्ध इति ब्रह्मन्मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते ॥ स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः । अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाष्यते ॥

इति प्रणवघटकाकारोकारमकारनादार्था उक्ताः । उक्तं चाहिर्बुध्न्येन -

सङ्कर्षणादिभूम्यन्तमञ्जनं विगतं यतः । तदव्यक्तमिति ज्ञेयम्॥ ४-२७॥ भगवान्वासुदेवश्च व्यूहाश्चैव त्रयो मुने । चातुरात्म्यमिदं विद्धि व्यक्ताव्यक्तस्वलक्षणम् ॥ इति (५-२) ।

अतश्च -

ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् । (आ. प.)

इत्यस्य यथोक्त एवार्थः । एवम् 'आद्यं पुरुषमीशानम्' 'परावराणां स्रष्टारम्' 'मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुमि'त्यादिना - "प्रथमा रक्तपीता महद्ब्रह्म दैवत्या द्वितीया विद्युमती कृष्णा विष्णुदैवत्या तृतीया शुभा शुक्ला रुद्रदैवत्या याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा विद्युमती सर्ववर्णा पुरुषदैवत्या "

आदिपर्ववचनानाम् अथर्वशिखार्थ-निर्णायकता ततो लक्ष्मी-विशिष्टस्यैव नादार्थत्वम्®

"प्राणम्मनिस करणैर्नादान्ते परमात्मिन सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यायेतेशानं प्रध्यायितव्यं सर्विमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सहभूतैः कारणन्तु ध्येयस्सर्वेश्वर्यसम्पन्नस्सर्वेश्वरश्शम्भुः" "शिव एको ध्येयश्शङ्करस्सर्वं परित्यज्य" इति अथर्वशिखातात्पर्यनिर्णयः कृतः । श्रुतौ उपक्रमगतविष्णुपुरुषशब्दयोर्मध्यगतेशानविष्णुशब्दयोश्च पुरुषमीशानं विष्णुमितिपदैः श्रौतकारणपदस्य आद्यं परावराणां स्रष्टारमित्यनेन मङ्गल्यं मङ्गलमित्यनेन श्रुतावुपसंहारस्थ1शङ्करशिवशब्दयोश्च विवरणात् ।

▼ दीधितिः

1 शङ्करशब्दो (ह. वं. १३१ अ) यौगिकः । मङ्गल्यमिति 'तत्र साधु'रिति यत्प्रत्ययान्तम् । तेन शङ्करशब्दविवरणरूपताऽस्य । शिवशब्दश्च मङ्गलार्थकः ॥

शम्भुशब्दश्च 2 कोशे नारायणनामसुपठितः । विष्णुवासुदेवशब्दद्वयप्रयोगेण उकारनादयोरर्थ एक एवेति ख्यापितम् ।

▼ दीधितिः

2 वेदान्तकौस्तुभादौ कोश उदाहृतः ॥

श्रुतौ विष्णुदैवत्या पुरुषदैवत्येत्युभयत्र 3 विद्युमतीति शब्दप्रयोगेण विष्णुपुरुषशब्दयोरैकार्थ्यं लक्ष्मीविशिष्टस्यैव 4 नादार्थत्वं परत्वं नान्यस्येति च व्यञ्जितम् ॥

▼ दीधितिः

3 विशेषेण द्योतत इति विद्युत्, विद्युत् अस्या अस्तीति विद्युमती तलोपश्छान्दसः -

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा । अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा ॥ (रामा.)

'चन्द्रां प्रभासां' (श्रीस्) इत्यादौ श्रियः विद्योतमानत्वं स्पष्टम् ॥

4 'अर्धमात्रात्मकः कृष्णो यस्मिन्विश्वं प्रतिष्ठितम् । कृष्णाऽत्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृतिरुक्मिणी ॥ अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः । श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी ॥ उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् । सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ॥ प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः । इति ॥

परव्याख्यातृभिरादृतयोः गोपालरामतापनीयोपनिषदोश्श्रीविशिष्टस्य नादार्थत्वं व्यक्तम् ॥

ब्रह्मवैवर्तवचनैः 'ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्राः' इत्यदिश्रुत्यर्थनिर्णयः ③

अथर्वशिखायामीशानशब्दो 1 यौगिक इति 'कारणन्तु ध्येयस्सर्वैश्वर्यसम्पन्नस्सर्वेश्वर' इति तत्रैवाभ्यासतात्पर्यलिङ्गाद्व्यक्तम् । 'सर्विमेदं ब्रह्म विष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते' इति श्रुतिः 'असच्च सच्चैव च यद्विश्वम्' 'परावराणां स्रष्टारं' इत्यादिवाक्यैरुपबृंहिता । एवम् -

मङ्गल्यं मङ्गलार्हं च मङ्गलं मङ्गलप्रदम् ॥ २३ ॥ प्रकृतेः परमीशानं निर्गुणं नित्यविग्रहम् । आद्यं पुरुषमव्यक्तं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ॥ २५ ॥ सत्यं स्वतन्त्रमेकं च परमात्मस्वरूपकम् । ध्यायन्ते वैष्णवाश्शान्ताश्शान्तं तत्परमायणम् ॥ २६ ॥ आविर्बभूवुस्सर्गादौ पुंसो दक्षिणपार्श्वतः । भवकारणरूपाश्च मूर्तिमन्तस्त्रयो गुणाः ॥ ३, ४ ॥ आविर्बभूव तत्पश्चात्स्वयं नारायणः प्रभुः । शुद्धस्फटिकसङ्काशः पञ्चवक्त्रो दिगम्बरः ॥ ३, १८ ॥ आविर्बभूव तत्पश्चात्कृष्णस्य नाभिपङ्कजात् । महातपस्वी॥

इति ब्रह्मवैवर्तब्रह्मखण्डोपक्रमवचनान्युपबृंहणान्यनुसन्धेयानि ।

▼ दीधितिः

1 'सर्वस्येशानः' 'विश्वस्येशानम्' इत्यादौ ईशानेश्वरादिशब्दानां 'प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात्' इति न्यायेन यौगिकत्वमेवेति साधितं पाराशर्यविजयादौ ॥

'शान्तं शिवम्' 'तत्पुरुषाय' 'न तत्समश्च' इत्यादिश्रुत्यर्थनिर्णयः धर्मावतारश्च®

एवं विष्णुपुराणबृहन्नारदीयविष्णुधर्मोत्तरमात्स्यकूर्मोत्तररामायणलैङ्गहरिवंशवाराहादिवचनान्युपबृंहणा नि यथार्हमुदाहरिष्यामः । 'मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुम्' 'भगवान्वासुदेवश्चे'ति वाक्यद्वयेन 'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इत्यादिश्रुतयो व्याख्याताः । (१३ पु.) 'सृष्ट्वा सङ्कर्षण'मित्याद्युदाहृतभीष्मपर्ववचनान्यप्येतत्तात्पर्यकानि । आदिपर्वणि 'आद्यं, पुरुषं, विष्णुं, नास्ति नारायणसमं, भगवान्वासुदेवः' इति वाक्यैः 'तत्पुरुषाय विद्यहे' इत्यारभ्य 'नारायणाय विद्यहे । वासुदेवाय धीमहि । तत्रो विष्णुः प्रचोदयात्' इत्यन्तश्रुतिसन्दर्भे उपक्रमस्थपुरुषशब्दस्य उपसंहारगतानां नारायणादिशब्दानाञ्चैकार्थ्यं बोधितम् । 'नास्ति नारायणसमम्' इत्यत्र 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः' 1'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इत्यादिश्रुतयो विवक्षिताः ।

▼ दीधितिः

1 'एतेन श्वेताश्वतरषष्ठाध्यायस्य नारायणपरत्वं दर्शितम् ॥

पुरुषनारायणपदप्रयोगेण 'अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत' इत्याद्युपनिषदर्थोऽप्युक्तः ॥

अरण्यपर्वणि - १९२ अ. 'आपो नारा' इत्यादिवचनैः मार्कण्डेयं प्रति भगवता एतदुपनिषदर्थी विस्पष्टमुपदिष्टः । इति बोध्यम् । 'जन्मधर्मगृहे' इति । आदिपर्वणि -

स्तनन्तु दक्षिणं भित्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः । निस्सृतो भगवान् धर्मस्सर्वभूतसुखावहः ॥

इत्यत्र धर्मस्यावतार उक्तः । अयमेव विष्वक्सेनसंहितादिषु नामतो निर्दिष्टेषु 'षट्त्रिंशांश्च चतुरः कल्पयन्तः' इति धर्मसूक्तोक्तषट्त्रिंशद्विभवावतारेषु अन्यतम इति 2प्रतिभाति ।

▼ दीधितिः

2 एतच्च घर्मसूक्तविवरणे निरूपितम् ॥

'नरनारायणात्मकम्' इति ।

कृते नरनारायणावतारः द्वापरे तयोर् एव कृष्णार्जुनरूपता ③

सभापर्वणि भीष्मेण -

तमिमं सर्वसम्पन्नमाचार्यं 1 पितरं गुरुं । अर्च्यमर्चितुमिच्छामस्सर्वे सम्मन्तुमर्हथ ॥ ४१-२१ ॥

▼ दीधितिः

1 आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यपि । स्वयमाचरते यस्मात्तस्मादाचार्य उच्यते ॥ गुशब्दस्त्वन्धकारस्स्याद्गुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥

इत्याचार्यगुरुशब्दौ निरुक्तौ ॥

सृष्टिकाले दयया करणकळेवरप्रदानेन या अज्ञाननिवृत्तिः या च ब्रह्मविद्याप्रदानेन अज्ञानसामान्यनिवृत्तिः एतदुभयं 'आचार्यं पितरं गुरुम्' इत्यनेन दर्शितं भवति । एतच्च (तत्व. सर्वा.) भावप्रकाशे (जीव. २५ श्लो.) विशदीकृतम् ॥

> कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि 2 कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३ ॥

▼ दीधितिः

2 कृष्णस्य शेषभूतमित्यर्थः (गी. भा) ॥

इति कृष्णमाहात्म्यमुपक्रम्य प्रादुर्भावकथनोपक्रमे —

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान्प्रभुः । नरनारायणौ भूत्वा हरिरासीद्युधिष्ठिर ॥ ४४ अ. ॥

इत्यत्र नरनारायणावतार उक्तः । स च कृतयुग इति नारायणाख्याने स्फुटम् ॥ अरण्यपर्वणि च कैरातयुद्धानन्तरं भाविजयद्रथवधार्थं पाशुपतास्त्रं प्रार्थितवतेऽर्जुनाय पाशुपतास्त्रदानावसरे -

> नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान् । बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान्बहून् ॥ ४० ॥

इति रुद्रोक्तौ अनयोरेव द्वापरयुगेऽर्जुनवासुदेवात्मनाऽवतार इति व्यक्तम् ।

पूर्वाध्यायार्थसंग्रहानुवादः ③

एवं तत्रैव --

ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं नरं नाम सुरेश्वरम् । बदर्या तप्ततपसं नारायणसहायकम् ॥ २७३ ॥ इति जयद्रथं प्रति रुद्रोक्तावि । अनन्तरं जयद्रथं प्रति रुद्रेणैव नारायणस्य परत्वं सम्यगुपदिष्टम् । एतेन अर्जुनस्य गौणप्रादुर्भावता बोधिता ॥ उद्योगपर्विण च दुर्योधनं प्रति भीष्मेण नरनारायणविरोधे कुरूणां विनाशकथनावसरे, भीष्मपर्विण – विष्णुधर्मोत्तरे च नरनारायणवृत्तान्तोऽवसेयः ॥

महावराहसृष्टा च पिण्डोत्पत्तिस्सनातनी । प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यो यथा परिकल्पितः ॥ २ ॥ तथा स नश्श्रुता ब्रह्मन् कथ्यमानस्त्वयानघ । हव्यकव्यभुजो विष्णुरुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३ ॥

महावराहसृष्टेत्यादि । उक्तसमुच्चायकात् चशब्दात् श्रुतेति विपरिणम्यानुषञ्जनीयम् । अयं (ना. आ) चतुर्दशार्थः ॥ प्रवृत्तौ चेत्यादि । अत्र सोऽपि श्रुत इति वाक्यपूरणेनार्थो वर्णनीयः । अयं च यज्ञाग्रहराध्यायाऽर्थः । तथेत्यादि । तथा त्वया नः कथ्यमानः उदक्पूर्वे महोदधौ हव्यकव्यभुजो विष्णुश्श्रुत इति योजना । व्यवहिताव्यवहितपूर्वाध्याययोरपि विष्णोस्सर्वान्तर्यामित्वोक्त्या 'विष्णोश्शिरः प्रचिच्छिदतुः' इति श्रुतौ तामसमोहनिरासपूर्वकम् 'हव्यकव्यभुजो विष्णुः' इत्यस्यार्थः विशदीकृतः श्रुतितत्त्वं निरूपयिष्यते ॥

हयशिरोऽवतार-प्रश्नोपोद्घातः हयशिरसस् सन्न्यासि-रूपं च®

अहं हयशिरा भूत्वा समुद्रे पश्चिमोत्तरे । पिबामि सुहुतं हव्यं कव्यं च श्रद्धयाऽन्वितम् ॥

इति नारदं प्रति वासुदेवोक्तौ विष्णोः पश्चिमोत्तरोदधिसम्बन्धोक्तेः तदुपलक्षणम् 'उदक्पूर्व' इत्यादिकम् ॥

> यच्च तत्कथितं पूर्वं त्वया हयशिरो महत् । तच्च दृष्टं भगवता ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ ४ ॥

किं कृष्णवन्मुख्यः हयशिरः प्रादुर्भावः आहोस्वित् अर्जुनवत् गौणः इति सन्दिहानः प्रश्नबीजं सूचयन्नाह – यच्च तत् इति - 'यत्तद्धयशिरः' इत्यत्रोक्तैक्यनिर्णयार्थं प्रश्न इति भावः । कथितमिति । 'यत्तद्धयशिरः पार्थ' 'अहं हयशिरा भूत्वा' इत्यत्र यज्ञाग्रहराध्यायान्ते च कथितमित्यर्थः । तत्र श्लोकद्वयोक्तं रूपमेकम् अन्यच्च सन्यासिरूपमिति बोध्यम् ॥

गतेषु त्रिदिवौकस्सु ब्रह्मैकः पर्यवस्थितः ।

इत्यादीनि वचनानि (६६) पूर्वमेवोदाहृतानि । तत्र 'कमण्डलुत्रिदण्डधृगि'त्यनेन हयशिरसः परमहंसत्वमुक्तम् । एवं च पञ्चरात्रे श्रीहयग्रीवसहस्रनामान्ते -

परमो हंस एवादौ प्रणवं ब्रह्मणेऽदिशत् । उपादिशत्ततो वेदान्2 श्रीमान् हयशिरा हरिः ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र पूर्वं हयशिरोरूपद्वयस्योक्त्या संन्यासिरूपस्य ब्रह्मदृष्टत्वोक्ताविप हयशिरोरूपमात्र एव प्रश्नः । न तु संन्यासिरूपे । उत्तरत्र वक्ष्यमाणरूपस्य तादृशत्वाभावात् । अन्यत्र क्वाऽिप वेदापहारापन्निवारणार्थं संन्यासिहयशिरोरूपस्याप्रतिपादनाच्चेति बोध्यम् ॥

2 अत्र पूर्वार्धोक्तरूक्तपाऽतिरिक्तमेव हयशिरोरूपं विवक्षितम् । 'अङ्केनोदूह्य वाग्देवीमाचार्यकमुपागतः' इति तत्पूर्ववचनानुसारात् ॥

तस्य 'एकोहँसः' 'श्वेताश्वतरः' इति श्रुत्यर्थता ब्रह्मणा दर्शनं च®

तेनासौ स्तवराजो हि हंसाख्यहयगोचरः ।

इत्यत्र रूपद्वयविवक्षणेऽप्यदोषः ।

शाट्यायनिनामुपनिषदि च परमहंसानां त्रिदण्डधारणं विहितम् । यथा —

त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम् । शिक्यं पवित्रमित्येतद्विभृयाद्यावदायुषम् ॥

इत्यादि । 'परमो हंस इति व्यस्तनिर्देशेन श्वेताश्वतरषष्ठाध्याये "1एकोहँसो भुवनस्य मध्ये' इत्यारभ्य 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तँह देवमात्मबुद्धिप्रसादं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' 'तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्मह2श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् । अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्' । इत्यन्तश्रुतिसन्दर्भे हंसश्वेताश्वशब्दवाच्यो हयशिरा वेदप्रदाता विवक्षित इत्यपि ज्ञापितम् ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र पूर्वोक्तपञ्चरात्रवचनानुसारेण हयशिरोरूपमेव विवक्षितम् । व्यक्तीभविष्यति चेदमुपरिष्टात् ॥

2 'तँहदेवम्' इत्युक्त एव देवप्रसादात्' इत्यत्र देवः 'श्वेताश्वतर' इत्यत्र तरतिः प्राप्तिवचनः श्वेताश्वेन संसारं तरतीति वा शब्दश्चायं योगरूढ इति भावः ॥

तच्च दृष्टमित्यादि । अत्र तच्च यद्दृष्टं किं तदुत्पादितमित्युत्तरैकवाक्यत्वाय यत्, इत्यनुषञ्जनीयम् । परमेष्ठिनेत्यनेन ब्रह्मणः उत्कृष्ट स्थानस्थितिकथनं तद्दृष्टस्य हयशिरस उत्कर्षबोधनाय । इदमेव दर्शनम् 'आरण्यकश्च वेदेभ्यः' इति प्रशस्तारण्यकान्तर्गते "हृदयं यजूँषि पत्न्यश्च' इति दशहोत्रादितात्पर्यसङ्ग्राहकतया दशहोत्रादिहृदयतया प्रसिद्धे -

तद्दर्शनस्य (तै) आरण्यकधर्मसूक्तप्रतिपाद्यता तद्रूपाविर्भावप्रश्नश्च®

स्वर्णघर्मानुवाकेन तथा पुरुषविद्यया । पौरुषेण च सुक्तेन सामभीराजनादिभिः ॥

इति श्रीभागवते (११-१७ अ.) श्रीवासुदेवाराधनाङ्गतया विनियुक्ते सुवर्णं घर्मम्' (तै. आ. ३-११) इत्याद्यनुवाके 'अन्तस्समुद्रे मनसा चरन्तं ब्रह्मांन्वविन्दद्दशहोतारमर्णे' इत्यत्र विवक्षितम् । एवं 'प्रजापतिरकामयत प्रजास्सृजेयेति 'स एकं दशहोतारमपश्यत्' इति ब्राह्मणेऽपि

एकस्सुपर्णस्स, समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितः

इति ऋग्वेदमन्त्रेऽपि चतुर्मुखकृतं हयशिरोदर्शनं विवक्षितमिति धर्मसूक्तविवरणे निरूपितम् ॥

किन्तदुत्पादितं पूर्वं हरिणा लोकधारिणा । रूपं प्रभावं महतामपूर्वं धीमतां वर ॥ ५ ॥

किन्तदुत्पादितमिति । किमिति कारणप्रश्नः, फलप्रश्नो वा । कर्म स्वेच्छा वा कारणम् । यद्वा कर्मफलभोगः शिष्यापन्निवारणं वा फलमिति भावः ॥

1 हरिणा लोकधारिणेति ।

▼ टीधिति:

1 'हरिणा लोकधारिणा' इत्यनेन (तै. आ.) पुरुषसूक्तपूर्वानुवाकस्य तदुत्तरानुवाकयोश्च ऐकार्थ्यबोधनमुखेन पुरुषसूक्तसमानार्थकत्वमपि सूचितम् । एतच्च 'पश्यन्ति नित्यपुरुषं गुणाधिकम्' इत्युपख्यानान्तिमवचनेन बोधितमिति निरूपयिष्यते ॥

'स हरिर्वसुवित्तमः' (तै. आ. ३-११-५) 'शतँ शता अस्य युक्ताहरीणाम्' (७) 'हरिँ हरन्ति मनुयन्ति देवाः । विश्वस्येशानमृषभं मतीनाम्' (१५-१) 'युक्ता ह्यस्य हरयश्शता दश' (बृ. आ. ४-५१९) इत्यारण्यकप्रसिद्धिख्यापनाय

मधुब्राह्मणस्य (बृ. ४५) हयशिरःपरतादर्शनानन्तरं चतुर्मुखकार्यस्य प्रश्नश्च®

हरिशब्दप्रयोगः एतेन 'स हरिर्वसुवित्तमः' (तै. आ. ३-११-५) इत्येतद्घटितस्य 'सुवर्णं घर्मम्' इत्याद्यनुवाकस्य 'युक्ता ह्यस्य हरयः' इत्येतद्घटितमधुब्राह्मणस्य च हयशिरःपरत्वं व्यञ्जितम् । लोकधारिणेत्यनेन 'भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति एको देवो बहुधा निविष्टः' इति श्रुत्यर्थ उक्तः । रूपम् । वपुः । प्रभावम् । प्रकृष्टो भावस्सत्ता स्वभावो जन्म वा यस्य तदिति बहुव्रीहिः । अपूर्वम् । पूर्वमविद्यमानम् अननुभूतं वा । धीमतां वर । इत्यनेन 'इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्व्याचिक्षरे' (ई. उ. १०) इति श्रुतिप्रसिद्धं उपदेष्टृताप्रयोजकं रूपं त्विय पूर्णिमिति व्यञ्जितम् ॥

दृष्ट्वा हि विबुधश्रेष्ठमपूर्वमिमतौजसम् । त(म)दश्वशिरसं पुण्यं ब्रह्मा किमकरोन्मुने ॥ एतन्नस्संशयं ब्रह्मन् पुराणं ब्रह्मसम्भवम् । कथयस्वोत्तममते महापुरुषसंश्रितम् ॥ ७ ॥ पावितास्स्म त्वया ब्रह्मन् पुण्याः कथयता (:) कथाः ।

दृष्ट्वा हीत्यादि । 1अपूर्वम् ।

▼ दीधितिः

1 अत्रापूर्विमिति पदेन 'तदेतद्ब्रह्माऽपूर्वं, सर्वानुभूः' (बृ. आ. ४-५० १२) इति श्रुतिप्रत्यभिज्ञापनेन 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरि शयः' इति तत्पूर्वश्रुत्युक्तस्य सर्वशरीरकस्यैव विबुधश्रेष्ठत्विमिति बोधनमुखेन हयशिरसो मधुब्राह्मण(बृ. आ. ४-५-१२)प्रतिपाद्यत्वेन परत्वं दर्शितम् ॥

न विद्यते पूर्वो जनको यस्य तम् । विबुधश्रेष्ठम् । अपूर्वम् । अमितौजसम् । इति पदैः 'तं दैवतानां परमश्च दैवतम्' 'न चास्य कश्चिज्जनिता' 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (६ अ.) इति श्वेताश्वतरश्रुत्यर्थ उक्तः ।

पुण्यशब्दस्याकर्मवश्यभगवत्परता ③

तदश्वशिरसमिति पाठे स चासावश्वशिराश्चेति कर्मधारयः । 1 पुण्यम् । अभिमतफलविशेषसाधनम् । (गी. १३ ता. चं.) 'पुण्यानामपि पुण्योऽसौ' इति (अ. प. ८६-२६) भारतवचनस्थपुण्यशब्दस्येत्थमेवाचार्यपादैर्विवरणात् ॥

▼ दीधितिः

न च 'पुण्यः पुण्येन कर्मणे'ति श्रुत्युक्तरीत्यैवात्रार्थो विवक्षितः । एवं च 'विष्णोश्शिरः प्रचिच्छिदतुः' इति शुक्लयजुः प्रवर्ग्यार्थवादवचनमपि सङ्गच्छत इति वाच्यम् । विष्णोः पुरातनश्रेष्ठशिरोविगमसमनन्तरहयशिरःप्राप्तेः पापमूलकत्वौचित्येन पुण्यत्वोत्प्रेक्षणस्यापि पापहेतुकतमोविवृद्धिनिदानत्वात् ॥

पुण्या द्वारवती तत्र यत्रास्ते मधुसूदनः । साक्षाद्देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मस्सनातनः ॥ (अ. प. ८६-२६)

इत्यत्र 'यत्र नारायणो देवः' (८८-२७) इत्यारभ्य 'तत्पुण्यं तत्परम्ब्रह्म' 'पुण्यानामपि तत्पुण्यम्' इत्यत्र च मधुसूदनसम्बन्धिदेशवासस्य पुण्यरूपत्वेन तद्देशे पुण्यशब्दप्रयोगवत् अश्वशिरस्सेवाया अपि पुण्यरूपत्वेनाश्वशिरसि पुण्यशब्दप्रयोगोपपत्तेश्च । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' 'न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्' 'न चास्य कच्चिज्जनिता' इत्युक्तविभवशालिन एव यो ब्रह्माणं

विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे. उ. ६) इति हिरण्यगर्भजनकत्ववेदप्रदत्वकथनेन तदुपबृंहणैतद्वचनगतपुण्यशब्दस्य कर्मबद्धपरत्वशङ्काया एवानवताराच्च । एतेन

स हि सत्यमृतं चैव पवित्रपुण्यमेव च । शाश्वतं ब्रह्म परमम् (आ. प. १-२८२)

इत्यत्रापि पुण्यशब्दो निर्व्यूढः ॥ वस्तुतस्तु पुण्यशब्दस्य सुकृततदवच्छेदकदेशादिसाधारणं शास्त्रीयाभिमतफलविशेषसाधनत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम् । धर्मशब्दवत् । तच्चाश्वशिरस्यपि निर्बाधम् । इदञ्चानुगतं प्रवृत्तिनिमित्तं "ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्"

पुण्यधर्मशब्दयोः श्रुति-शङ्कराचार्योक्त्य्-आदिभिर् ब्रह्मपरत्वसाधनम्®

'पण्यानामिप पण्योऽसौ' इति श्रुत्या 'पुण्या द्वारवती, स हि धर्मस्सनातनः' इति चोपक्रमोपसंहारयोः पुण्यधर्मशब्दप्रयोगेण व्यासेनैव व्यञ्जितम् । एतदेवाभिसन्धाय 'पुण्यशब्दोऽभिमतफलविशेषसाधनपरः' इति तात्पर्यचन्द्रिकासूक्तिरि । अत एव स्मृतिमात्रेण कल्मषाणि क्षपयतीति पुण्यः इति (स. ना. भा.) शङ्कराचार्योक्तिरिप सङ्गच्छते । न च 'अन्यत्र धर्मादन्त्राधर्मात्' इति श्रुत्या ब्रह्मणो धर्मभिन्नत्वबोधनेन न धर्मशब्दार्थत्वसम्भवः । अत एव भाट्टरहस्ये खण्डदेवेन धर्मशब्दप्रवृत्तनिमित्तशरीरे ब्रह्मभिन्नत्वं निवेशितम् । साधितश्चायमर्थः अप्पय्यदीक्षितैः (वा. न. मा.) इति वाच्यम् । 'नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्' 'न सन्नचासच्छिव एव केवलः' इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मणस्यच्छब्दार्थत्वाभावप्रसङ्गात् । असच्छब्दसमभिव्याहृतसच्छब्दस्सद्विशेषपर इति चेत् । अधर्मशब्दसमभिव्याहृतधर्मशब्दोऽपि पुण्यकर्मपर इति गृहाण । अत एव 'धर्मो वा इदमग्र आसीन्न पृथिवी न वायुर्नाकाशो न ब्रह्मा न रुद्रो न ऋषयः सोऽध्यायत्' इति सामवेदशाखोक्तिः (९-३) (गी. भा. आ. ती.) सङ्गच्छते ॥

तैत्तिरीया धर्मशब्दं 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' इति निराहुः । तच्च कर्मब्रह्मसाधारणम् । तदुक्तं शङ्कराचार्यैः (स. ना. भा.) सर्वभूतानां धारणात् धर्मः 'अणुरेष धर्मः' इति श्रुतेः इति एवं वेदैकप्रतिपाद्यश्रेयस्साधनताकत्वं मीमांसकसंमतम् ऐतरेयिणः 'एष पन्था एतत्कर्मैतद्ब्रह्मैतत्सत्यम्' इति कर्मब्रह्मसाधारणमामनन्ति । तदेतदभिप्रेत्य मनुः उपक्रमे धर्मान्नो वक्तुमर्हसी'ति प्रश्नस्य 'आसीदिदं तमोभूतं तेन नारायणस्मृतः' इति प्रतिवचनमुपाक्रमत् । सिद्धसाध्यभेदभिन्नयोधर्मयोस्साध्यधर्मरूपकर्मणस्सिद्धधर्मात्मकभगवदाराधनत्वव्यतिरेकेण फलहेतुत्वासम्भवेन सिद्धधर्मस्य प्राधान्यात्तस्यैव प्रथममभिधानम् ।

मनुस्मृतितोऽपि धर्मशब्दस्य तत्समर्थनम् ③

सप्तश्लोकी (२-१-१) व्यासायैः (श्रु. प्र.) व्याख्याता । आत्मज्ञानस्य धर्मत्वविवक्षया 'आसीदिदम्' इत्याद्युक्तिरिति कुल्लूकभट्टः । वस्तुतस्तु प्रलये धारकत्वम् 'आसीत्' इत्यत्र सृष्टौ व्याप्त्याधारकत्वं नारायणशब्दे विवक्षितम् । अन्ते च स एव - नैश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः । मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १२-१७ ॥ एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया । धर्मस्य परमं गृह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥ सर्वमात्मिन सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः । सर्वं ह्यात्मिन सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥ आत्मैव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितम् । आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥ प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम् । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥ एवं यस्सर्वभूतेषु पश्यन्नात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माप्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥

इति सिद्धधर्मप्राधान्यं प्रकाशयन् सिद्धसाध्यधर्मद्वयमुपसञ्जहार । अत्र आत्मनस्सर्वदेवताधारकत्वं कर्मयोगसम्पादकत्वं कर्मफलप्रदत्वरूपमुक्तम् पुरुषशब्दश्च 'यदि वा बहुदानाद्वै पुरुषः' (पा. पु.) इति निरुक्तः — श्रौतं निर्वचनं पूर्वमेव (३४-९४) प्रदर्शितम् । तेन पुरुषशब्देन मुक्तिहेतुसङ्कल्पोक्त्याऽपि धर्मत्वं बोधितम् ॥

> विद्वद्भिस्सेवितस्सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः । हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ २-१ ॥

इत्युपक्रमे धर्मत्वं परमात्मसाधारणमवादीत् । 'वेदोऽखिलो धर्ममूलमित्यादिकञ्च परमात्मनोऽपि धर्मतां द्रढयतीति अतो यथोक्त एवार्थः ॥

०४ प्रश्नसमाप्तिः

[[प्रष्टुश् शौनकस्योपदेशयोग्यता च]]

ब्रह्मा । चतुर्मुखः । किमकरोत् । तदनुग्रहलब्धवेदः सृष्टिमकरोत् । उतान्यदिति । मुने ! स्वलक्षणज्ञानसम्पन्न यथोक्तं सनत्सुजातीये -

> मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः । स्वलक्षणन्तु यो वेद स मुनिश्रेष्ठ उच्यते ॥ ४३ ॥ ६१ ॥

इति

एतदित्यादि । ब्रह्मन् ! । ब्राह्मण । पुराणम् । पुरातनम् । । ब्रह्मसम्भवम् । अत्र सम्भवशब्दः करणे घञन्तः ब्रह्मसम्भूतिनिदानम् । महापुरुषसंश्रितम् । वासुदेवसम्बन्धि । संशयम् । संशयविषयीभूतम् । एतत् । हयशिरोरूपम् । पूर्वं 'किन्तदुत्पादितं पूर्वं हरिणा लोकधारिणा । रूप'मिति । पश्चाच्च -

यत्तद्दर्शितवान्ब्रह्मा देवं हयशिरोधरम् । किमर्थं तत्समभवद्वपुर्देवोपकल्पितम् ॥

इत्युक्त्या इत्थमेवार्थः । नः कथयस्व । अत्र इतरबहुऋष्यभिप्रायेण न इति बहुवचनप्रयोगः । उत्तममते । जननकालिकहयवदनकटाक्षनिदानसत्त्वाभिवृद्धिमूलहयशिरस्तत्त्वज्ञानवच्छ्रेष्ठ । स्वस्य रहस्यार्थोपदेशायोग्यतां निराचष्टे । पावितास्स्मेत्यादिना । पुण्याः । रहस्यार्थोपदेशयोग्यताविरोधितमोमूलदुर्वासनानिवृत्तिपूर्वकतत्त्वज्ञानोत्पत्तिसाधनीभूताः । कथाः कथयता त्वया पावितास्स्म ।

विद्याहीनस्तमो ध्वस्तो नाभिजानासि केशवम् । मायान्न सेवे भद्रन्ते न वृथा धर्ममाचरे । शुद्धभावङ्गतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम् ॥ (उ. प.)

इति धृतराष्ट्रम्प्रति सञ्जयेनोक्ता तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रयोजकसामग्री त्वयैव मयि पुष्कला निष्पादितेति भावः ।

०५ प्रतिवचनारम्भः 2

जनमेजयं प्रति वैशम्पायनोक्तेः व्यासोक्तिताकथनम् ③

परमफलं सत्त्वाभिवृद्धिमूलतत्त्वज्ञानादिपौष्कल्यं तादृशस्य हयशिरसस्तत्त्वमुपदेष्टुमहमर्ह एवेति भावः । कथय ताः इति पाठादयं पाठश्श्रेयान् ॥ सौतिरुवाच -

कथियष्यामि ते सर्वं पुराणं वेदसम्मितम् । जगौ यद्भगवान्1 व्यासो राज्ञः पारीक्षितस्य वै ॥ ८ ॥

▼ दीधितिः

1 यद्यप्यनन्तरं वैशम्पायन उवाचेत्येव सर्वकोशेषु पाठात् 'जगौ यद्भगवान्व्यास' इत्यनुपपन्नम् । तथाऽपि यज्ञाग्रहाराध्याये जनमेजयप्रश्नं प्रति ब्रुवन्वैशम्पायनः -

अहो गूढतमः प्रश्नस्त्वया पृष्टो जनेश्वरः । नातप्ततपसा शेष नावेदविदुषा तथा ॥ नापुराणविदा चैव शक्यो व्याहर्तुमञ्जसा । हन्त ते कथयिष्यामि यन्मे पृष्टः पुरा गुरुः ॥ कृष्णद्वैपायनो व्यासो वेदव्यासो महानृषिः । पराशरसुतश्श्रीमान् व्यासो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ इत्यादिना स्वबुद्धिमात्रेणोत्तरदानं दुश्शकमित्यभिधाय गुरूक्तमेवोत्तरयन् अन्ते 'गतेषु त्रिदिवौकस्सु' इत्यादिना 'तेनानुशिष्टो ब्रह्माऽपि स्वं लोकमचिराद्गतः' इत्यन्तेन 'इति शुश्रुमधीराणां येनस्तद्ध्याचचिक्षरे' (ई. उ. १०) इति श्रुत्यर्थं शिक्षयन् व्यासोपदिष्टं हयग्रीवमिहमानमुपादिशत् इति व्यक्तम् । अतोऽत्रापि वैशम्पायनस्य तादृशानुसन्धानतात्पर्येण 'जगौ यद्भगवान्व्यास' इत्युक्तिः । स्वयं कृतमिप सत्कर्म आचार्या एवमकार्षुः इत्यनुसन्धानेन व्यवहरणं भरतोऽप्यशिक्षयत् । चित्रकूटे तदात्वे स्वयं राज्यपरिपालनमनभ्युपगच्छन्तं श्रीरामं पादुके स्वयमेव प्रार्थयतािप भरतेन भरद्वाजं प्रत्युक्तवृत्तान्तकथनावसरे विसष्टः राज्यार्थं पादुके आर्तथतत्[[??]], इत्युक्तेः । यद्वा विष्णुपुराणभागवतािदषु वैशम्पायनस्य कृष्णद्वैपायनव्यस्तचतुर्वेदघटकयजुर्वेदशाखाव्यासकरणस्य प्रसिद्धतया व्यासपदेन वैशम्पायनस्य विवक्षायामिप नानुपपत्तिः ॥

वैशम्पायनं प्रति जनमेजयस्य हयशिरोऽवतारप्रश्नः ③

श्रुत्वाऽश्वशिरसो मूर्तिं देवस्य हरिमेधसः । उत्पन्नसंशयो राजा एवमेतदचोदयत् ॥ ९ ॥

श्रुत्वेत्यादि । हरिमेधसः । हरिणा अनिरुद्धेन सङ्गतस्य 'मेधृ - सङ्गमे' इत्यस्माद्धातोः 'सर्वधातुभ्य असुन्' इति औणादिक असुन् प्रत्ययः । देवस्य । क्रीडमानस्य विजिगीषोः द्योतमानस्य वा । अश्वशिरसो मूर्तिं श्रुत्वा यज्ञाग्रहाराध्यायाद्युक्तरीत्येति भावः । उत्पन्नसंशय इति । संशयश्च अनन्तरश्लोके स्पष्टः । राजा । जनमेजयः । एतत् हयशिरोवपुः । एवम् । वक्ष्यमाणप्रकारेण । अचोदयत् । अपृच्छदिति यावत् । प्रश्नो हि उत्तरदाने प्रेरणरूप इति अचोदयदित्युक्तिः । एवं देवमचोदयदित्यिप क्वचित्पाठः तत्पाठे एतं वैशम्पायनम् । देवं हयशिरोरूपम् अथवा, एतं देवं वैशम्पायनम् ॥

जनमेजय उवाच -

यत्तद्दर्शितवान् (दृशिवान्) ब्रह्मा देवं हयशिरोधरम् । किमर्थं तत्समभवद्वपुर्देवोपकल्पितम् ॥ १० ॥

यत्तदित्यादि । ब्रह्मा देवं हयशिरोधरं तत् यद्दर्शितवानित्यन्वयः ॥ दर्शितवानित्यत्र णिजर्थोऽविविक्षितः । दृष्टवानित्यर्थः । अथवा "बहुलमेतन्निदर्शनमिति चुरादिसूत्रविवरणावसरे । अपरे तु नवगणीपाठो बहुलमित्याहुः । तेनापिठतेभ्योऽपि क्वचित्स्वार्थे णिच् । रामो राज्यमचीकरदिति यथेत्याहुः" इति वैयाकरणोक्त्या 'दृशिर् प्रेक्षणे' इत्यस्माद्भौवादिकाद्धातोश्चौरादिकस्स्वार्थे णिच् । ददृशिवानिति पाठे दृशिधातोः 'क्वसुश्चे(३-२-१०७)'ति क्वसुः 'दृशेश्चेती'(वा.)डागमः 'तं तस्थिवांसम्' इत्यादिप्रयोगाल्लोकेऽपि क्वसोस्साधुता ।

वैशम्पायनस्य हयशिरोऽवतारप्रतिवचनोपक्रमः ③

किमर्थिमित्यदि । तद्वपुः किमर्थं देवोपकल्पितं समभवत् । किमर्थमिनरुद्धेन परिकल्पितम् । अत्र वपुषो देवोपकल्पितत्वकथनेन 'विष्णोश्शिरः प्रचिच्छिदतुः' इत्यापातप्रतीतिमवलम्बमानानां केषाञ्चित् शक्त्यनुग्रहेण विष्णोर्हयशिरःप्राप्तिरित्यंशस्य प्रवर्ग्यार्थवादे लेशतोऽप्यप्रतीतस्योत्प्रेक्षणं जननकालिकहयवदनकटाक्षविरहेण तमोऽभिवृद्धिमूलमिति बोधितम् । 'तत्त्वमाचक्ष्व सत्तम' इति बहुषु कोशेषु पाठः । 'तत्त्वं जिज्ञासमानानाम्' इत्याद्युपसंहारैकरस्यादयमेव पाठो हृदयङ्गमः । सत्तम । ब्रह्मज्ञश्रेष्ठ । तथा च श्रुतिः । "असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मोति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मोति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति" इति । यस्सकलश्रुतितात्पर्यविवषयीभूतं विष्णुनारायणादिशब्दवाच्यं परम्ब्रह्म यथावज्जानाति स एव भगवान् हयशिरस्तत्त्वं यथावदवगम्योपदेष्टुं शक्नोति न तु विष्णुं कर्मवश्यमुत्प्रेक्षमाणः तत्तात्पर्यानभिज्ञः पण्डितमानीति भावः ॥ वैशम्पायन उवाच —

यत्किञ्चिदिह लोके वै देहबद्धं विशाम्पते । सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिजैः ॥ ११ ॥

अथ वैशम्पायनः नादार्थभूतो वासुदेवः नारायण एव परं तत्त्वं तदवतारभूतो हयशिरा इत्याद्युपदिदिक्षुः 'उपादानन्तु भगवान्निमित्तन्तु महेश्वरः' इति कल्पनाऽप्रामाणिकीति बोधियतुं श्रुतिषु परतत्त्वप्रकरणेषु ईश्वरशब्दार्थो नारायण एवेति कथनमुखेन निमित्तोपादानयोरभेदमभिधास्यन् प्रथमं 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमांस्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति सङ्कल्पाश्रयत्वमि तस्यैवेत्याह यत्किञ्चिदित्यादिना ।

देहबद्धजीवसामान्यस्य ईश्वरसङ्कल्पजपञ्चभूतसम्बन्धः ③

इहलोके । प्राकृते लोके । वैशब्दः प्रसिद्धौ । देहबद्धिमिति । देहसत्विमिति क्वचित्पाठः । तत्पाठे सत्वशब्दो द्रव्यवचनः देहात्मकं द्रव्यमित्यर्थः । विशाम्पते । नरपते । 'विट् पुंसि मनुजे वैश्ये' इति मेदिनी । सर्विमित्यादि । ईश्वरसङ्कल्पजिनतैः 'आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी' इति श्रुतिप्रसिद्धैः पञ्चिभर्भूतैस्सर्वमाविष्टमित्यर्थः । पञ्चभूतासम्बद्धं वपुः किमिप नास्तीति यावत् । अत्र —

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

(गी.) १३- २६ ॥ इत्यादिवचनबलाच्चेतनाचेतनयोरुभयोरिप भगवन्नियाम्यत्वे तात्पर्यम् । ईश्वरबुद्धिजैः पञ्चिभिरित्यनेन छान्दोग्ये 'तत्तेजो सृजत' इत्यत्रेव 'तदपो सृजत' 'ता अन्नमसृजन्त' इत्यत्रापि तच्छब्दः तैत्तिरीये 'आत्मन आकाशस्सम्भूतः' इत्यनन्तरम् 'आकाशाद्वायुः' इत्यादावाकाशादिशब्दश्च परमात्मपर्यन्त इति बोधितम् । एवं छान्दोग्यतैत्तिरीययोरैककण्ठ्यबोधनेन छान्दोग्योक्तं त्रिवृत्करणम् उपलक्षणतया पञ्चानां भूतानां सम्बन्धितया - त्रिषु भूतेषु द्विधा विभक्तभागयोर्मध्ये एकभागमात्रस्य चतुर्धाकरणेन वा पञ्जीकरणमेवेति न तयोर्विरोध इति बोधितम् । पञ्चानां भूतानां पञ्चीकरणप्रकारश्च 'द्वेधा

भूतानि भित्वा' इत्यादितत्त्वमुक्ताकलापसूक्तौ तत्रत्यभावप्रकाशे चानुसन्धेयः । देहबद्धमिति बहुषु कोशेषु पाठः । देहबद्धमित्यस्य प्रकृतिपरिणामभूतेन देहेन बद्धमित्येवार्थः । यत्किञ्चिच्चिदात्मकं वस्तु तत्सर्वं चेतनसामान्यमीश्वरबुद्धिजैः पञ्चभिर्भूतैराविष्टम् । प्राकृतदेहबद्धजीवसामान्यस्य ईश्वरसङ्कल्पजन्यपञ्चभूतसम्बन्धकथनेन चेतनाचेतनयोरुभयोरिप भगवनियाम्यत्वं तेन बद्धजीवस्यात्यन्तपारतन्त्र्यं च सिध्यति ।

उक्तार्थे प्रमाणतया मैत्रायणीयश्रुत्युपन्यासः @

1 मैत्रायणीयोपनिषदि चायमर्थो व्यक्तः ॥ ११ ॥

▼ दीधिति:

1 "भगवन्नाह मात्मवित्त्वं तत्वविच्छुश्रुमो वयं सत्वं नो ब्रूही"त्युपक्रम्य "उद्धर्तुमर्हस्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्त्संसारे भगवन् त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः" इत्यन्तेन बृहद्रथनाम्ना राज्ञा शाकायन्यऋषिं प्रति कृतस्य प्रश्नस्य 'अथ भगवाञ्छाकायन्यस्सुप्रीतस्त्वब्रवीद्राजानम्' इत्यादिना प्रतिवचनक्रमे "अयं वावखल्वात्मा ते यः कतमो भगवन् देहे इति तगँ होवाचेति । अथ य एष उच्छवासाविष्कम्भनेनोर्ध्वमृत्कान्तो व्ययमानोऽव्ययमानस्तमः प्रणुदत्येष आत्मा इत्याह भगवान्मैत्रिः । अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परञ्ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इति जीवात्मस्वरूपमभिधाय 'अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या, सर्वोपनिषद्विद्या वा, राजन्नस्माकं भगवता मैत्रिणाऽऽख्याता अहन्ते कथयिष्यामीति' इत्युपक्रम्य "यो हवाव उपरिस्थश्श्र्यते यस्स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठति, अजेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽप्यस्येतीति ते होचुर्भगवन् कथमनेनेदृशेनानिष्ठेनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽस्य कथमिति तान होवाचेत्यारभ्य 'प्रजापतिर्वा एकोऽग्रेऽतिष्ठत्सनारमतैकस्सोऽत्मानमभिध्यात्वा बह्वीः प्रजा असृजत स नारमत सोऽमन्यतैतासां प्रतिबोधनायाभ्यन्तरं विविशामीति" "स वा एष आत्मेहोशन्ति कवयस्सितासितैः कर्मफलैरनभिभूत इव प्रतिशरीरेषु चरती"त्यादिना परमात्मस्वरूपमुक्त्वा "अस्ति खल्वन्योऽपरो भृतात्माख्यो योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानस्सदसद्योनिमापद्यता इत्यवाञ्च्योर्ध्वावागतिर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीत्यस्योपव्याख्यानं पञ्चतन्मात्रा भृतशब्देनोच्यन्ते । अथ पञ्चमहाभृतानि भृतशब्देनोच्यन्ते ।

श्रुतितदुपबृंहण (मो-प)वचनैर्भगवत्पारतन्त्र्याज्ञानाद्धन्धसाधनम्॥

अथ तेषां यत्समवायः समुदयं तच्छरीरमित्युक्तम्, अथ यो ह खलु वावशरीरे इत्युक्तं स भूतात्मेत्युक्त इति' "आत्मस्थं प्रभुं कारियतारं नापश्यत् गुणौघैरूह्यमानः कलुषीकृतश्चास्थिरश्चञ्चुलोलुप्यमानस्सस्पृहोव्यग्रश्चाभिमानित्वं प्रयाता इत्यहं सोममेदिमित्येवं मन्यमानो निबध्नात्यात्मनाऽऽत्मानम्" इति 'अथान्यत्राप्युक्तं यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्मा करणैः कारियता अन्तःपुरुष इति' इत्यन्तेन 'सम्मोहो भयं विषाद' इत्युपक्रम्य इति तामसानि अन्तस्तृष्णा स्नेहो राग इत्युपक्रम्य इति राजसान्ये तैः परिपूर्ण एतैरभिभूत इत्ययम्भूतात्मा तस्मान्नानारूपाण्याप्नोतीत्याप्नोतीति" इत्यन्तेन च जीवात्मस्वरूपमपि सम्यगुपवर्णितम् । पूर्वं मोक्षधर्म एव जनकवसिष्ठसंवादादौ एतच्छूत्यर्थः विस्तरेणोक्तः । यथा —

एषा तत्त्वचतुर्विंशत्सर्वाकृतिषु वर्तते । यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः । एतद्देहं समाख्यातं त्रैलोक्ये सर्वदेहिषु ॥ कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम् । अहन्यहिन भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः ॥ २०७ ॥ ३६ ॥ कथितं ते महाराजन्यस्मानावर्तते पुनः । पञ्चविंशतितमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ॥ ३७ ॥ (निस्तत्त्वः आधारतत्त्वशून्यः) तत्त्वसंश्रयणादेतत्तत्त्वमाहुर्मनीषिणः । यां तु मूर्तिं सृजत्येष तां मूर्तिम(यं मर्त्यमनृद्ध्यक्तं तत्तन्मूर्त्य)धितिष्ठति चतुर्विंशतितमो व्यक्तो मूर्तः पञ्चविंशकः । चतुर्विंशतितत्त्वात्मकदेहवद्धत्वाच्चतुर्विंशतिमत्त्वम् ॥ स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वात्मावतिष्ठते । (स एव पञ्चविंशक एव) चेतयंश्चेतनान्नित्यं सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ॥ ४० ॥ एवमेष महानात्मा सर्गप्रलयकोविदः । विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ॥ ४२ ॥ (प्रकृतिमान् देहात्मकप्रकृतिबद्धः ॥

पारतन्त्र्यज्ञानपूर्वकधर्माचरणाद् बन्ध-निवृत्तिः॥

तमस्सत्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु । लीयतेऽप्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ॥ ४३ ॥ सहवासनिवासात्मा नान्योऽहमिति मन्यते । योऽहं सोऽहमिति ह्युक्त्वा गुणानेवानुवर्तते ॥ ४४ ॥ तमसा तामसान्भावान्विविधान्प्रतिपद्यते । रजसा राजसांश्चैव सात्त्विकान् सत्वसंश्रयात् ॥ ४५ ॥ शुक्ललोहितकृष्णानि रूपाण्येतानि त्रीणि तु । सर्वाण्येतानि रूपाणि यानीह प्राकृतानि वै ॥ सात्विकस्योत्तमं स्थानं राजसस्येह मध्यमम् । तामसस्याधमं स्थानं प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥ ३१९ ॥ केवलेनेहपुण्येन गतिमूर्ध्वामवाप्नुयात् । पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मणाप्यधोगतिम् ॥ इति ।

वचनार्थश्च 'तत्त्वमेकः' इति मूलविवरणावसरे वक्ष्यते - सात्विकानि मैत्रायणीये "अस्य को विधिर्भूतात्मनो येनेदं तत्वाऽऽत्मन्नेव सायुज्यमुपैति" इति प्रश्नप्रतिवचने "अयं वावखस्वस्य प्रतिविधिर्भूतात्मनो यद्वेदविद्यावगमस्स्वधर्मस्यानुचरणम्" -

तपसा प्राप्यते सत्वं सत्वात्सम्प्राप्यते मनः । मनसः प्राप्यते ह्यात्मा यमाप्त्वा न निवर्तते ॥ इति ॥

उत्तरप्रकरणे विवक्षितानि इति त्रयाणामुपबृंहणवचनेषूपादानमिति बोध्यम् ॥

एतेन पारतन्त्र्यज्ञानाज्ञानाभ्यां बन्धमोक्षावुक्तौ हयशिर उपाख्यानानन्तराध्यायस्थानां (८६) पूर्वोदाहृतानां 'तिस्रः प्रकृतय इत्यादिवचनानामेतच्छ्रृतितदुपबृंहणवचनानाञ्चैकार्थ्यमवसेयम् । उदाहृतश्रुत्युक्ततामसराजससात्विकसम्पत्तिनिदानभूता रुद्रब्रह्मविष्णव इति मैत्रायणीये पञ्चमप्रपाठके । तदिधष्ठातारः सङ्कर्षणप्रद्युम्नाऽनिरुद्धा इति च पूर्वोदाहृतवचनेषु व्यक्तम् । 'तदव्यक्तमिति ज्ञेयं त्रिगुणम्' इत्येतद्विवरणावसरेऽपि निरूपयिष्यते ॥ ११ ॥

०६ ईश्वरः ②

ईश्वरशब्दस्य शिवरूढत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थम् 'ईश्वरो हि' इत्यादिमूलप्रवृत्तिः ®

ननु तापनीयादिषु प्रणवार्धमात्राविवरणावसरे ईश्वरसर्वेश्वरादिशब्दाः 1 प्रयुक्ताः । ते च रूढ्या परमशिवमभिदधतीति न नारायणस्य परत्वसम्भवः ॥

एवञ्च नारायणस्यैव परत्वाभावेन कर्मवश्यतया च तदवतारभूतस्य हयशिरसः कर्मपरतन्त्रता सुदृढा इति शङ्कामपाकुर्वन् तापनीयादिघटकेश्वरशब्दार्थमपि 'ईश्वरबुद्धिजै'रित्यत्रत्येश्वरशब्दार्थनिर्णयव्याजेन निश्चिनोति । ईश्वरो हीत्यादिना -

ईश्वरा हि जगत्स्रष्टा प्रभुर्नारायणो विराट् ।

▼ दीधितिः

1 न च सर्वेश्वरशब्दे योगार्थप्रतिसम्बन्धिवाचकसर्वपदसत्वेन रूढेरविवक्षेति वाच्यम् । सर्वपदेन योगविवक्षाबोधनेऽपि रूढेरविवक्षाया बोधियतुमशक्यत्वात् । प्रत्युत ईश्वरशब्दरूढ्यर्थमात्रविश्रान्तं सर्विनयन्तृत्वं बोधयन्तीश्वरादिपदानि योगमुखेनापि श्रुतिविधयैव परमशिवस्य परत्वनिर्णायकानि स्युः । एवञ्च 'शान्तं शिवमद्वैतिम'त्यादिमुण्डकादिवाक्यान्यिप निर्व्यूढानि । न च -

स एष शाश्वतो देवस्सर्वगुह्यमयश्शिवः । वासुदेव इति ज्ञेयः॥

इति भीष्मपर्ववचनेन शिवशब्दार्थो निर्णीत एवेति वाच्यम् । एवमपीश्वरशब्दस्य परमशिवे रूढिनिर्णयेन तदनुरोधेन शिवशब्दार्थस्यापि निर्णयत्वात् ॥ न च श्रुत्यादिषु

रुद्रस्योत्पत्तिप्रतिपादनविरोधः । तदंशभूतस्य संहारकरुद्रस्य नीललोहितरुद्रस्य वा उत्पत्तिप्रतिपादनेऽपि परमशिवस्य परत्वे विरोधानवकाशात् । अन्यथा भवन्मतेऽपि विष्णोरुत्पत्तिश्रुतिविरोधेन नारायणस्य परत्वं न स्यादिति भावः ॥

ईश्वरशब्दस्य यौगिकत्वमेवेति नारायणपरत्वम् ③

भूतान्तरात्मा वरदस्सगुणो निर्गुणोऽपि च ॥ २ ॥

1 हीति श्रुत्यादिप्रसिद्धौ । हीति यत इत्यर्थकं वा । अत्रेश्वरशब्दार्थस्य नारायणत्वकथने वाक्यतात्पर्यम् । जगत्स्रष्टेत्यादिपदानि तदुपपादकानि यतो जगत्स्रष्टृत्वादिविशिष्ट ईश्वरः । अतो नारायण इत्यर्थः । ईश्वरशब्दः 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (३-२-१७५) इति सूत्रेण वरजन्तो यौगिकः । 'स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता । अधिभूर्नायको नेता' इति कोशान्नियन्तृत्वविशिष्टस्वामिवाची । अत एव नृसिंहोत्तरतापनीये प्रथमखण्डे तुरीयत्वेनोक्त ईश्वरः द्वितीयखण्डे 'तस्मादेवमेवेममात्मानं परम्ब्रह्मानुसन्धध्यादेष वीरो नृसिंह एव' इत्यर्धमात्रार्थो नारायणावतारो नृसिंह एवेत्युक्तम् ।

▼ दीधितिः

1 तथा चाहुश्श्वेताश्वतराः -

किङ्कारणं ब्रह्म कुतस्स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा । अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

इति प्रश्नस्य प्रतिवचने "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजाह्येकाभोक्तृभोगार्थयुक्ता । अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममैतत् । क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" इत्यादि । अत्रानन्तशब्दः 'अनन्तः केशवे शेषे' इत्यादिकोशेन -

> अनन्तो भगवान् ब्रह्मा आनन्देत्यादिभिः पदैः । प्रोच्यते विष्णुरेवैकः परेषामुपचारतः ॥

इति ब्राह्मवचनेन च नारायण एव योगरूढः । 'विष्वक्सेनो विश्वरूपो मुरारि'रिति कोशाद्विश्वरूपशब्दोऽपि तथा । 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर' इत्यत्रैव वाक्यपूर्तिः । हरशब्दो यौगिकः ईश्वरशब्दोऽपि यौगिकः (पा. वि.) प्रतिसम्बन्धिपदान्तरसत्त्वे सर्वथा रूढिभङ्गः (वे. कौ) इत्यादिकं तु प्राचां ग्रन्थे विस्तृतम् अत ईश्वरशब्दासङ्कुचितयोगार्थस्सर्वनियन्ता नारायण एवेति सिद्धम् ॥

ईश्वरेशान-शब्दयोर् यौगिकत्वे रुद्रशङ्कराचार्यसम्मतिः ③

नृसिंहस्य नारायणावतारत्वं महाभारत एव बहुषु स्थलेषु स्पष्टम् । अर्धमात्रार्थो नारायण इति पूर्वमेव उपपादितम् । नारायणशब्दश्च तत्र तत्र निरुक्तः । हरिवंशे च रुद्रेण कृष्णं प्रति नारा आपस्समाख्यातास्तासामयनमादितः । यतस्त्वं भूतभव्येश1तन्नारायणशब्दितः । ईशस्त्वं सर्वजगतामीश्वरोऽसि ततस्स्मृतः ॥

▼ दीधितिः

1 'भूतभव्येशेति' सम्बोधनेन 'ईशानो भूतभव्यस्येति' (कठ ४ व. १२-१३) श्रुतिः । तत्रैव 'विष्णु' (३ व. ९) 'वामन' (५ व. ३) शब्दार्थनारायणपरेति । तत्रत्यईशानशब्दश्च यौगिक इति च रुद्रेण निर्णीतं भवति । अत एव 'शब्दादेव प्रमित' (१ अ. ३ पा. २४ सू.) इति सूत्रे (शं. भा.) 'शब्दात् ईशानो भूतभव्यस्येति' न ह्यन्यः परमेश्वराद्भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता, इत्यत्र ईशानशब्दो यौगिक इति स्फुटप्रतीतिरिप नापलपनीया । ईशानशब्दस्य ब्रह्मशब्दवद्भुढत्वाभावेऽि श्रुतित्वं सम्भवतीत्यभिप्रेत्य शब्दादेवेत्यभिधानश्रुतेरेव ईशान इति तदुत्तरशङ्करभाष्यं सङ्गच्छते ॥ एवं 'गीतानां मोक्षधर्माणां चैकार्थ्यात्' (ई. भा.) इति वदन्तश्शङ्करभाष्यं सङ्गच्छते ॥ एवं 'गीतानां मोक्षधर्माणां चैकार्थ्यात्' (ई. भा.) इति वदन्तश्शङ्कराचार्याः 'स्मृतेश्च' (१ अ. २ पा. ६ सू) इति सूत्रोदाहृते 'ईश्वरस्सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति' इत्यत्र 'ईश्वरः ईशनशीलः नारायणः' (शं गी. भा.) इति । 'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर' इत्यत्र ईश्वरस्सर्वज्ञः नारायणाख्यः ईशनशीलः' (शं. गी. भा. १५ अ.) इति 'भारभृत्कथितो योगी' (स. ना. भा) त्यत्र कथितशब्तस्य वेदादिभिरयमेव परत्वेन कथितः । सर्वेवेदैः कथित इति वा कथितः ।

अन्तर्यामिब्राह्मणस्य नारायणपरत्वे शङ्करसुरेश्वराचार्ययोस्सम्मतिः ®

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्यः' -

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ । आदौ मध्ये तथा चान्ते विष्णुस्सर्वत्र गीयते ॥

इति श्रुतिस्मृत्यादिवचनेभ्यः 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्याद्युक्तमित्युपक्रम्य 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यन्तेन यः कथितः स कथितः इति च प्रतिपादयन्ति ॥

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ. ५-७-३) इति श्रुतिविवरणावसरे 'य ईदृगीश्वरो नारायणाख्यः' इत्यनेन अन्तर्यामिब्राह्मणं नारायणपरमिति व्यक्तीकुर्वन्ति । तच्छिष्यैस्सुरेश्वराचार्यैः -

> चतुर्धा प्रविभज्यैनं सात्त्वताः पर्युपासते । तथा हैरण्यगर्भीयाः तथा पाशुपतादयः ॥ (श्वे. ५. ७. ३८) कृष्णद्वैपायनो व्यासः वेदात्मा ध्वान्वहानिकृत् ।

प्राहेममेव बहुशः प्राणिनां हितकाम्यया ॥ ३९ ॥ नारायणः परोऽव्यक्ता दण्डमव्यक्तसम्भवम् । अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकास्सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥ ४० ॥ तस्मै नमोऽस्तु देवाय निर्गुणाय गुणात्मने । नारायणाय विश्वाय देवानां परमात्मने ॥ ४१ ॥ एतमेव समुद्दिश्य मन्त्रो नारायणस्तथा । वेदविद्भिर्महाप्राज्ञैः पुरुषैर्विनियुज्यते ॥ ४२ ॥

इत्युक्तम् । अत्र 'नारायणः परोऽव्यक्ता'दिति व्यासश्लोक एव गीता (शं.) भाष्ये मङ्गळश्लोकतया आदृतः । अतश्च सर्वान्तर्यामी नारायण इति श्रौतो व्याससिद्धान्त इति शङ्कराचार्यैस्तच्छिष्यैश्च निर्णीतं भवति ॥

अत्र 'न केवलं पुराणागमाभ्यामेव सोऽधिगम्यते । किन्तु श्रुत्यक्षरैरेवेत्याह । एतमेवेति । 'सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वसम्भवम् । विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं पदम् इत्यादिर्मन्त्रः वेदार्थविद्भिरन्तर्यामिणमुद्दिश्य विनियुक्तः । अतस्स वैदिक इत्यर्थ इत्यानन्दगिरिः । एतेन उक्तश्रुतीनां गीतायाश्चान्यथानयनमप्पय्यदीक्षितानां (शि. त. वि.) (शि. म. दी.) 'हेतुदर्शनाच्चेति' सूत्रोक्तरीत्यैवेति बोध्यम् ॥

(शं. गी. भा.) रुद्रभक्तान् नारायण-भक्तस्यातिशयः -मधुसूदनसरस्वतीसम्मतिः®

अतएव 'योगिनामिप सर्वेषां' (गी. ६-४७) इति श्लोके शङ्कराचार्यैः रुद्रादित्यभक्तापेक्षया वासुदेवभक्तस्यातिशयितत्वं प्रतिपादितं (शं. भा.) सङ्गच्छते ॥ एवं माण्डूक्यगौडपादकारिकाव्याख्याने अलातशान्तिप्रकरणे 'अयमेवेश्वरो नारायणाख्यस्तं वन्दे' इति शङ्कराचार्योक्तिः । आचार्यो हि पुरा बदरिकाश्रमे नरनारायणाधिष्ठिते नारायणं भगवन्तमिभ्रोत्य तपो महदतप्यत । ततो भगवानितप्रसन्नस्तस्मै विद्यां प्रादादिति आनन्दिगरिणा गौडपादानां नारायणोपासकत्वस्योक्तिश्च सङ्गच्छते ॥ मधुसूदनसरस्वतीभिरपि

'योगिनां वसु-रुद्रादित्यादि-क्षुद्र-देवता-भक्तानां सर्वेषामपि मध्ये'

इत्यारभ्य

'श्रद्धावान्भजते यो मां, नारायणम् ईश्वरेश्वरं सगुणं निर्गुणं वा भजते स एव मद्भक्तो योगी युक्ततमः'

इति

'योगिनामपि सर्वेषा'मित्यत्र 'पुरुषोत्तम' इति स उत्तमः पुरुष इति वेद उदाहृत एव । लोके च कविकाव्यादौ 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमो मतः' इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ कारुण्यतो नरवदाचरतः परार्थान् पार्थाय बोधितवतो निजमीश्वरत्वम् । सच्चित्सुखैकवपुषः पुरुषोत्तमस्य नारायणस्य महिमा न हि मानमेति ॥ केचिन्निगृह्य करणानि विसृज्य भोगम् आस्थाय योगममलात्मधियो यतन्ते ॥ नारायणस्य महिमानमनन्तपारम् आस्वादयन्नमृतपारमहन्तु मुक्तः ॥

इति ॥

'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इत्यत्र 'ईश्वरः ईशनशीलो नारायणस्सर्वान्तर्यामी' 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्यः पृथिवीमन्तरोयमयति

> यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्स्थितः

इत्यादिश्रुतिसिद्ध इति 'ईश्वरस्सर्वभूताना'मित्यत्र च व्याख्यातम् ॥

एतेन 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः' (बृ.) 'यः परस्स महेश्वरः' (छां.) 'विद्युमती सर्ववर्णा पुरुषदैवत्या' 'ईशानं प्रध्यायितव्यम्' (अ. शि.) 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' (श्वे.) इत्यादिकं ब्रह्मोपनिषदादिषु ईश्वरादिशब्दघटितअर्धमात्राप्रतिपादनवाक्यं च नारायणपरमिति सिद्धम् ॥

जीवस्यापि सृज्यता ईश्वरशब्दस्य यौगिकत्वेन नारायणपरत्वस्योपसंहारः®

इत्युक्त्या ऋषीन्प्रति 'नान्यो जगति देवोऽस्ति' इत्युक्त्या चायमर्थो दृढीकृतः । एवञ्च ईश्वरशब्दस्यैव यौगिकत्वे सर्वेश्वरादिशब्दानां 1का कथेति ॥

जगत्स्रष्टेति । चिदचिदात्मकस्य जगतस्सर्गकर्ता । यथोक्तं पूर्वमेव नारदं प्रति वासुदेवेन -

मत्तस्सर्वं सम्भवति जगत्स्थावरजङ्गमम् । अक्षरञ्च क्षरञ्चैव सच्चासच्चैव नारद ॥ इति ॥

एवम्

- प्रधानादिविशेषान्तं चेतनाचेतनात्मकम् । इति । (६-७-५८)
- प्रधानपुंसो रजयोः कारणं कार्यभूतयोः । (१-९-३७)

इति विष्णुपुराणे 'नारायणोऽस्य जगतः कारणम्' इत्यारभ्य -

तस्माद्भवति चाव्यक्तस्तस्मादात्माऽपि जायते ।

इति विष्णुधर्मोत्तरोपक्रमे याज्ञ्यवल्क्यस्मृत्यादिषु (प्रा. का. ६६) च सृज्यत्वं जीवस्य स्पष्टम् । 'एवमेतस्मादात्मनः सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (बृ. ४-१-२०) 'किङ्कारणं ब्रह्म' ॥

▼ दीधितिः

1 पाराशर्यविजये वेदान्तकौस्तुभे च अप्पय्यदीक्षितोक्तिपर्यालोचनपूर्वकम् ईश्वरादिशब्दानां यौगिकत्वमेवेति व्यवस्थापितम् ॥

उक्तार्थे मैत्रायणीयश्रुतेर् अपि मूलता ③

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः । (श्वे. १-१०) 'तोयेन जीवान्व्यससर्ज भूम्याम्' (तै. ना. १ अनु.) इत्यादिश्रुतयोऽत्र मूलभूताः । अतो जगत्स्रष्टेत्यस्य चिदचित्सृष्टिकर्तेत्येवार्थः । यश्च जगत्स्रष्टा तस्यैव सर्वनियन्तृत्वरूपं सर्वेश्वरत्वं न तदन्यस्येति भावः । अत्र नियन्तैव ईश्वरशब्दार्थः विवक्षितः ॥ प्रभुरिति स्वामिवाचकपदोपादानात् 'नियन्तृत्वसंविलतस्यामित्वमीश्वरशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्' इति (गी. १५ अ.) तात्पर्यचन्द्रिकायां स्पष्टम् । प्रभ्वादिशब्दैः 'आत्मस्थं प्रभुं कारयितारम्' (मै. ३) इति श्रुतिः 'एष आत्मा - शास्ताच्युतो विष्णुर्नारायण' इति (७-७) श्रुतावुपसंहारोक्तनारायणपरेति बोधितम् ॥

विराट् अकर्मवश्यतया राजमानः । यथा चाहुश्श्वेताश्वतराः । 'द्वासुपर्णेत्यादि' 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति । तदुक्तं नारदं प्रति वासुदेवेन 'शुभाशुभैः कर्मभिर्यो न लिप्यति कदाचन' इति ॥ यद्वा विराट् । विशेषेण राजमानः । यथोक्तं श्रीरामायणे -

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा ।

इति । एतेन श्रीवैशिष्टथं व्यञ्जितम् । एतच्च मोक्षधर्म एव पूर्वं वृत्रं प्रति सनत्कुमारोक्तौ -

अनादिनिधनश्श्रीमान् हरिर्नारायणः प्रभुः । देवस्सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ शान्ति. २८६-१९.

इत्यारभ्य -

तं विश्वभूतं विश्वादिं परमं विद्धि चेश्वरम् ।

२८५-२३. इत्यन्तग्रन्थसन्दर्भे स्फुटम् । 'विद्यासहायवान्देव' इत्येतद्विवरणावसरे चैतद्विवेचयिष्यते ॥

निर्गुणत्वविचारे एकोदेव इति श्रुत्यर्थविचारः ③

भूतान्तरात्मा । जगत्स्रष्टेति सृज्यतयोक्तस्य चेतनस्याचेतनस्य चान्तःप्रविश्य नियन्ता । एतावता सुबालोपनिपदि नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् । अमूलमनाधारम् इमाः प्रजा जायन्ते दिव्यो देव एको नारायणः इत्यादि 'एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' इत्यन्तषष्ठसप्तमखण्डार्थः । महोपनिषदि च 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः' इत्युपक्रम्य 'तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' श्रुत्यर्थश्च सङ्गृहीतः । 'भूतान्तरात्मे'त्यनेन अन्तर्याम्या[[??]] करणार्थ उक्तः । वरदः । ब्रह्मरुद्रयोरिप स्वप्रादुर्भावदशायां स्वेनाराधनस्तुतिनमस्कारादिकरणमि वरं ददातीति तथोक्तः । (५८-पु.) उदाहृतवचनान्यत्रानुसन्धेयानि । सगुण इत्यादि । निर्गुणोऽपि च सगुणः । अत एव 'पश्यन्ति नित्यं पुरुषं गुणाधिकम्' इत्युपसंहारस्सङ्गच्छते। निर्गुणत्वं च सर्वभूतसम्बन्धेन प्रसक्तास्सत्वरजस्तमो गुणाः ये च कर्माधीनजीववृत्तिदुःखादिगुणास्तच्छून्यत्वम् । एतच्च 'एको देवः - निर्गुणश्च' इति श्रुत्यानुपूर्व्यव बोधितम् । वक्ष्यति च 'व्याख्यास्यामि गुणाधिकम्' (३६० - ३.) इति । 'एको देव' इत्यादिश्रुतौ निर्गुणत्वं न गुणसामान्यशून्यत्वं पूर्वं परतश्च तत्रैव 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्य' इति सामान्यतः 'पराऽस्य शक्तः' 'एको वशी' इत्यादौ विशेषतश्च गुणानामप्युक्तेः ।

▼ दीधिति:

1 ननूपसंहारे 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इति निषेधकथनान्निर्गुणत्वं गुणसामान्यशून्यत्वमेवेति चेत् तादृशश्रुतौ गुणनिषेधबोधकं पदं किमिति विचारणीयम् । न तावन्निष्कलमिति पदम् ॥

> कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके । षोडशांशेऽपि चन्द्रस्य कलना कालमानयोः ॥

इति मेदिनीकोशेन कलाशब्दस्यांशबोधकतया निष्कलशब्देन निरंशत्वस्यैव प्रतीतेः ।

'निष्कलं निष्क्रिय'मित्यादिश्रुत्यर्थविचारः न्यायविशेषनिरूपणं च®

निष्क्रियमित्यनेन पूर्वापराविरुद्धस्य चलनात्मकक्रियाशून्यत्वस्य प्रतीतेः । निरवद्यमित्यनेन अविद्याकर्मादिदोषशून्यत्वस्य । निरञ्जनमित्यनेन दोषसम्बन्धशून्यत्वस्य अवद्यफलसम्बन्धशून्यत्वस्य वा प्रतीतेः । पदचतुष्टयस्यापि भावान्तराभावन्यायेन गुणविशेषेषु तात्पर्यात् । तदुत्तरम् 'अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्'; इत्यत्र 'सेतुम्' इत्यन्तेन मोक्षकारणत्वस्य प्रतिपादनात् । 'दग्धेन्दनमिवानल'मित्युक्तार्थस्य च चेतनदोषानिवर्तकरूपगुणविशेष एव पर्यवसानात् । एवपदद्वयार्थस्वीकारे -

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

इति गीतोपबृंहितेन सर्वजनक-सृष्टिक्रीडावदर्थकनारायणदेवशब्दघटितेन -

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये नारायणं देवम् । अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् । यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभोगिनः ।

इति गर्भोपनिषत्सन्दर्भेणैकार्थ्यमपि सङ्गच्छते । श्वेताश्वतरोपनिषदि 'अमृतस्य परं सेतु'मित्यनेनोक्तार्थस्य —

> यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इति तदुत्तरवाक्येन विशदीकरणेन अन्ते निर्गुणत्वकथाया एवाभावात् । ततश्च "प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधित ततो ब्रवीति च भूयः" इति सूत्रोक्तन्यायोऽत्र निर्णायक इति । 'एको देव' इत्याद्युदाहृतश्रुतावेकवाक्यताऽस्त्ये वेति नोपक्रमाधिकरणन्यायप्रवृत्तौ बाधकलेशोपि । एवमुपसंहारकवाक्यसद्भावेन उत्सर्गापवादनयाङ्गीकारेऽपि नातिप्रसङ्गः निर्गुणविद्यात्वेन पराभिमतायां विद्यायां गुणकथनस्य स्तुत्यर्थत्वं न घटते इत्यादिकमपि प्राचां ग्रन्थेषु हिरगुणदर्पणे गुणमीमांसायां च स्फुटम् ।

परमते निरवद्यश्रुतिविरोधः ③

निषेधप्रकरणपठितानां गुणानां निषेधार्थमनुवादविषयता उपासनप्रकरणपठितानाञ्चोपासनार्थतेति परमार्थतो निर्गुणमेव वस्त्वित मतेऽपि ब्रह्मणि आरोपितानां स्वरूपाभिन्नानां चानन्तानां गुणानामङ्गीकारेण स्वसमानसत्ताकस्वभिन्नगुणशून्यत्वस्यैव निर्गुणत्वस्य वाच्यतया ब्रह्मणि गुणसामान्याभावस्यानङ्गीकारेण निर्गुणश्रुतेस्सङ्कोचोऽकामेनाप्यङ्गीकरणीयः । एवमसङ्गश्रुतेरपि । किञ्च ब्रह्मण्यविद्यासंबन्धाङ्गीकारेण निरवद्यं निरञ्जनम्, 'निरवद्यो निरनिष्टः, इत्यादिश्रुतिसङ्कोचोऽपि तन्मतेऽधिक इत्यादिकमाचार्यसूक्तिसारज्ञानां सुगमम् । महाभारत एव बहुषु प्रदेशेषु ब्रह्मणि निर्गुणत्वं सत्त्वरजस्तमोगुणशून्यत्वरूपमित्युक्तं तत्र तत्रैव द्रष्टव्यम् । नारायणशब्दस्यान्यपर्या[[??]]सम्भवः प्राचीनग्रन्थेष्ववसेयः ईश्वरो हि जगत्सु[[स्न??]]ष्टे[[ष्ट्वे??]]त्यनेन श्लोकेन 'तमीश्वराणां परमं महेश्वर' मित्यारभ्य -

एको देवस्सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षस्सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

इत्यादिश्रुतिसन्दर्भस्य उदाहृतसुबालोपनिषदैकार्थ्यमाविष्कृतम् । अतश्च सकलश्रुतितात्पर्यविषयोऽकर्मवश्यो नारायणः परं तत्त्वमिति सिद्धम् ॥ एतावता 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' इति सुबालोपनिषत्सप्तमखण्डार्थ उक्तः । अथ पृथिव्यप्सु प्रलीयते' इत्यादिसुबालोपनिषद्द्वितीयखण्डसन्दर्भस्य सप्तमखण्डैकार्थ्यं स्थिरीकर्तुं 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशान' इत्यादिमहोपनिषदैकार्थ्यमपि व्यञ्जयन् नारायणव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य प्रलयगोचरतया नारायणस्यैव परत्वं स्थापयन् प्राकृतप्रलयप्रकारं दर्शयति । भूतप्रलयमित्यादिना न पाजायत किञ्चनेत्यन्तेन ॥

०७ प्राकृतलयकथनम् ②

प्राकृतलयहेतुत्वेन नारायणस्य परत्वम् अभिप्रेत्य प्राकृतलयकथनम्®

भूतप्रलयमत्यन्तं (व्यक्तं) शृणुष्व नृपसत्तम । धरण्यामथ लीनायामप्सु चैकार्णवे पुरा ॥ १३ ॥ ज्योतिर्भूते जले चापि लीने ज्योतिषि चानिले । वायौ चाकाशसंलीने आकाशे च मनोनुगे ॥ १४ ॥ व्यक्ते मनसि संलीने व्यक्ते चाव्यक्तताङ्गते । अव्यक्ते (कं) पुरुषं (षे) याते पुंसि सर्वगतेऽपि च ॥ तम एवाभवत्सर्वं न प्राज्ञायत किञ्चन ।

भूतप्रलयम् भूतस्य सत्ताश्रयचिदचिदात्मककार्यसामान्यस्य प्रलयम् । तथा च श्रुतिः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।' इति । एवं 'सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्तदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः, इति । श्रुतिद्वयमिदं चिदचितोः प्रलयमपि प्रतिपादयतीति प्राचां ग्रन्थेषु स्पष्टम् । नैमित्तिकलयव्यावृत्यर्थम् अत्यन्तमिति । अयं च प्रलयः पुराणेषु प्राकृतप्रलय इति व्यविह्रयते । अव्यक्तमिति क्वचित्पाठः । अस्मिन्पाठेऽपि अव्यक्तः अदृश्यः बद्धजीवानाम् इत्यर्थः । स च प्रलयः प्राकृत एवेति बोध्यम् । नृपसत्तमेति । त्वया परिपाल्यमानानां नराणां देहान्तरविशिष्टवेषेणापि नाऽस्मिन्प्रलये स्थितिरिति भावः । शृणुष्व । सावधानेन चेतसा आकर्णय । शृण्विममिति क्वचित्पाठः । धरण्यामित्यादि । अथ धरण्यां पुरा एकार्णवे अप्सु लीनायामिति योजना । अथशब्दः कात्स्न्यार्थकः कृत्स्नायां धरण्यामप्सु लीनायामित्यर्थः ।

अण्डान्तर्बहिष्ठं भूतलयप्रतिपादनम् ③

अथेत्यनेन ब्रह्माण्डान्तर्विर्तिनी पृथिवी ब्रह्माण्डप्रथमावरणहेमकटाहरूपा च पृथिवी1 गन्धतन्मात्रं चेति सर्वं विवक्षितम् ।

▼ दीधितिः

1 यथोक्तं विष्णुपुराणे -

येनेदमावृतं सर्वमण्डमप्सु प्रलीयते । सप्तद्वीपसमुद्रान्तं सप्तलोकं सपर्वतम् ॥ (६-४-३०) उदकावरणं यत्तु ज्योतिषा नीयते तु तत् ।

डत्यादि ।

विष्णुधर्मोत्तरेऽपि -

महाकल्पक्षये ब्रह्मन् समवस्थां वदस्व मे ।

इति प्रश्नप्रतिवचने -

अण्डस्याभ्यन्तरं सर्वं तदाऽम्भोभिः प्रपूर्यते । शरीरधारिणस्सर्वे तदा नश्यन्ति पार्थिव ॥ अन्तर्गतेन तोयेन भिन्नमण्डं जगत्पते । पूर्णे ब्रह्मायुषि तदा बाह्यस्थेऽम्भसि लीयते ॥ एवं सा जगदाधारा धारा तोये प्रलीयते ॥ (१-२२-६)

इति ॥

लयक्रमश्च विष्णुपुराणषष्ठांशचतुर्थाध्यायादिषु द्रष्टव्यः । एतेन 'पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजिस लीयन्ते । तेजो वायौ लीयते । वायुराकाशे लीयते । आकाशिमन्द्रियेषु । इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु । तन्मात्राणि भूतादौ लीयन्ते । भूतादिर्महित लीयते । महानव्यक्ते लीयते । अव्यक्तमक्षरे लीयते । अक्षरं तमिस लीयते । तमः परे देवे एकीभवित, इति सुबालश्रुतौ एतद्वचनमूलभूतायां पृथिव्यादिशब्दाः कृत्स्नपृथिव्यादिपरा इति बोधितम् । श्रुतौ च 'पृथिव्यप्सु प्रलीयते', इत्यादावेव तन्मात्रलयो विविक्षतः । अत एव 'आकाशिमन्द्रियेषु । इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, इत्यत्र लयवाचिपदाप्रयोग इत्यादिकं सुबालोपनिषद्भाष्ये स्पष्टम् । पुरा । प्राक् - प्राकृत लयकाले एकार्णवे । ब्रह्माण्डस्य द्वितीयं यदुदकावरणं तद्भपैकार्णवे ।

आकाशस्य इन्द्रियेषु लयस्य संश्लेषरूपता®

'अप्सु चैकार्णवे पुरे' इत्यत्र चशब्दः उदकावरणजलव्यतिरिक्तजलसमुच्चायकः । तत्र च ब्रह्माण्डप्रथमावरणहेमकटाहस्य द्वितीयावरणजले तद्भिन्नपृथिव्याश्च द्वितीयावरणव्यतिरिक्तअण्डान्तर्गते जले लयो विवक्षितः । ज्योतिर्भूते । उपादेयजलत्वावस्थां विहाय उपादानतेजस्त्वावस्थामापन्ने । तदुक्तं विष्णुपुराणे -

अग्न्यवस्थे च सलिले वाय्ववस्थे च तेजसि ।

इति । एतेन उपादानस्य उत्तरावस्थाप्रहाणपूर्वकतत्पूर्वावस्थाप्राप्तिर्लय इति बोधितम् । लीने ज्योतिषीत्यादि पूर्वववदेवार्थः । आकाशे च मनोऽनुग इति । अत्र मनश्शब्द इन्द्रियसामान्य1मुपलक्षयति ।

▼ दीधिति:

1 एवं मनःप्रधानानीन्द्रियाणि प्रभावयेत् । इन्द्रियाणान्तु सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते ॥ एतद्विशन्ति भूतानि सर्वाणीह महायशः ॥ (शा. ३१६-२१)

इत्यत्रैव पूर्वं मनस इन्द्रियप्रधानत्वोक्त्या मनश्शब्देन इन्द्रियसामान्यविवक्षा युक्तेति भावः ॥

अत्र पूर्ववल्ल्यबोधकपदाप्रयोगेण 'आकाशमिन्द्रियेषु' इति श्रुताविवात्राकाशस्य मनोऽनुगमनं संश्लेष एव न तु लय इति बोधितम् । तेन मनस आकाशोपादनत्वाभावेन लयानुपपत्तिरिति शङ्काया नावकाशः । एवं -

> ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते । खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च । (१-७७-७)

इति विष्णुधर्मोत्तरवचनेऽप्यूह्यम् ।

आकाशस्य अहङ्कारे तस्य च महत्तत्त्वे लयस्य मानसिद्धता 🕄

अत एव विष्णुपुराणे -

ज्योतिर्वायौ लयं याति यात्याकाशे समीरणः । आकाशं चैव भूतादिर्ग्रसते तं तथा महान् ॥ महान्तमेभिस्सहितं प्रकृतिर्ग्रसते द्विज ॥ (४-३२)

इत्यत्राकाशस्य भूताद्यहङ्कार एव लय उक्तः । मोक्षधर्म एव भृगुभरद्वाजसंवादे (१८०) वार्ष्णियाध्यात्मसंवादे (२१२अ.) जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे आनुशासनिके नारदसनत्कुमारसंवादे (३९) रुद्रसनत्कुमारसंवादे (१६६) याज्ञवल्क्यस्मृतौ (३-१७९-१८०) मनुस्मृतौ 1 महदहङ्कारयोर्लयसृष्टिप्रतिपादनात् यथोक्त एवार्थः ।

▼ दीधितिः

अत्र याज्ञ्यवल्क्यस्मृतौ

निस्सरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तास्स्फुलिङ्गकाः । सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि ॥ (३-६६) सर्गादौ स यथाकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम् । सृजति......(६९)

इत्यनेन 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विष्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेतस्मादात्मनस्सर्वे प्राणास्सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति, (बृ. ४- १ मा. पाठः) इति श्रुत्यर्थमुपक्रम्य -

बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कर्मेन्द्रियाणि च । अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि ॥ अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ॥

मनसीत्यादि । मनसि । आकाशसंश्लिष्टेन्द्रियेषु 'व्यक्तसंलीने, इति अत्र व्यक्तपदं —

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश । आसान्तु सप्त व्यक्तानि प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥ (शान्ति. ३१६-१०)

श्रुत्युपबृंहणयाज्ञवल्क्यस्मृत्या उक्तार्थसाधनम् ③

अव्यक्तं च महांश्चैव तथाऽहङ्कार एव च । पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ.......

इति जनकयाज्ञवल्क्यसंवादवचनेन महत्तत्त्वान्तसप्तलयप्रकरणान्तरानुरोधेन च महत्तत्त्वाहङ्कारद्वयपरम् । लयक्रमश्च इन्द्रियाणां भूताद्यहङ्कारे तस्य च महत्तत्त्वे इति बोध्यः । व्यक्ते अव्यक्तताम् । मूलप्रकृते -

> बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोऽहङ्कारसम्भवः । तन्मात्रादीन्यहङ्कारादेकोत्तरगुणानि तु ॥ (३-१७९) शब्दस्स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः । यो यस्मान्निस्स्मृतश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते । यथात्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितो मया ॥

इति तदर्थं विशदीकृत्य -

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा । श्लोकास्सूत्राणि भाष्याणि यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित् ॥ (१८९)

इत्यत्र 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितं एतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्वाङ्किरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदश्लोकास्सूत्राणीति, (मै.ब्रा.) श्रुत्यर्थम् -

वेदानुवचनं यज्ञं ब्रह्मचर्यं तपो दमः । श्रद्धोपवासस्स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ (१९०) इत्यत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन, इति श्रुत्यर्थम् -

सह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यस्समस्तैरेवमेव तु । द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यश्श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥ (१९१)

मनुस्मृति (आनु) नारदसनत्कुमारसंवादाभ्यां तत्साधनम् ③

इत्यत्र - 'आत्माऽवारे द्रष्टव्यश्श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, इति श्रुत्यर्थम् -

य एवमेनं विन्दन्ति ये चारण्यकमाश्रिताः । उपासते द्विजात्सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥ क्रमात्ते सम्भवन्त्यर्चिरहश्शुक्लं तथोत्तरम् । अयनं देवलोकं च सवितारं स वैद्युतम् ॥ ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्म लौकिकान् । करोति पुनरावृतिस्तेषामिह न विद्यते ॥

इत्यत्र 'य एवमेतद्विदुः ये चामी अरण्ये श्रद्धाँ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' इत्यादि 'तेषां न पुनरावृत्तिः' इत्यन्तश्रुत्यर्थं च विशदीकुर्वन्याज्ञ्यवल्क्यः महत्तत्वाहङ्कारयोः (बृ) उपनिषत्तात्पर्यविषयत्वं प्राकाशयत् । एतेन उपनिषत्सु भूतमात्रोक्तिस्थलेऽपि महदादिभूतपर्यन्तं विवक्षितमिति सिद्धम् ॥

मनुस्मृताविष - 'मनसश्चाप्यहङ्कारम्' (१-१४) 'महान्तमेव चात्मानम्' इत्यत्र महत्तत्वाहङ्कारयोर्विवक्षा स्फुटा । आह च कुल्लूकभट्टोऽषि - 'भवन्तु च तत्त्वान्तराण्येव महदहङ्कारतन्मात्राणीति नारदसनत्कुमारसंवादे - (आनु)

> त्रयोविंशतितत्त्वस्याव्यक्तस्य महामुने । प्रभवं चाप्ययं चैव श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ (म.भा.आ. ३८-२९)

इत्यादिना - अव्यक्तकार्यत्रयोविंशतितत्त्वप्रभवादिप्रश्नस्य -

यं विश्वमुपजीवन्ति यमाहुः पुरुषं परम् । तं वै शृणु महाबुद्धे नारायणमनामयम् ॥ एष नारायणो नाम यं विश्वमुपजीवति । एष स्रष्टा विधाता च भर्ता पालयिता प्रभुः ॥ प्राप्यैनं न निवर्तन्ते यतयोऽध्यात्मचिन्तकाः ।

(आनु) रुद्रसनत्कुमारसंवादमोक्षधर्मवचनैः तत्स्थापनम् ③

इत्यादिना 'विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति' इति श्रुत्यर्थोपक्रममुखेन सनत्कुमारप्रतिवचनेषु महत्तत्त्वाहङ्कारयोश्श्रुतितात्पर्यविषयत्वं स्पष्टम् ॥ रुद्रसनत्कुमारसंवादे - (आनु) यदुक्तं भवता वाक्यं तत्त्वसंज्ञेति देहिनाम् । चतुर्विंशतिमेवात्र केचिदाहुर्मनीषिणः ॥ (१६६-२६) केचिदाहुस्त्रयोविंशं यथाश्रुतिनिदर्शनात् । वयन्तु पञ्चविंशं वै तदधिष्ठानसंज्ञितम् ॥ तत्त्वं समधिमन्यामस्सर्वतत्त्वप्रलापनात् ।

इत्यत्र परावरयोरुभयोः पारमार्थ्यं परस्य लयाधारत्वम् -

एषा तत्त्वचतुर्विंशन्मया शास्त्रानुमानतः । वर्णिता तव देवेश पञ्चविंशसमन्विता ॥

इत्यन्ते अव्यक्तस्य चतुर्विंशतितत्त्वात्मकत्वं चोपपादितम् । अत्र यथाश्रुतिनिदर्शनादित्युक्त्या मोक्षधर्मे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे परस्य पञ्चविंशत्वव्यपदशेस्य परजीवयोरपृथक्सिद्धिनिबन्धनत्वं प्रसाध्य महदहङ्कारादिसृष्टिमभिधाय -

चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुतिनिदर्शनम् ।

इत्युपसंहारेण च चतुर्विंशत्यचित्तत्वानां श्रौतत्वं स्फुटम् ॥

वार्ष्णेयाध्यात्मसंवादे -

वासुदेवस्सर्वमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम् । सर्गप्रळयकर्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ (म. भा. शा. २१२-१०).

अव्यक्तकर्मता बुद्धिरहङ्कारं प्रसूयते । आकाशं चाप्यहङ्काराद्वायुराकाशसम्भवः ॥

इत्यत्र भृगुभारद्वाजसंवादे —

कुतस्सृष्टमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् । प्रळये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

महत्तत्त्वाद्य्-अपलापि-पर-पक्ष-साधक-विरहः ③

इति प्रश्नप्रतिवचनभूते -

नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातनः । सोऽसृजत्प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः ॥ महान्ससर्जाऽहङ्कारं स चापि भगवानतः । इत्यत्र महत्तत्वाहङ्कारयोस्सृष्टिरुक्ता - 'इतरेषां चानुपलब्धेः' (२-२) इति सूत्रन्तु महत्तत्त्वादिनिषेधकश्रुतिविरहेण (शं) परोक्तदिशा न महत्तत्वाहङ्कारयोः अप्रामाणिकत्वपरमिति श्रुतप्रकाशिकादौ व्यक्तम् । श्रुतयस्तु श्रीभाष्य एवोपन्यस्ताः ॥

चतुर्थावस्थां गुणसाम्यरूपाम् । गते 1 मूलप्रकृतेर्हि अविभक्ततमोऽवस्था । विभक्ततमोवस्था ।

▼ दीधितिः

1 अत्र -

मनसि व्यक्तसंलीने व्यक्ते चाव्यक्ततां गते ।

इत्युक्त्या -

जगत्प्रतिष्ठा विप्रर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥ (शं. २-३-१४). खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च । मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते ॥ अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते ॥ (शं २-१-१)

इति (ना.) पूर्ववचनेषु (शं) परोदाहृतेष्वपि मनसः व्यक्तद्वार एव अव्यक्ते लयः, न तु साक्षादिति विवक्षितमिति सिद्धम् ॥ अत एव तत्रैव तत्पूर्ववचनेषु तस्मिन्नेवाध्याये -

द्विर्द्वादशेभ्यस्तत्त्वेभ्यः ख्यातोऽन्यः पञ्चविंशकः ॥

इत्युक्तिस्सङ्गच्छते -- 'तत्त्वमेकः' इति मूलविवरणावसरे षड्विंशस्यपरत्वं स्थापयिष्यते ॥

महत्तत्त्वस्य अव्यक्ताक्षरावस्थाद्वारा तमोऽवस्थापन्नप्रकृतौ लयः 🕄

अक्षरावस्था । अव्यक्तावस्था चेति चतस्रोऽवस्थाः । तथा च सौबालानां श्रुतिः 'अव्यक्तमक्षरे लीयते । अक्षरं तमसि लीयते । तमः परे देवे एकीभवति इति । सुबालोपनिषद्भाष्ये एतच्छ्रुतिविवरणावसरे व्यासार्याः

> भूतलनिहितबीजस्थानीयमविभक्तं तमः । मृन्निस्सृतबीजवद्विभक्तं तमः । सलिलसंसृष्टार्द्रं बीजतुल्यमक्षरम् उच्छूनबीजसमानमव्यक्तम् । अङ्कुरस्थानीयो महानिति विवेकः

इति प्रतिपादयन्ति । **अव्यक्त** इत्यादि । पुरुषम् । जीवं । यस्यामवस्थायां गुणसाम्यमप्यस्फुटं तादृशाक्षरावस्थम् । चेतनसमष्टिगर्भमिति यावत् । 'अव्यक्तमक्षरे लीयते' इति श्रुत्यनुसारात् । श्रुतौ चाक्षरशब्द इत्थमेव विवृतो व्यासार्यैः । विवेचितञ्चैतन्न्यायसिद्धाञ्जनादिषु । एवञ्च -

प्रकृतिर्या मया ख्याताव्यक्ता व्यक्तस्वरूपिणी । पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ॥

इति विष्णुपुराणवचनमपि सङ्गतम् । क्वचिच्चा'व्यक्तं पुरुषे याते' इत्यपि पाठः ॥

ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते । खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च ॥ ७७-७ ॥ मनः प्रलीयते बुद्धौ 1 बुद्धिश्चात्मनि लीयते । अव्यक्ते लीयते चात्मा अव्यक्तः पुरुषे परे ॥

▼ दीधिति:

1 अत्र बुद्धिशब्दस्य महत्तत्वमर्थः - आत्मा च अक्षरावस्थप्रकृतिसंश्लिष्टः जीवः विवक्षितः ॥

इति विष्णुधर्मोत्तरवचनात्सोऽपि साधुः एतत्पाठेऽव्यक्तशब्दस्तमोऽवस्थापन्नप्रकृतिपरः । उदाहृतश्रुत्यनुसारात् । अस्मादपि 'अव्यक्ते पुरुषं याते' इति पाठ एव ज्यायान् । पुंसि । पुरुषसंयुक्ते पूर्वोक्ताक्षरावस्थे । सर्वगते ।

प्रकृतेः परमात्मनि लयः, लये चिदचितोर् नामरूपविभागा भावमात्रं नत्वभावः®

असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् । सर्वस्य च सदा जानात्सर्वमेतं प्रचक्षते ॥ ७० ॥

इत्युद्योगपर्वणि निर्वचनानुसारेण सर्वशब्दः परमात्मपरः । परमात्मानं तमोद्वारा प्राप्त इत्यर्थः । तथा चानुपदं वक्ष्यते । 'तम एवाभवत्सर्वमि'ति । यद्वा -

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मनिष्क्रिये सम्प्रलीयते । नास्ति तस्मात्परतरः पुरुषाद्वै सनातनात् ॥ (३४७-३१ शान्ति.)

इति नारायणाख्यानवचनानुसारेण । 'अव्यक्तः पुरुषे परे' इति विष्णुधर्मोत्तरवचनानुसारेण च । 'अव्यक्ते पुरुषं याते' इत्यत्रापि पुरुषशब्दो वासुदेववचनः । अव्यक्तस्य पुरुषप्राप्तिश्चाक्षरतमोद्वारा विवक्षिता । तदेव विशदयित । पुंसि सर्वगतेऽपि च । तम एवाभवत्सर्वमित्यादिना । पुंसि सर्वगतेऽपि चेत्यस्य 'प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता' इति विष्णुपुराणोक्तदिशा वासुदेवे चिदचित्सामान्यलयाधारे चेत्यर्थः । अत्र सर्वपदेन चेतनस्यापि परिग्रहाद्वासुदेवस्याक्षरावस्थासंबन्ध उक्तः । तम एवाभवत्सर्वमित्यस्य सर्वं चिदचिदात्मककार्यसामान्यं तम एवाभवत् अविभक्ततमोऽवस्थापन्नमेवाभवत् । किञ्चन । चिदचिदात्मककार्यवस्तुकिञ्चिदपि न प्राज्ञायत प्रकर्षेण नामरूपविभागवत्तया नाज्ञायतेत्यर्थः । एतेन तम एवाभवदित्यत्रैवकारेण न ब्रह्मणो व्यवच्छेदः । नापि चेतनस्य किन्तु नामरूपविभक्तस्य कार्यवर्गस्यैवेति बोधितम् । तदुक्तं विष्णुपुराणे -

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिः नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत् । श्रोत्रादिबुद्ध्याऽनुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥ इति ॥1

श्रुतिभिः नारायणस्य उक्तलयकारणत्वसमर्थनम् 👁

▼ दीधितिः

1 तथा च सौबालश्रुतिः 'तमः परे देवे एकीभवति' इति ।

एतद्विवरणावसरे च सुबालोपनिषद्व्याख्याने व्यासार्याः

'सिललिवलीनलवणचन्द्रकान्तस्थसिललसूर्यकान्तस्थविह्नकल्पं परमात्मैकवेद्यमविष्ठते' इति । स्मृत्यधिकरणश्रुतप्रकाशिकायां च 'अत्रैक्यं ब्रह्मणः पृथग्व्यवहारानर्हावस्था । क्षीरे नीरस्येव; इति च प्रतिपादयन्ति । अत्र चतुर्मुखादीनामि लयो विविष्ठतः । यथोक्तं नारायणाख्याने पूर्वं 'किञ्च ब्रह्मा च रुद्रश्च' इत्यारभ्य 'प्रलयं न विजानन्ति आत्मनः परनिर्मितम्' इति । एवं बहुषु स्थलेषु द्रष्टव्यम् । एवञ्च 'ईश्वरो हि जगत्सष्टे'त्यादिना प्रस्तुतस्य जगत्स्रष्टुर्वासुदेवस्यैव सकलचेतनाचेतनलयकारणत्विमत्युक्तं भवित । स्थितिकारणत्वं भूतान्तरात्मा वरद इत्यनेनोक्तम् । ततश्च जन्मस्थितिलयकारणं नारायण एव पर इति सिद्धम् । अत्र च सुबालोपनिषदेकार्थम् 'नासदासीन्नोसदासीन्तदानीम् 'नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्' 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्' इत्यादि ऋग्यजुर्वेदपिठतं नासदासीयसूक्तमिप मूलम् । इदञ्च वृद्धहारीतेन (८-१२९) कृष्णार्चने विनियुक्तम् । एतेन

नासदासीदिति जपेज्जुहुयाद्योगतत्परः । प्रजापतेस्तु सायुज्यं द्वादशाब्दैस्समश्रुते

इति ऋग्विधाने प्रजापतिशब्दो यौगिको वासुदेववाचीति बोध्यम् । मनुरपि 'आसीदिदं तमो भूतम्' इत्यादिना अस्य नारायणपरतां प्राचीकशत् । व्यासोऽपि नारायणाख्यान एव पूर्वं श्रीकृष्णेन अर्जुनं प्रति ब्रह्मरुद्रजनकनारायणमहिमकथनावसरे

न वै रात्र्यान्न दिवसे न सित नासित न व्यक्ते न चाव्यक्ते व्यवस्थिते । एतस्यामवस्थायां नारायणगुणाश्रयादजरामरादतीन्द्रियादग्राह्यादसम्भवात्सत्यादिहंस्याल्लवादिभिरिद्व तीयादप्रवृत्तिविशेषादवैरादक्षयादमरादजरादमूर्तितस्सर्वव्यापिनस्सर्वकर्तुश्शाश्वतात्तम सः परात्पुरुषः प्रादुर्भूतोऽस्य पुरुषस्य ब्रह्मयानेर्ब्रह्मणः प्रादुर्भावे हरिरव्ययो निदर्शनमप्यत्र भवति । नासीदहो न रात्रिरासीन्न सदासीन्नासदासीत्तम एव पुरस्तादभविष्यद्विश्वरूपं सा विश्वरूपस्य रजनी हि एवमस्यार्थोऽनुभाष्यते । तस्येदानीं तमस्सम्भवस्य पुरुषस्य ब्रह्मायोनेर्ब्रह्मणः प्रादुर्भावे स पुरुषः प्रजास्सिसृक्षमाण इत्यनेनास्य सूक्तस्य नारायणपरतां प्राकाशयत् । 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्' इति सौबालश्रुतेः 'एको ह वै नारायण आसीत्' इत्यादिमहोपनिषद्वाक्यस्य विश्वकर्मसूक्तादेश्चैककण्ठ्यान्नासदासीदिति सूक्तस्य श्रीपतिपरत्वमेव । मात्स्येऽपि -

> महाप्रलयकाले तु एतदासीत्तमोमयम् ॥ २- २५ ॥ व्यञ्जयन्नेव तच्छीलं प्रादुरासीत्तमोनुदः । अतीन्द्रियः परोऽव्यक्तादन्तर्यामी सनातनः । नारायण इति ख्यातस्स एष स्वयमुद्धभौ ॥ २८ ॥ इति ।

वचनानि चेममर्थं दृढीकुर्वन्ति । एवं 'तमो वा इदमग्र आसीदि'ति मैत्रायणीयश्रुतिरपि तम एवाभवत्सर्वमित्याद्यर्थे मूलमिति बोध्यम् ॥

०८ व्यूह-शुद्ध-सृष्टिः ②

[[हयग्रीवावतार-पूर्व-भावि-संकर्षणादि-व्यूह-शुद्ध-सृष्टिः]]

एतावता 'तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्' (तै. ब्रा. २-८-९) इति श्रुत्यर्थ उक्तः - अथ (प.) संहितानुसारेण 'प्रातरिनम्' इत्याद्युत्तरश्रुतितात्पर्यविषयहयग्रीवावतारस्य सङ्कर्षणाद्यनन्तरकालिकतया 'तमसस्तन्महिनाजायतैकम्' इति श्रुत्यर्थमिभसन्धाय प्रथमतस्सङ्कर्षणाद्यवतारान् प्रदर्शयति । तमसो ब्रह्मसम्भूतमित्यादि श्लोकेन -

> तमसो ब्रह्मसम्भूतं तमो मूलामृतात्मकम् ॥ १६ ॥ तद्विश्वभावसंज्ञान्तं पौरुषीं तनुमाश्रितम् । सोऽनिरुद्ध इति प्रोक्तस्तत्प्रधानं प्रचक्षते ॥ १७ ॥ तदव्यक्तमिति ज्ञेयं त्रिगुणं नृपसत्तम ।

अत्र तमश्शब्दोऽविभक्ततमश्शरीरकपरमात्मपरः, देवमनुष्यादिशब्दवच्छरीरवाचकस्य तमश्शब्दस्यापि शरीरिणि पर्यवसानात् । तमसः परमात्मशरीरत्वं च सुबालोपनिषदि व्यक्तम् ।

तमश्शरीरकस्य वासुदेवस्य व्यूहस्रष्टृता③

'अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देव एकीभवति, इत्युक्तक्रमेण 'अव्यक्तं भिनत्ति अव्यक्तं भित्वाऽक्षरं भिनत्ति अक्षरं भित्वा मृत्युं भिनत्ति मृत्युर्वै परे देवे एकीभवति, इति परमात्मनैकीभूतत्वेन श्रुतस्य मृत्युशब्दवाच्यस्य तमसः 'यस्याव्यक्तं शरीरं, यस्याक्षरं शरीरम्' इत्यनन्तरं 'यस्य मृत्युश्शरीरम्' इत्यनेन परमात्मशरीरत्वप्रतिपादनात् । अत एव स्मृत्यधिकरणटीकायाम् -

ततस्स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ इति मनुवचने तमोनुदः अव्यक्तः इति शब्दाभ्यां तमःप्रेरकस्य तच्छरीरिण एवाऽव्यक्तशरीरकत्वकथनमपि संगच्छते । तमसो भगवच्छरीरत्वं 'सोऽभिध्याय शरीरात्स्वादि'ति मनुवचनेऽपि स्पष्टम् । तमोनुद इत्यस्य प्रथमान्तता मनुवचनव्याख्यातृभिर्मेधातिथिकुल्लूकभट्टादिभिस्सर्वैरप्यङ्गीकृता1 ।

▼ टीधिति:

1 एवंस्थिते श्रीकण्ठानुयायिभिः कैश्चित् (अ-दी-शि-त-वि) तमोनुद इत्यस्य नुदधातोः क्विपि पञ्चम्यन्ततामाश्रित्य तमःप्रेरकशिवान्नारायणस्योत्पत्तिरत्र विवक्षितेत्युक्तिर्दुराग्रहमूलैवेति विभावनीयम् । अत एव मनुस्मृतौ 'प्रादुरासीत्तमोनुद इत्यनन्तरं 'स एष स्वयमुद्धभौ' इत्युत्पत्तेरनन्याधीनत्वोक्तिस्सङ्गच्छते । एवमुदाहृतमात्स्यवचनेष्वपि ॥

ब्रह्मसम्भूतिमिति विभक्ततमोऽक्षरशरीरकं ब्रह्म संजातिमत्यर्थः 'तमसस्तन्मिहनाजायत' इति श्रुतिर्न तमोमात्रादुत्पत्तिपरा किन्तु तच्छरीरकाद्ब्रह्मणः 'तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्' इति पूर्वमाम्नानािदिति दर्शयति । तमोमूलामृतात्मकिमिति । मूलं 'योह वा उपिरस्थश्श्रूयते 'ऊर्ध्वमूलं त्रिपाद्ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धम् अमृतम् 'एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं वासुदेवरूपम् परं ब्रह्म आत्मा । अन्तः प्रविश्य नियन्ता । यस्य तथाभूतम् एतेन 'यस्य मृत्युश्शरीरम्' इति सौबालश्रुत्यर्थ उक्तः ।

वासुदेवस्वैव सङ्कर्षणादिमूर्तिसंज्ञाभेदाः ③

तमसो वासुदेवशरीरत्वकथनेन 'तमसस्तन्महिनाजयतैकम्' 'तमसो ब्रह्मसम्भूतम्' इति श्रुतितदुपबृंहणयोर्वासुदेवादेवोत्पत्तिर्विवक्षितेति बोधितम् । तदित्यादि तत् मूलामृतम् ब्रह्म । विश्वभावसंज्ञान्तमित्यत्र भावशब्दः 'भावस्सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इति कोशादात्मवाची विश्वभावसंज्ञा अन्ते यस्य तदिति विग्रहः माण्डूक्यादिषु प्रणवघटकार्धमात्रामकारोकाराकारविचरणावसरे उक्ताः यास्तुरीयप्राज्ञतैजसविश्वसंज्ञास्तत्प्रतिपाद्यमिति यावत् ॥ वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानामेवैतास्संज्ञा इति (१२९) प्रागेव निरूपितम् । अयञ्चार्थः --

अनादिनिधनश्श्रीमान्हरिर्नारायणः प्रभुः ।

इत्यादौ -

तं विश्वभूतं विश्वादिं परमं विद्धि चेश्वरम् ॥ ७८६-१३ ॥

इत्यन्ते -

मूलस्थायी स भगवान् स्वेनानन्तेन तेजसा । तत्स्थस्सृजति तान् भावानात्मरूपान्महामनाः ॥ ६१ ॥ इत्यादौ 'स चानिरुद्धस्सृजते महात्मा' इत्यन्ते च मोक्षधर्मे पूर्वं सङ्ग्रहेणोक्तः । एतेन वासुदेवस्य कथं सर्वजगत्स्रष्टृत्वम् अनिरुद्धस्य चतुर्मुखसर्गकर्तृत्वादिति शङ्का व्युदस्ता ॥ 'पौरुषीं तनुमाश्रित'मिति - एतेन मूर्तिभेदेन संज्ञाभेदः वस्तुतो व्यक्तिरेकैवेति बोधितम् । तदेवाह । सोऽनिरुद्ध इत्यादिना । सः वासुदेव एव अनिरुद्ध इति प्रोक्तः ॥

व्यूहमुखेन सत्त्वादिगुणत्रयाधिष्ठातृता ③

ननु पूर्वं 'तम एवाभवत्सर्वं' तमसो ब्रह्मसम्भूतिमत्यादिना तमस एवोपादानकारणत्वं प्रतीयते श्वेताश्वतरप्रथमाध्याये 'किङ्कारणं ब्रह्मे'त्यारभ्य मध्ये 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः' इति अन्ते च 'सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' इति चोक्त्या प्रधानचेतनशरीरकब्रह्मण उपादानकारणता प्रतीयते इति मन्दानां विरोधशङ्कायां तमसः अक्षरस्य अव्यक्तस्य च अवस्थाविशेषविशिष्टप्रधानरूपतया तच्छरीरक एव तमश्शरीरक इत्यभिप्रायवानाह । तत्प्रधानमित्यादि । तत् तमश्शरीरकं वासुदेवरूपं ब्रह्म प्रधानम् प्रधानशरीरकम् प्रचक्षते श्वेताश्वतरा इति शेषः । तत्र चेतनान्तर्भावं व्यञ्जयति । तदव्यक्तमिति । अत्र तच्छब्दः पूर्ववत् । अव्यक्तम् । अव्यक्तशरीरकं ज्ञेयम् इदमुपलक्षणमक्षरस्यापि । तथा चाक्षरावस्थायां चेतनान्तर्भावान्न विरोध इति भावः । त्रिगुणं सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयवत् अस्य चाव्यक्तपदार्थविशेषणाव्यक्तेऽन्वयः । भगवान्नृसिंहश्वेतः गौर आत्रेयः पण्डित इत्यादौ श्वेतगौरपदार्थवदिति भावः । त्रिगुणशरीरकपरता तु न युक्ता तत्प्रधानं तदव्यक्तमितिवत् तत्त्रिगुणमिति शैलीविरहात् । त्रिगुणपदेन गुणसाम्यावस्थमव्यक्तमिति सूचितम् । यद्वा तत्प्रधानमित्यस्य वासुदेव एव मुख्यः मूलभूत इत्यर्थः । तत्र हेतुः तदव्यक्तमिति ज्ञेयमिति । उक्तं चाहिर्बुध्येन -

सङ्कर्षणादिभूम्यन्तमञ्जनं विगतं यतः । तदव्यक्तमिति ज्ञेयम्॥ इति ४-७१ ॥

अव्यक्तत्वादेव प्राधान्यमिति भावः । तर्हि कथं सृष्ट्यादिकमिति शङ्कायामाह । त्रिगुणमिति । व्यूहमुखेन गुणत्रयाधिष्ठातृ इत्यर्थः ॥ 1

▼ दीधितिः

1 'उक्तं च मोक्षधर्म एव 'पञ्चविंशतितमो विष्णुरित्यादि --

निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च । प्रकृतेश्च गुणानां च पञ्चविंशतिकं बुधाः ॥ इति ॥

कथं गुणा भविष्यन्ति निर्गुणत्वान्महात्मनः ।

इति प्रश्नप्रतिवचनेषु —

पञ्चविंशतिमस्तात लिङ्गेषु नियतात्मकः । अनादिनिधनोऽनन्तस्सर्वदर्शी निरामयः ॥ केवलं त्वभिमानित्वाद्गुणेष्वगुण उच्यते ॥ ३१०-२९ ॥

इति च।

व्यूहस्य मैत्रायणीयोपनिषत्सिद्धता

एतेन तमोरजस्सत्वाधिष्ठातारस्सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा इति सूचितम् । अयमर्थो मैत्रायणीये स्पष्टः । तथाहि तत्र द्वितीयप्रपाठके "यो ह वावोपरिस्थश्श्रूयते गुणेष्वेवोध्वरितसः स वा एष शुद्धः पूतश्शून्यश्शान्तो ऽप्राणो निरात्माऽनन्ताऽक्षय्यः स्थिरश्शाश्वतोऽजस्स्वतन्त्रस्स्वेमहिम्नि तिष्ठतीत्यनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽस्येति । ते होचुर्भगवन् कथमनेनानिष्ठेनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽस्य कथमिति तान् होवाच । स वा एष सूक्ष्मोग्राह्योऽदृश्यः पुरुषसंज्ञोऽबुद्धिपूर्वमिहैवावर्ततेंऽशेनेति । सुप्तस्येवाबुद्धिपूर्वं विबोध एवमिति । अथ यो ह खलु वा वैतस्य सोंशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वाख्यश्चेतनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोप्यस्येति । ते होचुर्भगवन् यद्यनेनेदृशेनानिष्ठेनैतद्विषमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽस्य कथमिति । तान् होवाचेति प्रजापतिर्वा एकोऽग्रेऽतिष्ठत्सनारमतैकस्सोत्मानमभिध्यात्वा बह्वीः प्रजा असृजत" इति । पञ्चमे च "तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत्परे स्यात्तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्भपं वैरजः तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वस्य रूपम् । तत्सत्वमेवेरितं रसस्संप्रास्रवत् । सोंशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञस्सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वेत्यस्य प्रागुक्तास्तनवः । अथ यो ह खलु वाऽस्य तामसोंशोऽसौ सब्रह्मचारिणो योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वा वाऽस्य राजसोंशोऽसौ सब्रह्मचारिणो योऽयं ब्रह्माऽथ यो ह खलु वा वाऽस्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ सब्रह्मचारिणो योऽयं विष्णुस्स वा एष एकस्त्रिधा भूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा वोद्भत उद्भततत्वाद्भतं भूतेषु चरति प्रविष्टस्स भूतानामधिपतिर्बभूवेत्यसावात्माऽन्तर्बहिश्च" इति अत्र द्वितीये 'यो हं वाव उपरिस्थः श्रूयते' इत्यत्र उपरिस्थो वासुदेवः 'गुणेष्वेवोध्वरितस इत्यत्र गुणपदं 'तमो वा इदमग्र आसीदेकमि'ति पञ्चमोक्ततमोरजस्यत्त्वगुणपरं,

षष्ठसप्तमानुगुणद्वितीयप्रपापठकार्थनिरूपणम्

तमोरजस्सत्त्वगुणाधिष्ठातारस्सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा एवोध्वरितसः 'ऊर्ध्वमूलं त्रिपाद्ब्रह्म' इति तत्रैव षष्ठे -

चाक्षुषस्स्वप्नचारी च सुप्तस्सुप्तात्परश्च यः । भेदाश्चैतेऽस्य चत्वारस्तेभ्यस्तुर्यं महत्परम् । त्रिष्वेकपाच्चरेद्ब्रह्म त्रिपाच्चरति चोत्तरे ॥

इति । सप्तमान्तेऽप्ययमर्थः स्फुटः । द्वितीये – 'शुद्धः पूत' इत्यादिना वासुदेवस्वरूपं विशदमुक्तं पुरुषसंज्ञोऽपि स एव । 'अबुद्धिपूर्व'मित्यस्य महत्तत्त्वापूर्वकमित्यर्थः । प्राकृतशरीराणां परम्परया महत्तत्त्वपरिणामपूर्वकतया तदभावकथनेन सङ्कर्षणादिविग्रहाणामप्राकृतत्वं सिद्ध्यित । एकस्यैव पुंसस्सुकृतवशादुत्कृष्टशरीरधारिणः दुष्कृतवशान्निकृष्टशरीरान्तरपरिग्रहवत् अत्रापि किं न स्यादिति शङ्कामपनुदित । 'सुप्तस्येवे'त्यादि । सुप्तस्य विबोधानन्तरमिप पूर्वं यत्तदेव शरीरमिति 'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः' इति सूत्रे स्थापितम् । प्राकृतलयकाले सङ्कर्षणादीनामिप लयस्य 'नासदासीदि'ति श्रुतितात्पर्यविषयताया अहिर्बुध्न्यादिभिरुक्ततया प्राकृतप्रलयकालो रात्रिकाल एव सुषुप्तिकालः प्राकृतसृष्टिकाले च सङ्कर्षणादिसृष्टेः 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्' इत्यादिबृहदारण्यकादाविप व्यक्ततया स एवोद्घोधकालः प्राकृतप्रलयसृष्टिकालयो रात्र्यहोरूपत्वं विष्णुपुराणादिषु स्पष्टम् । अतश्च यथोक्त एवार्थः । एवं 'रात्रिया अह्न आसीत्प्रकेतः' इति नासदासीदिति सूक्तेऽपि । पञ्चमे चेतामात्रः ज्ञानाश्रय एव, प्रतिपुरुषः सर्वानुगतः प्रतिनिधिर्वा पुरुषः क्षेत्रज्ञः वासुदेवः, 'सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः' इति मोक्षधर्मोक्तेः । 'सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः' इत्यत्र सङ्कल्पपदं तदाश्रयजीवपरम् । अध्यवसायपदं मनःपरम् अभिमानपदञ्चाहङ्कारपरिमिति बोध्यम् । 'प्रजापतिर्विश्वाख्यः' इत्यत्रानिरुद्धो विवक्षितः ।

चतुर्थपञ्चमप्रपापाठकार्थः (ना. उ.) विष्णोः परत्वं च

सोंऽशोऽयिम'त्यादिपञ्चमप्रपाठकवाक्यस्याप्येवमेवार्थः पञ्चमे 'विश्वेत्यस्य प्रागुक्ता एतास्तनव' इति वाक्यस्यायमेवार्थः प्राक् चतुर्थप्रपाठके 'अग्निर्वायुरादित्यः कालो यः प्राणोऽन्नं ब्रह्म रुद्रो विष्णुरित्येकेऽन्यमभिध्यायन्त्येकेऽन्यं श्रेयः कतमो यस्सोऽस्माकं ब्रूहीति । तान् होवाचेति । ब्रह्मणो वा वैता अग्न्यास्तनवः परस्यामृतस्याशरीरस्यैव लोके प्रतिमोदतीह यो यस्यानुषक्त इत्येवं ह्याह । ब्रह्म खल्वदं वाव सर्वं यावाऽस्या अग्न्यास्तनवस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निहनुयाच्चातस्ताभिस्सहैवोपर्युपरिलोकेषु चरत्यथ कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य 'इत्यत्रोक्ता अग्न्यादित्यादितनवः ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिन्यः एताः 'यो ह खलु वावाऽस्य तामसोंश' इत्यादिना वक्ष्यमाणरुद्रब्रह्मविष्णुतनवः । यद्वा एताः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानुक्त्वा अनन्तरं रुद्रब्रह्मविष्णूनां तमोरजस्सत्त्वगुणाधिष्ठातृत्वकथनेन गुणत्रयमूलसृष्टिस्थितिलयांशे सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां द्वारित्वं रुद्रब्रह्मविष्णूनां द्वारत्वञ्च बोधितमिति व्यासस्याशयः 'यो ह खलु' इत्यादि (१७६) श्रुतेरुपबृद्धाणानि (५७) पूर्वमुदाहृतानि ॥

नारायणोपनिषदि - 'अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजास्सृजेयेती'त्युपक्रम्य 'नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्व्रद्वो जायते' इति कर्मकृतोत्पत्तिमभिधाय 'निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातश्शुद्धो देव एको नारायणः न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्' इत्यनेन, नारायणस्य कर्मसम्बन्धगन्धविधुरत्वमुपपाद्य 'य एवं वेद स विष्णुरेव भवती'ति यथाक्रतुन्यायेन विष्णोर्नारायणाभेदं प्रकाश्य प्राप्यत्वमुक्तम् । एतत्तात्पर्यसूचनायैवात्रत्यवचनेषु सृज्यकोटौ विष्णोरनुक्तिः । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते -

निर्गुणः परमात्मा च य ईशः प्रकृतेः परः ।

इत्युपक्रम्य ---

य ईशस्त्रिविधाम्मूर्तिं विधत्ते सृष्टिकर्मणि । सृष्टिस्थित्यन्तजननीं ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ॥ ४-४१-६४॥

तदेव ब्रह्मवैवर्तकूर्मपुराणोक्तम्

ब्रह्मा च ब्रह्मलोकस्थो विष्णुः क्षीरोदवासकृत्। शिवः कैलासवासी च सर्वाः कृष्णविभूतयः ॥ ६५ ॥ श्रीकृष्णश्च द्विधा भूतो द्विभुजश्च चतुर्भुजः। चतुर्भुजश्च वैकुण्ठे गोलोके द्विभुजस्त्वयम् ॥ ६६ ॥ तस्य देवस्य तेंशाश्च ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः। महाविष्णुस्स विज्ञेयश्श्रीकृष्णष्षोडशांशकः॥ नाभिपद्मोद्भवो ब्रह्मा तस्यैव जलशायिनः। फालोद्भवस्तस्य स्रष्टुशशङ्करश्चन्द्रशेखरः॥ ७० ॥

इति ब्रह्मखण्डोपक्रमवचनानि चादावेवोदाहृतानि । कूर्मपुराणेऽप्ययमर्थः स्फुटः ॥ यथा द्वितीये -

> अहं नारायणो देवः पूर्वमास न मे परम् । चतुर्मुखस्ततो जातो ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ रुद्रः क्रोधात्मको जज्ञे शूलपाणिस्त्रिलोचनः ॥

डति सप्तदशे च -

यस्मादभिन्नं सकलं भिद्यते योऽखिलादपि । स वासुदेवो देवानां मातुर्देहं समाविशत् ॥ न यस्य देवा जानन्ति स्वरूपं परमार्थतः । स विष्णुरदितेर्देहं स्वेच्छयाऽद्य समाविशत् ॥

इत्युपक्रम्य -

यस्य सा तामसी मूर्तिश्शङ्करो राजसी तनुः । ब्रह्मा सञ्जायते॥

इत्यनेन रुद्रब्रह्मणोः कर्मकृतोत्पत्तिं विष्णोरकर्मकृतावतारत्वमपि व्यञ्जयित्वा उदाहृताथर्वशिखामैत्रायणीयश्रुतितात्पर्यनिष्कर्षः कृतः । मात्स्ये च -

महाप्रलयकाले तु एतदासीत्तमोमयम् ।

मात्स्यबृहन्नारदीयविष्णुधर्मोक्तम्

इत्युपक्रभ्य-

प्रविश्यान्तर्महातेजास्स्वयमेवात्मसम्भवम् । प्रहाय मात्स्यमव्यक्तं विष्णुत्वमगमत्पुनः ॥ वासुदेवो जगत्सूतिस्तस्य सम्भूतयो ह्यमी । ब्रह्मा विष्णुश्च भगवान्मार्ताण्डो वृषवाहनः ॥ अष्टौ च वसवस्तद्वदेकादशगणाधिपाः । द्वादशैव तथाऽऽदित्याः पितरो मातरस्तथा ॥ इमा विभूतयः प्रोक्ताश्चराचरसमन्विताः ।

इति ।

बृहन्नारदीये च -

नारायणोऽक्षरो ऽनन्तस्सर्वव्यापी निरञ्जनः । तेनेदमखिलं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ आदिसर्गे महाविष्णुस्स्वप्रकाशो जगन्मयः । गुणभेदमधिष्ठाय मूर्तित्रयमवाप्तवान् ॥ सृष्ट्यर्थमसृजद्देवो दक्षिणाङ्गात्प्रजापतिम् । मध्येरुद्राख्यमीशानं जगदन्तकरं मुने ॥ पालनायास्य जगतो वामाङ्गाद्विष्णुमव्ययम् ।

इत्यादि ।

विष्णुधर्मोत्तरे च -

नारायणोऽस्य जगतस्सृष्टिसंहारकारणम् । करोति जगतीपाल॥

इत्युपक्रम्य -

वेदेषु गीयते योऽसौ पुरुषः पञ्चविंशकः । अनादिनिधनो धाता त्वनन्तः पुरुषोत्तमः ॥ असक्तं सर्वभुक्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च । तञ्च प्राप्य भवन्तीह ये मुक्ताः पुरुषोत्तमाः ॥

विष्णुपुराणोक्तम्

अण्डो हिरण्मयो राजंस्तस्यान्तस्स्वयमेव हि । शरीरग्रहणं पूर्वं सृष्ट्यर्थं कुरुते प्रभुः ॥ ब्रह्मा चतुर्मुखो देवो रजोमात्राधिकस्सदा । सृष्टिं कृत्वा स भगवान् सात्त्विकीमास्थितस्तनुम् ॥ लक्ष्मीसहायो लोकांस्तु सर्वान्पालयते सदा । अन्तकाले हरो भूत्वा जगत्संहरते पुनः ॥ तामसीं तनुमास्थाय लीलयैव महायशाः ।

इति । विष्णुपुराणेऽपि --

जुषन् रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः । ब्रह्माभूत्वाऽस्य जगतो विसृष्टौ संप्रवर्तते ॥ सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत्कल्पविकल्पना । सत्वभृद्भगवान्विष्णुरप्रमेयपराक्रमः ॥ तमोद्रेके च कल्पान्ते रुद्ररूपी जनार्दनः । मैत्रेयाखिलभूतानि भक्षयत्यत्ति भीषणः ॥ सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद्ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् । स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥

इति । 'ब्रह्मा दक्षादयः कालः' 'विष्णुर्मन्वादयः कालः' 'जनार्दनविभूतयः' इति च ॥

मैत्रायणीये पञ्चमे – रुद्रादीनां तमोगुणाद्यधिष्ठातृत्वकथनेन सकलचेतनानां द्वितीयप्रपाठकोक्ततामसादिगुणसमृद्धौ रुद्रादय एव निदानभूता इति बोधितम् । एतच्च 'यत्किञ्चदिह लोके वै' इति श्लोकविवरणे निरूपितम् । एतच्छ्रुतितात्पर्येणैव हयशिरउपाख्यानानन्तराध्याये 'तिस्रः प्रकृतयो राजन्नि'त्युपक्रम्य -

> जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्विकस्स तु विज्ञेयस्स वै मोक्षार्थचिन्तकः ॥

वारहोक्तम्

पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः । रजसा तमसा चास्य मानसं समभिप्लुतम् ॥

इत्युक्तम् इत्याचार्यसूक्तिषु व्यक्तम् । वाराहवचनानि च स्तोत्रभाष्यादावुदाहृतानि । यथा वाराहे चागस्त्यं प्रति रुद्रः -

नारायणः परो देवस्सर्वरूपो जनार्दनः । त्रिधाऽत्मानं स भगवान् ससर्ज परमेश्वरः ॥ रजस्तमोभ्यां युक्तोऽभूत्परस्सत्वाधिको विभुः । ससर्ज नाभिकमलाद्ब्रह्माणं कमलासनम् । रजसा तमसा युक्तस्सोऽपि मामसृजद्विभुः । यस्सत्वं स हरिर्देवो यो हरिस्तत्परं पदम् ॥ सत्वेन मुच्यते जन्तुस्सत्वं नारायणात्मकम् ॥

इत्यादि ।

विष्णुरेव परं ब्रह्म त्रिभेदमिह पठ्यते । वेदसिद्धान्तमार्गेषु तन्न जानन्ति मोहिताः ॥

इति ।

नारायणत्परो देवः न भूतो न भविष्यति । एतद्रहस्यं वेदानां पुराणानां च सत्तम ॥

इति विष्णुं प्रति रुद्रवचनम् । धरण्युवाच -

परमात्मा शिवः पुण्य इति केचिद्भवं विदुः । अपरे विष्णुमीशानमिति केचिच्चतुर्मुखम् ॥ एतेषां कतमो देवः परः को वाथवाऽपरः । एतदेव ममाचक्ष्व परं कौतूहलं च मे ॥

वराह उवाच --

परो नारायणो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः । तस्माद्गद्रोऽभवद्देवि स च सर्वज्ञतां गतः ॥

इति । तत्रैवान्यत्र ---

अन्त्ये युगे प्रविरला भविष्यन्ति मदाश्रयाः । एषमोऽहं सृजाम्याशु योजनं मोहयिष्यति ॥

इत्यादीनि । एवमुत्तररामायण, हरिवंश, लैङ्गादिवचनान्यनुसन्धेयानि । अन्यत्सर्वं प्राचां ग्रन्थेष्वेव निरूपितमिति विरम्यते विस्तरभिया ॥ १७ ॥

हयशिरोऽवतारस्य विश्वकर्मसूक्तप्रतिपाद्यता®

अथ पराशरसंहितोक्तदिशा व्यूहानन्तरहयग्रीवावतारं 'प्रातरग्निम्' इत्यादिश्रुतितात्पर्यविषयं वक्तुमुपक्रमते

> तमिद्गर्भं प्रथमं दध्न आपो यत्र देवास्समगच्छन्त विश्वे । अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासञ्चरन्ति

इति ऋग्वेदे (८-३-१७) द्वितीयविश्वकर्मसूक्ते श्रूयते । तत्र 'अजस्य नाभावध्येकम्' इत्यत्र एकमित्यस्य पुष्करपरत्वं

> अजस्य नाभावध्येकं यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम् । पुष्करं पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः ॥ (४-६-६२)

इति वचनेन स्थापितम् ।

अजस्य नाभाविति यस्य नाभेरभूच्छ्रतेः पुष्करं लोकसारम् । तस्मै नमो व्यस्तसमस्तविश्वविभूतये विष्णवे लोककर्त्रे

इति स्कान्दवचनमप्येतदेव दृढीकरोति ।

आपो वा इदमासंत्सलिलमेव । स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्

इति श्रुत्यन्तरानुसाराच्चायमेवार्थो युक्तः । यजुर्वेदिनां (४-६-२) विश्वकर्मसूक्ते तु — 'अजस्य नाभावध्येकिम'ति मन्त्रानन्तरं 'विश्वकर्मा ह्यजिनष्टदेव आदिद्गन्धर्वो अभवद्द्वितीयः' इति मन्त्रः पठितः । अत्र गन्धर्वपदं हयवाचकम् । शिरस एव प्राधान्याद्धयशिरःपरम् । ऋग्वेदिनामेतन्मन्त्राभावेऽपि प्रथमविश्वकर्मसूक्तान्ते 'वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूर्तये' इति मन्त्रपाठेन 'न तं विदाधय इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इति

०९ लक्ष्मीविशिष्टता @

[[लक्ष्मीविशिष्टस्यैव सर्वस्मात्परत्वं लक्ष्म्याः विद्याशब्दार्थता च]]

द्वितीयविश्वकर्मसूक्तान्तमन्त्रे दुर्विज्ञेयो वाचस्पतिर्हयशिरा एव विवक्षित इति तत्राप्ययमर्थोऽभिप्रेतः । अतश्च पाद्मकल्पे हयशिरोऽवतार इत्यभिप्रयन् तत्र प्रथमतः शक्तेः तत्सम्बन्धविरहिणश्च न सर्वस्मात्परत्वं किन्तु शक्तिविशिष्टस्यैवेति प्रतिपादयति --

> विद्यासहायवान्देवो विष्वक्सेनो जनार्दनः ॥ १८ ॥ आदिकर्ता स भूतानामप्रमेयो हरिः प्रभुः । अप्स्वेव शयनं चक्रे निद्रायोगमुपागतः ॥ १९ ॥ जगतश्चिन्तयन् सृष्टिं चित्रां बहुगुणोद्भवाम् ।

विद्यासहायवानिति । विद्या लक्ष्मीः सहायः पत्या सह सृष्टिस्थितिलयादिकार्येषु अयते, एतेति वा गच्छतीति सहायः विद्या चासौ सहायश्चेति कर्मधारयः तद्वान् नित्ययोगे मतुप् । अत्र -

मा च विद्या हरेः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान् । तस्मान्माधवनामासि धवस्स्वामीति शब्दितः ॥

इति हरिवंशे कृष्णं प्रति रुद्रवचने स्थानप्रमाणेन विद्याशब्दार्थो लक्ष्मीरिति वेदान्तकौस्तुभकृतः ॥ वस्तुतस्तु नारायणाख्यान एव पूर्वं नारदकृतपाञ्चरात्रिकस्तुतौ 'लक्ष्म्यावास, विद्यावास, कीर्त्यावास, श्रीवास' इत्यत्र लक्ष्मीवाचकशब्दानां प्रायपाठात् । पाद्मपुराणे (२५५) 'लक्ष्मीः श्रीः कमला विद्या मा च विष्णुप्रिया सती' (२३) इति लक्ष्मीनामसु विद्याशब्दपाठाच्च विद्याशब्दो लक्ष्मीपरः । कीर्तिशब्दस्य लक्ष्मीपरत्वम् 'कीर्तिश्त्रीर्वाक्च नारीणाम्' इति गीतातात्पर्यचन्द्रिकायां स्फुटम् । विद्याशब्दस्य भगवच्छक्तिषु प्रचुरतरप्रयोगाः पाञ्चरात्रलक्ष्मीतन्त्रस्थाः धर्मसूक्तविवरणेऽस्माभिरुदाहृताः ॥

रहस्याम्नायस्थ-विद्या-शब्द-प्रयोगेण (नृ.) तापनीयादि-श्रुति-पञ्च-रात्रैकरस्यम्®

तदाहुराचार्याश्चतुश्लोकीभाष्ये 'रहस्याम्नाये तु प्रकृतौ लक्ष्म्याञ्च विद्याशब्दः प्रयुक्तः' इति । लक्ष्मीवाचकप्रसिद्धपदपरित्यागेन विद्याशब्दं प्रयुञ्जता व्यासेन श्रुतिपञ्चरात्रयोरैकरस्यं दृढीकृतम्1 ॥

▼ दीधितिः

1 दृढीकृतमिति - नृसिंहपूर्वतापनीये -

आपो वा इदमासंत्सलिलमेव स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत् । तस्यान्तर्मनसि कामस्समवर्तत इदँ सृजेयमिति

इत्युपक्रमः । तृतीये च -

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य शक्तिं बीजञ्च नो ब्रूहि भगव इति । स होवाच प्रजापतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्यात्

इत्युपक्रम्य -

श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गां षष्ठीञ्च यामिन्द्रसेनेत्युताहुः । तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपां तामिहोयुषे शरणं प्रपद्ये

इति उक्तम् । चतुर्थे तु -

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्ठभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य अङ्गमन्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति । स होवाच प्रजापतिः प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगायत्रीमित्यङ्गानि

जानीयात्

इत्युपक्रम्य प्रणवघटकाकारोकारमकारार्थानुक्त्वा - 'एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय' इति नादार्थं वासुदेवमभिधाय

घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि एतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाऽभिषिक्तं य एवं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते

इति सावित्रीम् 'ओं भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीस्सुवः कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात् इत्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री' इति यजुर्गायत्रीञ्चोक्त्वा "देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कैर्मन्त्रैर्देवस्तुतः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूहि भगव इति । स होवाच प्रजापतिः' इत्युपक्रम्य द्वात्रिंशन्मात्रा उक्ताः ॥ तत्र क्रमेण ब्रह्मविष्णुमहेश्वरपुरुषेश्वरनामघटितमन्त्रानन्तरं क्रमात् सरस्वती-श्री-गौरी-प्रकृति-विद्यानामघटिता मन्त्रा उक्ताः ।

पर (वा-दे) शक्तेः (नृऽता) विद्याशब्दार्थता (बृ-ना) शक्तिमहिमा च

अत्र प्रथमपञ्चमन्त्रप्रतिपाद्यानां ब्रह्मादीनां शक्तय एव यथाक्रममनन्तरमन्त्रपञ्चकप्रतिपाद्याः । तत्र प्रथममन्त्रचतुष्टयं चतुर्व्यूहतदधिष्ठेयप्रतिपादकं चतुर्थमन्त्रघटकपुरुषपदार्थो व्यूहवासुदेव इति प्राक् उदाहृतव्यासवचनैरेव सुज्ञेयं पञ्चममन्त्रघटकेश्वरशब्दार्थः परवासुदेवो नारायण इति "ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा" इति श्लोके निर्णीतम् । अनन्तरं

व्यूहशक्तिचतुष्टयप्रतिपादकमन्त्रचतुष्कानन्तरपञ्चममन्त्रघटकविद्याशब्दः ईश्वरशब्देन प्रमितस्य परवासुदेवस्य शक्तिं श्रियमभिदधातीति । बृहन्नारदीयवचनानि चैतदुपबृंहणानि यथा तृतीये -

> नारायणोऽक्षरोऽनन्तस्सर्वव्यापी निरञ्जनः । तेनेदमखिलं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ आदिसर्गे महाविष्णुस्स्वप्रकाशो जगन्मयः । गुणभेदमधिष्ठाय मूर्तित्रयमवाप्तवान् ॥ सृष्ट्यर्थमसृजद्देवो दक्षिणाङ्गात्प्रजापतिम् । मध्ये रुद्राख्यमीशानं जगदन्तकरं मुने ॥ पालनायास्य जगतो वामाङ्गाद्विष्णुमव्ययम् । आदिसर्गे महाविष्णुरेवं त्रित्वमवाप्तवान् ॥ तमादिदेवमजरं केचिद्रुद्रं वदन्ति वै। केचिच्च विष्णुमपरे धातारं ब्रह्म चापरे ॥ तस्य शक्तिः परा विष्णोर्जगत्कार्यपरिश्रया । यथा हरिर्जगद्भ्यापी तस्य शक्तिस्तथा मुने ॥ दाहशक्तिर्यथाऽङ्गारे स्वाश्रयं व्याप्य तिष्ठति । उमेति केचिदाहुस्तां शक्तिं लक्ष्मीति चापरे ॥ भारतीत्यपरे चैनां गिरिजेत्यम्बिकेति च । द्गेंति भद्रकाळीति चण्डीमाहेश्वरीति च ॥ कौमारी वैष्णवी चेति वाराह्यैन्द्रीति चापरे ।

ब्रह्मवैवर्तगतं परशक्तिमाहात्म्यम्

ब्राह्मी विद्याऽविद्येति मायेति च तथाऽपरे ॥ प्रकृतिश्च परा चेति वदन्ति परमर्षयः । सोयं शक्तिः परा विष्णोर्जगत्सर्गादिकारिणी ॥ व्यक्ताव्यक्तस्वरूपेण जगद्व्याप्य व्यवस्थिता ॥

इति ।

अन्ते च -

वासुदेवात्मकं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् । आब्रह्मास्तम्बपर्यन्तं तस्मादन्यन्न विद्यते ॥ इति ॥

ब्रह्मवैवर्तेऽपि -

श्रीकृष्णस्य परा शक्तिर्बुद्धिरूपा जगत्प्रभोः । अनया शक्तिमान् कृष्णो निर्गुणः प्रकृतेः परः ॥ सृष्टिं कर्तुं न शक्तश्च ब्रह्मशक्त्यनया विना । वयमस्यां प्रस्ताश्च ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥

इति ॥ तत्रैव ब्रह्मखण्डान्ते -

ब्रह्मादयः प्राकृतिकाश्च सर्वे मुक्तिप्रदां श्रीं प्रकृतिं भजन्ति । ब्रह्मस्वरूपात्प्रकृतिर्न भिन्ना यया च सृष्टिं कुरुते सनातनः ॥ नारायणी सा परमा सनातनी शक्तिश्च पुंसः परमात्मनश्च । आत्मेश्वरश्चापि यया च शक्तिमान् तया विना स्रष्टुमशक्त एव ॥ मूलप्रकृतिरेका सा पूर्णब्रह्मस्वरूपिणी । सृष्टौ पञ्चविधा सा च विष्णुमाया सनातनी ॥

कौर्माद्युक्ततन्महिमा (नृ. ता.) अनिरुद्धशक्तेरपि विद्याशब्दार्थता

इत्युपक्रम्य राधा लक्ष्मी वाग्देवी चेति नारायणपत्न्यस्तिस्रः । सावित्री ब्रह्मपत्नी दुर्गा शङ्करपत्नी चेति द्वे इति पञ्चप्रकारा उक्ताः । कौर्मे च श्रियं प्रस्तुत्य -

इयं सा परमा शक्तिर्मन्मयी ब्रह्मरूपिणी । माया मम प्रियाऽनन्ता ययेदं धार्यते जगत् ॥

इत्युपक्रम्य -

अस्यास्त्वंशानधिष्ठाय शक्तिमन्तोऽभवन् सुराः । ब्रह्मेशानादयस्सर्वे सर्वशक्तिरियं मम ॥ सैषा सर्वजगत्सूतिः प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका । प्रागेव मत्तस्सञ्जाता श्रीः कल्पे पद्मवासिनी ॥

(मत्तः प्रागेव सञ्जाता इत्यन्वयः) -

चतुर्भुजा शङ्खचक्रपद्महस्ता स्रगन्विता ।

इति नारदादीन्प्रति विष्णुवचनानि । एवम् —

न मां पश्यन्ति मुनयो देवाश्शक्रपुरोगमाः । नारायणात्मिकामेकां मायाहं तन्मया परा ॥ न मे नारायणाद्भेदो विद्यते हि विचारतः । तन्मय्यहं परं ब्रह्म स विष्णुः परमेश्वरः ॥

इति इन्द्रद्युम्नं प्रति श्रीवचनानि च । अतश्च तापनीये "तां विद्यां ब्रह्मयोनिम्" इत्यत्र विद्याशब्दः परशक्तिपरः अनिरुद्धशक्तिपरो वा परवासुदेवानिरुद्धशक्तयोरुभरुयोरिप लक्ष्मीतन्त्रे विद्याशक्तिप्रयोगात् 'ब्रह्मयोनिम्' इत्यस्य चतुर्मुखकारणभूतामित्यर्थ इति व्यासाशयः । लक्ष्मीविशिष्टस्यैव जलशायित्वादिकं मोक्षधर्मे पूर्वमेवोक्तम् -

अनिरुद्धस्ततो जज्ञे सर्वशक्तिर्महाद्युतिः । अप्सु व्योमगतश्श्रीमान्योगनिद्रामुपागमत् ॥

इति ।

विद्याशब्दघटितहरिवंशैककण्ठ्यादुक्तार्थनिर्णयः (ना) सूक्त (अहि)संहितैकरस्यञ्च

विष्णुधर्मोत्तरे च —

अहमेकार्णवे लोके शेषपर्यङ्कशायिकः । लक्ष्मीसहायस्तिष्ठामि यावत्सुप्तः पितामहः ॥ मयाऽश्वशिरसा वेदा दानवाभ्यां तथाऽऽहृताः ॥ ३२-३५१-३८ ॥

इति । एतेन हरिवंशे तृतीयपर्वणि द्विसप्ततितमे नागबन्धनार्तायबलये नारदेनोपदिष्टे मोक्षविंशकाख्ये वासुदेवस्तोत्रे -

> एको विद्यासहायस्त्वं योगी योगमुपागतः । पुनस्त्रैलोक्यमुत्सृज्य तेन सत्येन मोक्षय ॥ जलशय्यामुपासीनो योगनिद्रामुपागतः । लोकांश्चिन्तयते भूयस्तेन सत्येन मोक्षय ॥

दानवाभ्यां हृता वेदा ब्रह्मणः पश्यतः पुरा । परित्रातास्त्वया देव तेन सत्येन मोक्षय ॥ कृत्वा हयशिरोरूपं हत्वा तु मधुकैटभौ । ब्रह्मणे तेऽर्पिता वेदास्तेन सत्येन मोक्षय ॥

इत्यत्र विद्याशब्दोऽपि व्याख्यातः । अत्र - त्रैलोक्यमित्यत्र कृतकाकृतककृतकाकृतकलोकत्रयविवक्षया सर्वे लोकास्सङ्गृहीताः । एवमत्र विद्याशब्दस्य लक्ष्मीपरत्वं तत्रैवोत्तरत्र -

यश्शेते जलधौ नागे देव्या लक्ष्म्या सुखावहे । हत्वा तौ दानवौ घोरौ मधुकैटभसंज्ञितौ ॥

इति घण्टाकर्णकृतकृष्णस्तुतिवचनेन निर्णीतम् । एवञ्च "एको विद्यासहायस्त्वम्" इति हरिवंशवचने श्रीविष्टस्यैक्यं विवक्षितम् । प्रलयकाले लक्ष्मीविष्ट[[??]]स्यैक्यञ्च आनीदवातँ स्वधया तदेकम्" (तै. ब्रा. २-८-९) इति नासदासीयसूक्ते स्पष्टम् । उपबृंहितञ्चेदं सूक्तमहिर्बुध्न्येन -

नासदासीत्तदानीं हि नोसदासीत्तदा मुने ।

इत्यारभ्य -

श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिकयोरुक्तार्थविवक्षितत्वस्थापनम्

सदसच्चिदचिद्र्पैर्यत्र विश्वं प्रकाशते । तस्मिन्नुपरते शश्वद्विश्वकोलाहलोद्गमे ॥ अलक्ष्या कार्यतश्शक्तिः देवाद्विजहतीभिदाम् । इन्धनाभावतो ज्वाला वह्निभावं यथा गता ॥ ब्रह्मभावं व्रजत्येवं सा शक्तिर्वैष्णवी परा । नारायणः परं ब्रह्म शक्तिर्नारायणी च सा ॥ व्यापकावतिसंश्लेषादेकतत्त्विमव स्थितौ ।

इति अत्रातिसंश्लेषः दिव्यमङ्गळविग्रहतोऽभिप्रायतश्च बोध्यः । एतेन श्रियः पत्युश्चाभेदोऽपि व्याख्यातः । अनन्तरम् -

> सङ्कर्षणादयो यावदहः पौरुषमुच्यते । तावती पौरुषी रात्रिस्संहृताखिलवस्तुका ॥

इत्यनेन — "रात्रिया[[??]] अह्न आसीत्प्रकेतः" इति श्रुत्यर्थोऽप्युक्तः । तदुक्तम् "श्रेष्ठश्च" इत्यधिकरणे "आनीदवातामिति न जैवं श्रेष्ठं प्राणमभिप्रेत्योच्यते अपि तु परस्यैव ब्रह्मण एकस्य विद्यमानत्वमुच्यते" इति भाष्यविवरणावसरे श्रुतप्रकाशिकायां "सिद्धान्ते स्वधयेत्यनेन 'स्वधात्वं लोकपावनी' इत्युपबृंहणाल्लक्ष्मीविशिष्टत्वमुच्यते" इति अनया व्यासार्यसूक्त्या स्वधयेत्यत्र

तृतीयार्थो वैशिष्ट्यं तस्य तच्छब्दार्थे ब्रह्मण्यन्वयः एवञ्च लक्ष्मीविशिष्टस्य ब्रह्मण एकस्यैव विद्यमानत्वमुच्यत इति भाष्यार्थः पर्यवस्यति । 'ब्रह्मणि श्रीनिवासे भवतु मम परिस्मिन्' इत्यादौ श्रीविशिष्टस्यैव परब्रह्मत्वोक्तेः एतेन "याते धामानि परमाणि याऽवमायामध्यमा विश्वकर्मन्नुते मा । शिक्षासखिभ्यो हविषि स्वधा वस्स्वयं यजस्व तन्वं वृधा नः" इति प्रथमविश्वकर्मसूक्तपञ्चममन्त्रे 'स्वधा वः' इत्यत्र स्वधाशब्दोऽपि व्याख्यातः "ऐश्वर्येण स योगेन" इत्येतद्विवरणावसरे मन्त्रार्थं वक्ष्यामः । एतेन एतत्सूक्तस्यान्तिमे मन्त्रे "वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्" इत्यत्र वाक्छब्दो लक्ष्मीपर इति सिद्धम् । नासदासीयसूक्तघटकानां विश्वकर्मसूक्तघटकानां कतिपयानां मन्त्राणामैकार्थ्यस्य स्फुटतया सूक्तयोरैकार्थ्यमप्रत्याख्येयम् ।

हरिवंशविचारः

अतश्च "आनदिवातँ स्वधया तदेकम्" इति 'प्रातरग्निम्' इत्यादिहयग्रीवमनुपूर्वश्रुतिमभिप्रेत्यैव हरिवंशे 'एको विद्यासहायस्त्वम्' इति - अत्र 'विद्यासहायवान् देवः' इति चोक्तिः -

> एको विद्यासहायस्त्वं योगी योगमुपागतः । पुनस्त्रैलोक्यमुत्सृज्य॥

इत्यत्र योगीत्यस्य जगत्सृष्ट्यादिध्यानवानित्यर्थः । लोकांश्चिन्तयते भूय इति वक्ष्यमाणानुसारात् । "एको ह वै नारायण आसीत्" इत्युपक्रम्य 'तस्य ध्यानान्तस्थस्ये'त्यादिश्रुतेः । योगमित्यस्य निद्रायोगमित्यर्थः -

जलशय्यामुपासीनो योगनिद्रामुपागतः ।

इति समनन्तरवचनात् । एवं हरिवंश एव पूर्वम् - ३.प.३३

विश्वेदेवास्तथा साध्या रुद्रादित्यास्तथाश्विनौ । प्रजानां पतयश्चैव सप्त चैव महर्षयः ॥

इत्यादौ —

तस्मिन्नहिन संप्राप्ते तं हंसं महदक्षयम् । प्रविशन्ति महायोगं हिरं नारायणं प्रभुम् ॥ पूर्णे युगसहस्रान्ते कल्पो निश्शेष उच्यते । तस्मिन् जीवकृतं सर्वं निश्शेषमवितष्ठते ॥ संहृत्य लोकान् सर्वान् सदेवासुरपन्नगान् । कृत्वाऽऽत्मगर्भे भगवानास्त एको जगद्गुरुः ॥ परमेष्ठी हृषीकेशश्शयनायोपचक्रमे । पत्नी चैव स्वयं लक्ष्मीर्देहमावृत्य तिष्ठति ॥ ततस्स्विपति धर्मात्मा सर्वलोकिपतामहः । किमप्यमितविक्रान्तो निद्रायोगमुपागतः ॥

ततो वर्षसहस्रान्ते पूर्णे स पुरुषोत्तमः । स्वयमेव विभुर्भृत्वा बुध्यते विबुधाधिपः ॥

हयशिरसः (ह. वं.) हंसशब्दवाक्पतिशब्दार्थता

ततिश्चिन्तयते भूयस्सृष्टिं लोकस्य लोककृत् । पितृदेवासुरनरान् पारमेष्ठ्येन कर्मणा ॥ तत्तु चिन्तयतः कार्यं देवेषु समितिञ्जयः । सम्भवं सर्वलोकस्य विदधाति स वाक्पतिः ॥

इत्यन्ते हयशिरउपाख्यानसमानार्थकतया प्रतीयमाने वचनजाते लक्ष्मीविशिष्टस्य शयनं स्पष्टमुक्तम् । अत्र हंसवाक्पतिशब्दाभ्यामुपक्रमोपसंहारगताभ्यां हंसगायत्रीमनुप्रत्यभिज्ञानात्तत्प्रतिपाद्यो हयशिरा एव पदद्वयार्थः । हंसशब्दस्य हयशिरोवाचित्वादेव मोक्षधर्मे नारदं प्रति वासुदेवोक्तौ वासुदेवव्यूहकथनानन्तरं "अहं हयशिरा भूत्वा" इति हयशिरोरूपमभिधाय "मत्स्यः कूर्मो वराहश्चे"त्यादिना दशावतारान् सङ्गह्य अन्ते -

कर्माण्यपरिमेयानि चतुर्मूर्तिधरो ह्यहम् । हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च

इत्यादिना वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयस्य हयशिरोयुतदशावतारमूर्तीनामुपसंहारोऽपि सङ्गच्छते । व्यक्तीभविष्यति चेदं 'ऐश्वरेण स योगेन' इत्येतद्विवरणावसरे । हरिवंशप्रकरणे -

> तस्य चिन्तयतः कार्यं देवेषु समितिञ्जयः । सम्भवं सर्वलोकस्य विदधाति स वाक्पतिः ॥

इति वचने हयशिरोवृत्तान्तस्संक्षिप्तः, अत्र देवकार्यं हरिवंशे प्रथमपर्वणि व्यक्तमुक्तम् । यथा -

सहस्रशीर्षा भूत्वा तु शयनायोपचक्रमे ।

इत्युपक्रम्य —

तस्य सुप्तस्य शुशुभे नाभिपद्मात्समृत्थितम् । आद्यं तस्यासनं पद्मं ब्रह्मणस्सूर्यवर्चसम् ॥

इत्यादिना -

अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्निदं विश्वं भुवनमधिश्रितम् ।

(ह. वं.) वचनानां लक्ष्मीपरश्रुतीनामुपबृंहणता

इत्यादिश्रुत्यभिप्रेतचतुर्मुखादिसृष्टिमभिषाय -

न तं वेद स्वयं ब्रह्मा नापि ब्रह्मर्षयोऽव्ययाः । विष्णोर्निद्रामयं योगं प्रविष्टं तमसाऽऽवृतम् ॥

इत्यादिना -

"न तं विधाथय[[??]] इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव" (वि. सू.) "को अद्धावेदक इह प्रवोचत्" (ना. सू.) "कश्छन्दसां योगमावेद धीरः कोधिष्ण्यां प्रतिवाचं पपाद" (घ. सू.) इति श्रुतितात्पर्यविषयभूतं श्रियः पत्युर्दुर्ज्ञेयत्वमुक्त्वा -

> उत्तिष्ठशतपत्राक्ष पद्मनाभमहाद्युते । कारणं किञ्चिदुत्पन्नं देवानां कार्यगौरवात् ॥

इति देवकार्यं सामान्यतो निर्दिष्टम् अनन्तरञ्च -

स संक्षिप्य जलं सर्वं तिमिरौघं विदारयन् । उदतिष्ठद्धषीकेशः श्रिया परमया ज्वलन् ।

इत्यनेन "अन्यद्युष्मायमन्तरम्" इत्यत्र सामान्यतः "वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्" इत्यत्र विशेषतश्च निर्दिष्टा श्रीरिति बोधितम् । पश्चाच्च भगवता आगमननिमित्तं पृष्टैर्ब्रह्मादिदेवैः भुवो भारावतरणार्थमागमनमिति प्रतिवचनानन्तरं पद्मनाभसहितास्सर्वेऽपि देवा मेरुशिखरमगमन् । तत्र सभायां धरण्या -

त्वया धार्या ह्यहं देव त्वयेदं धार्यते जगत् ।

इत्यादिना स्वभारावतरणार्थं शरणागतिपूर्वकम् -

अहमादौ पुराणस्य सङ्क्षिप्ता पद्मयोनिना । माञ्च बद्ध्वा कृतौ पूर्वं मृण्मयौ द्वौ महासुरौ ॥ कर्णस्रोतोद्भवौ तौ हि विष्णोरस्य महात्मनः । महार्णवे प्रस्वपतः काष्ठकुड्यसमं स्थितौ ॥ तौ विवेश स्वयं वायुर्ब्रह्मणा साधु चोदितः । दिवं प्रच्छादयन्तौ तु ववृथाते महासुरौ ।

(स.प.) हरिवंशोक्तमधुकैटभवृत्तान्तः

इत्याद्युक्त्यनन्तरम् —

तो दैत्यौ कृतनामानौ चेरतुर्बलदर्पितौ । सर्वमेकार्णवं लोकं योद्धुकामौ सुदुर्जयौ ॥ तद्युद्धमभवद्घोरं तयोस्तस्य च वै तदा । एकार्णवे तदा लोके त्रैलोक्ये जलताङ्गते ॥ स तु गृह्यमृधे दोभ्यां दैत्यौ तावभ्यपीडयत् ।

इत्यादिना मधुकैटभवधादिकमुक्तम् । सभापर्वाणि चेत्थमेव मधुकैटभवधवृत्तान्तः प्रदर्शितः कल्पभेदेन चाविरोध ऊह्यः । अतश्च —

तस्य चिन्तयतः कार्यं देवेषु समितिञ्जयः । संभवं सर्वलोकस्य विदधाति स वाक्पतिः ॥

इति हरिवंशतृतीयपर्ववचने देवकार्यं प्रथमपर्वोक्तमेव । समितिञ्जय इत्यस्य युद्धे मधुकैटभयोर्जेतेत्यर्थः, मधुकैटभवधानन्तरं धरण्यास्स्वास्थ्यसम्पादनेन तद्द्वारा सर्वलोकसत्तां विदधातीति अनन्तरवचनार्थः -

> स्वयम्भूरिति विज्ञेयस्स ब्रह्मा भुवनाधिपः । स वायुरिति विज्ञेय॥

इत्यस्य यौ च मधुकैटभपोषकतयाः प्रथमपर्वोक्तौ ब्रह्मवायू तावुभाविप नारायणनियाम्यावेवेत्यत्र तात्पर्यम् । अत्रापि -

यच्च वेद्यं भगवतो देवा अपि न तद्विदुः ।

इत्यादिना "न तं विदाथय इमा जजान" इत्यादि श्रुत्यर्थ उक्तः । अतश्च "पत्नी चैव स्वयं लक्ष्मीर्देहमाश्रित्य तिष्ठति" "विदधाति स वाक्पतिः" इत्युपक्रमोपसंहारगतवाक्याभ्यां "अन्यद्युष्माकमन्तरम्" "वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्" इति श्रुत्यर्थ उक्तः । इत्थञ्च "एको विद्यासह[[हा??]]यस्त्विम"ति

**सृष्ट्यादिषु विष्णुधर्मोत्तरवचनैः (ना. आ.) पूर्ववचनैश्च लक्ष्या अन्वयसाधनम्

हरिवंशवचनेऽपि विद्याशब्दार्थो लक्ष्मीरिति सिद्धम् । एवं नारायणाख्यान एव पूर्वं नारदं प्रति पाञ्चरात्रिकवासुदेवोक्तौ -

> विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थं सनातनम् । कपिलं प्राहुराचार्यास्साङ्ख्यनिश्चितनिश्चयाः ॥ एषोऽहं व्यक्तिमाश्चित्य तिष्ठामि दिवि शाश्वतः । ततो युगसहस्रान्ते संहरिष्ये जगत्पुनः । कृत्वाऽऽत्मस्थानि भूतानि स्थावराणि चराणि च । एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये द्विजोत्तम ॥ ततो भूयो जगत्सृष्टिं करिष्यामीह विद्यया । अस्मन्मूर्तिश्चतुर्थी या साऽमृजच्छेषमव्ययम् ॥ स हि सङ्कर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत् । प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः ॥

इति ॥ (५८) पूर्वोदाहृतवचनानन्तरवचनेष्वपि परवासुदेवशक्तिर्विद्याशब्दार्थश्श्रीरिति सिद्धम् । अत्र 'संहारिष्ये' इत्यत्र विद्याशब्दाप्रयोगः लक्ष्म्या व्यष्टिसंहारफलोपधायकत्वाभावाभिप्रायेण । "एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये" इत्यत्र एकाकिशब्दप्रयोगेण "पूर्वं नारायणस्स्त्वेक" इत्युदाहृतवाराहवचनोपबृंहितायाम् "एको ह वै नारायण आसीत्" "स एकाकी न रमेत" इत्यादिश्रुतौ श्रीवैशिष्ट्यं विवक्षितमिति बोधितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मोत्तरोपक्रमे -

नारायणं नमस्कृत्य सर्वभूतपरायणम् । लक्ष्मीसहायं वरदं शेषपर्यङ्कशायिनम् ॥ जगतोऽस्य समुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् । इति लक्ष्मीसहायो लोकांस्तु सर्वान् पालयते सदा ॥

अत्र पुनः लक्ष्म्याः पालनमात्रेऽन्वयोक्तिस्सृष्टिप्रलययोः कात्स्न्येन फलोपधानाभावाभिप्राया सृष्टिसंहारयोस्तु लक्ष्म्याः न कात्स्न्येन फलोपधानम् । अनुग्रहैकतानायास्तस्या नारिकजन्मनि व्यष्टिसंहारे च फलोपधानविरहात् । सृष्टिस्थितिलयत्रयान्वयोक्तिस्तु लक्ष्म्यास्स्वरूपयोग्यताऽभिप्रायेणेत्यादिकं तत्र सिद्धान्तभेदादिकं च श्रीतत्त्वसिद्धाञ्जनलक्ष्यु[[??]]पायत्वनिर्णयादिषु सुधीभिर्विभावनीयम् । अतो 'विद्यासहायवा'नित्यस्य पूर्वोक्त एवार्थ इति सिद्धम् ॥

(स. ना. भा.) भट्टार्योदाहृतया 'श्रद्धया देवः' इत्यादिश्रुत्यापि तत्स्थापनम्®

देवः जगद्ध्यापारक्रीडावान् "ईश्वरो हि जगत्स्रष्टे"त्यादिना जगत्सृष्ट्यादेः प्रस्तुतत्वात् चैत्रसहायवान् पक्ता मैत्र इत्यत्र चैत्रमैत्रयोरुभयोरिप पाककर्तृत्ववदत्रापि लक्ष्मीनारायणयोर्जगद्ध्यापारक्रीडावत्वं प्रतीयते, "एकाकी विद्यया सार्धं विहारिष्ये1" इत्यत्राप्ययमर्थस्स्फुटः ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र विहारिष्ये इत्यत्र विहारः

त्वं न्यञ्चद्भिरुदञ्चद्भिः कर्मसूत्रावलम्बितैः । हरे विहरसि क्रीडाकन्तुकैरिव जन्तुभिः ।

इति वचनप्राप्तो जगद्ध्यापाररूप एव, "संहरिष्ये" "ततो भूयो जगत्सृष्टिं करिष्यामीह विद्यया" इति संहारसृष्टिमध्यपतितत्त्वाच्च । तथा च काठकश्रुतिः "श्रद्धया देवो देवत्वमश्रुते" इति । तदुक्तं भगवद्गुणदर्पणे माघवशब्दार्थकथनावसरे भट्टपराशरपादैः अस्स्यास्वरूपविन्नत्यनिर्मलरूपत्वं, निरुपाधिकपरमैश्वर्यादिजगन्मातृत्वम् औत्पत्तिको भगवत्सम्बन्धः नित्यानपायश्चेत्यादि तत्त्वपरेषु शास्त्रेष्वमर्यादम्, वेदेषु तावत् श्रीसूक्तं श्रद्धासूक्तं मेघासूक्तमुत्तरनारायणं कौषीतकी ब्राह्मणमित्यादीत्यारभ्य "श्रद्धया देवो देवत्वमश्रुते"

इत्येतदस्यास्तत्त्वरहस्यम् इत्यन्तम् । एषामयमाशयः श्रीस्तुतौ "मेघा श्रद्धासरस्वती" (वि.पु. १-९ श्री. स्तु. १९९) इत्युक्त्याऽत्र श्रद्धाशब्दो लक्ष्मीपरः उत्तरत्र "श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी"त्यादौ अभ्यस्तदेवीशब्दसामानाधिकरण्यात्, "ईशाना देवीभुवनस्याधिपत्नी" इत्यधिपत्नीशब्देनोपसंहारात् । सर्वस्थितिभरणलयनियमनमोक्षहेतुत्वलिङ्गबलाच्च । प्राक्तनश्रुत्यैकरस्यादिष श्रद्धाशब्दस्य लक्ष्मीपरत्वमवगम्यते ।

उक्तश्रुतिपूर्ववाक्यानामहिर्बुध्न्यसंहितैकरस्यम्

तथाहि पूर्वं

येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति । प्रथमजं देवँ हविषा विधेम । स्वयम्भुब्रह्मपरमं तपो यत् । स एव पुत्रस्स पिता स माता । तपोहयक्षँ प्रथमं सम्बभूव

इति श्रूयते तत्र "येनेदं विश्वं परि[[री??]]भूतं यदस्ती"ति वासुदेवस्य जगत्कारणत्वं "प्रथमजं देवगँ हविषा विधेम" इत्यनेन प्रथमतः परवासुदेवाज्जातस्य व्यूहरूपस्य भगवत आत्महविरुद्देश्यत्वं "स्वयम्भुब्रह्मपरमं तपो यत्" इत्यत्र स्वयम्भुशब्देन व्यूहजन्म ऐच्छिकं न तु कर्मकृतमिति चोक्तम् । 'परमम्' इत्यस्य परा मा श्रीर्यस्येति विग्रहः । तप इत्यत्र "तप आलोचने" इत्यस्मात्कर्तरि असुन् । अत्र परमतपरशब्दाभ्यां श्रीविशिष्टस्य बहुभवनालोचनं ज्ञापितम् । एवञ्च –

षाङ्गुण्यं तत्परं ब्रह्म स्वशक्तिपरिबृंहितम् । बहु स्यामिति सङ्कल्पं भजते॥ इत्यहिर्बुध्न्योक्तिरेतन्मूलैवेति ॥

एतेन "प्रथमजं देवँ हविषा विधेम" इत्यत्र श्रीविशिष्टस्यैवात्महविरुद्देश्यत्वं सिद्धम् । "उपहवेस्य सुमतौ स्याम" इत्युपसंहारानुगुण्याच्च । "स एव पुत्रस्स पिता स माता" इत्यत्र परव्यूहयोरभेदः । "नित्यैवैषा जगन्मता विष्णोश्त्रीरनपायिनी" इत्याद्युक्तरीत्या श्रियो मातृतया श्रीविशिष्टस्यैव मातापितृत्वञ्च प्रतिपाद्यते । भट्टार्यैः 'लोकबन्धु'नामविवरणावसरे "माता पिता भ्राता निवासश्शरणं सुहृत् गतिर्बन्धुर्नारायणः" इति श्रुतिमुदाहृत्य 'माधव'नामविवरणावसरे "मातापितृत्वं श्रिया सहास्य सूचयति माधवः" इति विवरणात् । एतत्प्रपाठकान्ते "ततो ह जज्ञे भुवनस्य गोपाः" इति "पिता पुत्रेण पितृमान् योनियोनौ" इत्यादिश्रुतिसन्दर्भस्य रामकृष्णादिविभवावतारपरतया सर्वव्याख्यानाधिकरणे व्यासार्यैर्व्याख्यातत्वाच्च यथोक्त एवार्थः । एतावता व्यूहसृष्टिरुक्ता अथ जगदालोचनं श्रीविशिष्टस्यैवेत्याह "तपो ह यक्षं प्रथमं सम्बभूव" इति तपश्शब्दः पूर्ववत् अस्य नारायणस्य स्त्री विद्यारूपपत्नी ई, ई, लक्ष्मीम् अक्ष्णोति व्याप्नोतीति यक्षं लक्ष्म्यपृथक्सिद्धमिति यावत्, अमरसुधायाम्, 'ईम् लक्ष्मीमक्ष्णोति व्याप्नोतीति' यक्षशब्दविवरणात् । एतेन वासुदेवशक्तिर्या विद्यापदाभिधेया सैवानिरुद्धशक्तिर्विद्याशब्दवाच्येति सूचितम् ॥

लक्ष्मीतन्त्रवचनैककण्ठ्यं च

अहन्तया समाक्रान्तं तस्य विश्वमिदं जगत् । वस्तुतस्तु च तन्नास्ति यन्नाक्रान्तमहन्तया । इत्यदीनि ।

अत्र -

स वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञः परमो मतः । विष्णुर्नारायणो विश्वो विश्वरूप इतीर्यते ॥ तद्ब्रह्म परमं धाम निरालम्बनभावनम् । अपृथग्भूतशक्तित्वाद्ब्रह्माद्वैतं तदुच्यते ॥ अहन्ता ब्रह्मणस्तस्य साऽहमस्मि सनातनी । भवान् नारायणो देवो भावो लक्ष्मीरहं परा ॥ लक्ष्मीनारायणाख्यं तदतो ब्रह्म सनातनम् । अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात् ॥ तादात्म्यं विद्धि सम्बन्धं मम नाथस्य चोभयोः । सङ्कर्षणादिसद्भावं भजे लोकहितेच्छया ॥ क्रमशः प्रलयोत्पत्तिस्थितिभिः॥ (२ अ.)

इत्यन्तानि अन्यान्यपि वासुदेवानिरुद्धशक्त्योर्विद्यात्मककत्वप्रतिपादकानि लक्ष्मीतन्त्रवचनान्यनुसन्धेयानि । जगद्ध्यापारसामान्येऽपि लक्ष्म्या अन्वयं दर्शयित "श्रद्धया देवो देवत्वमश्रुते" इति देवः "येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति । प्रथमजं देवँ हविषा विधेम" इत्यत्रोक्तो वासुदेवः श्रद्धया सह देवोदेवत्वमश्रुत इत्यन्वयः । देवत्वं जगद्ध्यापारक्रीडासम्बन्धं, 'सृष्ट्याद्यैः क्रीडित स्वयम्' । इति देवार्थ ईरितः (५२ - ६८) इत्यहिर्बुध्न्यसंहितोक्तेः "येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति । यस्मादेवा जित्तरे भुवनञ्च विश्वे" इत्युपक्रमोपसंहारयोर्जगत्सृष्टिप्रतिपादनात्, "श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी"त्यादिना लक्ष्यास्थितिभरणमोक्षलयकर्तृत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च ।

'श्रद्धया देवः' इति श्रुतौ चतुश्लोकीं भाष्योक्तार्थनिष्कर्षः

तदाहुराचार्यपादाश्चतुश्लोकीभाष्ये अथ स्यात् 'मेधा श्रद्धा सरस्वती' 'अहं श्रद्धा च मेधा च' इति स्मृत्युपबृंहितया 'श्रद्धया देवो देवत्वमश्चृत' इति श्रुत्या पत्न्यधीनोत्कर्षवत्त्वं परस्य देवस्य प्रतीयत इति । तदिप न चोद्यं स्वतस्सिद्धातिशयस्य भास्करस्य प्रभान्वयेनेव "श्रियश्त्रीश्च भवेदग्र्या" इत्युक्तस्य भगवतः पत्न्याऽप्यतिशयान्तरे दोषाभावात्, अभिरूप एवाभरणेनापि द्योतमानत्वमश्चृत इत्यादाविवायोगव्यवच्छेदमात्रेणाप्यर्थोपपत्तौ बहुप्रमाणविरुद्धस्यान्ययोगव्यवच्छेदस्य कल्पयितुमयुक्तत्वात् । देवत्वश्च निष्कृष्यमाणं देवनसम्बन्ध एव 'कृत्तद्धितसमासेषु सम्बन्धाभिधानं त्वतलादिभि'रिति शाब्दिकोक्तेः । तच्च देवनं विहरणादिरूपं स्ववल्लभासिहतस्यैव परस्य देवस्य भवतीति सुस्थोऽयं पन्था" इति । अत्र 'तच्च देवन'मित्यादिना - तत्रैव पूर्वम् "आनीदवातँ स्वधया तदेकम्" इति श्रुतिविवरणावसरे उपन्यस्तेषु बहुषु पक्षेषु "अस्तु वा स्वधयेति पदं लक्ष्मीविषयं तथाऽपि सहयोगाविवक्षैवात्र युक्ता यथामहाभारते —

कृत्वाऽऽत्मस्थानि भूतानि स्थावराणि चराणि च । एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये द्विजोत्तम ॥

इति इत्युक्तः पक्ष एव "एकाकी - विद्यया सार्धमि"त्यानुगुण्येन "श्रेष्ठश्चे"त्यधिकरणश्रुतप्रकाशिकोक्तस्स्वसम्मत इति बोधितम् ॥

ततो भूयो जगत्सृष्टिं करिष्यामीह विद्यया ।

इति तदुत्तरवचनेऽपि विद्ययेति सहयोगे तृतीया लक्ष्म्या सार्धमित्यर्थ इत्यपि सूचितम् । 'विहरिष्ये द्विजोत्तम' इति पाठेऽपि विहरणं जगद्व्यापाररूपमेवेति पूर्वमेवोपपादितम् । 'विहरिष्ये जगत्पुनः' इति बहुषु महाभारतकोशेषु परिदृश्यमानपाठे च स्फुटमेव तत् । अतः "श्रद्धया देव" इत्यादेर्यथोक्त एवार्थः ॥ अनन्तरश्रुतिवाक्यानामयमर्थः । एतावता श्रद्धाशब्दितलक्ष्म्यास्सामान्यतो जगद्व्यापारान्वय उक्तः । अथ विशिष्य स्थित्यादिहेतुत्वं दर्शयति "श्रद्धा प्रतिष्ठे"त्यादिना । देवी महिषी 'देवी कृताभिषेकायोमिति कोशात् ।

उक्तश्रुत्युत्तरवाक्यानामर्थः

एतेन भूनीलाभ्यां विशेष उक्तः प्रतिष्ठा, उभयविधस्थितिहेतुः अन्तर्व्याप्तिफलभूता अन्तर्यामिकृतसत्ताऽनुवृत्तिरूपा एका बहिर्व्याप्तिफलभूता बहिर्भूतमातापित्राचार्यादिमुखेन क्रियमाणा इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाररूपा अपरा चेति स्थितिद्वैविध्यं विष्णुपुराणव्याख्याने विष्णुचित्तीये जिज्ञासाधिकरणश्रुतप्रकाशिकायाञ्च स्पष्टम् । स्थितिहेतुत्वं श्रियः न भगवतः पृथग्भावेन किन्त्वपृथग्भावेनैवेत्याह "सा न" इत्यादिना । सा श्रद्धा, नः जुषाणा प्राप्नुवाना, प्रीणाना वा, यज्ञम् । 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (३-३-९०) इति सूत्रेण यजधातोर्बाहुलकः कर्तरि नङ् ॥

यज्ञस्स्यादात्मनि मखे नारायाणहुताशयाः ।

इति हैमः (अ. सु.) जगत्सृष्ट्यादियज्ञकर्तारम्, "श्रद्धया देव" इति पूर्वप्रस्तुतम् उपागात् उपागमत् । तादृशयागकर्त्री तत्पत्नीत्यर्थसिद्धम्, तत्फलमाह "कामवत्से" त्यादिना काम्यन्त इति कामाः वत्साः अचिन्मिश्रचिद्रूपाश्शिशवो यस्यास्सा, कामवत्साशब्देन श्रिया वात्सल्यं व्यञ्जितं तेन श्रिय अनुग्रहैकतानत्वं सिद्ध्यिति । एतेन "सोऽकामयत बहु स्यामि"ति स्मारणमुखेन श्रियो बहुभवनसङ्कल्पो व्यञ्जितः । "तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतिसिद्धाऽन्तर्यामिकृतसत्ताऽनुवृत्तिलक्षणा स्थितिः प्रतिष्ठाशब्देनोक्ता । अमृतं दुहाना मोक्षप्रदा, अनेनाचार्यादिमुखेन रक्षणं नान्तरीयकतया सिद्ध्यिति । एतेन द्विविधस्थितिहेतुत्वं लक्ष्म्या उपपादितम् ॥ अथ "येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति प्रथमजं देवँ हविषा विधेम" इत्यादिना भगवित पूर्वोक्तानर्थान् लक्ष्म्यामपि दर्शयित "श्रद्धा देवी" इत्यादिना ऋतस्य ब्रह्मणः, "ऋतँ सत्यं परं ब्रह्मे" त्यादौ ऋतशब्दो ब्रह्माणि प्रयुक्तः । प्रथमजा पूर्वमवतीर्णा, विश्वस्य भर्ती स्वसङ्कल्पेन धारयित्री "श्रद्धा प्रतिष्ठे"त्यत्र स्वरूपतस्थितिहेतुत्वमुक्तमिति न पौनरुक्त्यम् । एतेन "भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति । एको देवो बहुधा निविष्टः" लक्ष्मीतन्त्राद्युक्तदिशैवैक्यं विवक्षितमिति सूचितम् ।

लक्ष्मीतन्त्रोपबृंहितश्रुत्या लक्ष्म्या भुवनेशानत्वसाधनम्

लयहेतुत्वमाह "जगतः प्रतिष्ठा" इति प्रतिष्ठाप्रकर्षेण स्वाविभागेन स्थितिर्लयः तद्धेतुः । प्रतिष्ठाशब्दस्य लयपरत्वं 'प्रतिष्ठा निष्ठा पर्यवसानं लयः' इति जिज्ञासाधिकरणश्रुतप्रकाशिकायामुक्तम् । "ताँ श्रद्धाँ हविषा यजामहे" इत्यत्र लक्ष्म्या अप्यात्महविरुद्देश्यत्वमुच्यते । "सा नो लोकममृतं दधातु" इति लोकं लोक्यत इति लोकं हिवस्समर्पणफलं, "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" इत्यादौ लोकशब्दस्य फले प्रयोगात् । अमृतं मोक्षरूपम्, सम्पादयतु ॥ ननु "क्षरात्मानावीशते देव एकः" इत्यादौ देवस्यैव जगन्नियन्तृत्वसंवितशेषित्वप्रतिपादनात् कथमेतदिति शङ्कामपनुदति - 'ईशाना देवी' इत्यादिना 'भुवनस्य' भवतीति भुवनं तस्य सत्ताश्रयजगत्सामान्यस्य ईशाना नियन्तृत्वसंश्लिष्टशेषित्ववती, यथा हि श्रूयतेऽन्यत्रापि "अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी" "ईश्वरीगँ सर्वभूतानाम्" इत्यादि । लक्ष्मीतन्त्रे —

भूतानामीश्वरा चास्मि प्रियेणेशेन सर्वदा ॥ ५० ॥ १५१ ॥ वरदा भुवनेशाना वन्दिता च सदाऽखिलैः । वृद्धिदा वर्तमाना च क्षपणी च सदाहसाम् ॥ १६० ॥ ईश्वरीत्येव मे नाम तेन वेदे निरूपितम् । निरुपाधि स्वतन्त्रा च स्वामिनी नः कृपानिधिः ॥ २९८ ॥ अधिष्ठाय गुणान् सृष्टिस्थितिसंहृतिकारणी । निर्गुणापि गुणानेतानधिष्ठायात्मवाञ्छया ॥ ३ ॥ ९ ॥ अनियोज्यं ममैश्वर्यमिच्छैव मम कारणम् । मुह्यन्त्यत्र महान्तोऽपि तत्त्वं शृणु तथा च मे ॥ १२ ॥ विभक्ते अपि ते एते शक्ती चिदचिदात्मके । मत्स्वाच्छन्द्यवशेनैव मम रूपे सनातने ॥ २४ ॥

अहिर्बुध्न्यविष्वक्सेनसंहिताभ्यामुक्तार्थस्य भूनीळाभ्यां विशेषस्य च साधनम्

इत्यादिवचनानि एतच्छ्रुतितात्पर्यं विशदयन्ति । एतत्तात्पर्येणैव "निरुपाधिकमैश्वर्यादिक"मित्यादिभट्टार्योक्तिः अधिपत्नी भोगपत्नीभूताभ्यां भूनीळाभ्यामधिकमहिमवती पत्नी, एतच्छुतितात्पर्यनिर्णायकानि च -

> स्वातन्त्र्येण स्वरूपेण विष्णुपत्नीयमद्भुता । यतो जगद्भविष्यन्ती क्वचिदुन्मेषमृच्छति ॥ (अ. सं. ३. २६)

इति ।

भगवद्यज्ञसंयोगात्पत्नी भगवतो ह्यहम् । ल. तं. ४. ४८ । निरुपाधि स्वतन्त्रा च स्वामिनी नः कृपानिधिः ॥ ५० ॥ २१८ ॥

इति ॥

तथा लक्ष्म्यास्त्वरूपञ्च शृणु वक्ष्ये समाहितः । वि. सं । गुणतश्च स्वरूपेण व्याप्तिस्साधारणी मता ॥ यथा मया जगद्याप्तं स्वरूपेण स्वभावतः । तया व्याप्तिमदं सर्वं नियन्त्री च तथेश्वरी ॥ मया व्याप्ता तथा साऽपि तया व्याप्तोऽहमीश्वरः । मम तस्याश्च सेनेश वैलक्षण्यमिदं शृणु ॥ मच्छेषभूता सर्वेषामीश्वरी वल्लभा मम । तस्याश्च जगतश्चाहमीश्वरो वेदविश्रुतः । अस्या मम च शेषं हि विभूतिरुमयात्मिका । इति श्रुतिशिरस्सिद्धं मच्छास्त्रेष्वपि मानद ॥ तथा भूमिश्च नीळा च शेषभूते मते मम । तथाऽऽत्मनाञ्च सर्वेषां ज्ञानतो व्याप्तिरिष्यते ॥ स्वरूपतस्तु न तयोर्व्याप्तिर्वेदान्तपारग ॥ इति ॥ युवां तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम् ॥

इत्यहिर्बुध्न्यसंहितालक्ष्मीतन्त्रविष्वक्सेनसंहिताभागवतादिवचनानि । वचनार्थस्त्वन्यत्र विचारितः । अत्र लक्ष्म्या अधिपत्त्रीत्वकथनेन पतिवत्पत्न्या अपि सृष्ट्यादियज्ञाधिकारः सृष्ट्यादियज्ञकर्तृत्वञ्च बोधितम् ॥

जैमिनिसूत्रात्पतिपत्न्योरुभयोरपि सृष्ट्यादियज्ञकर्तृत्वं (श्वे.) श्रुत्या ब्रह्मता च

पूर्वतन्त्रे "जातिन्तु बादरायणोऽविशेषात्तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्" . (६-१-३-८) "स्ववतोस्त् वचनादैककर्म्यं स्यात्" (६-१-४-१७) इति सूत्रद्वये पत्न्या अपि यज्ञाविकारः पतिपत्न्योरेकमेव यागकर्तृत्वम्, इत्यादिकं स्फुटम् । अत्र ऐककर्म्यपदं प्रयुञ्जता जैमिनिना पत्न्या अनुमतिकर्तृत्वादिकमेवेति वदन्तः प्रत्युक्ताः । तदुक्तं भाट्टदीपिकायां भट्टकुमारिलानुयायिना खण्डदेवेन – "यदपि तत्स्वारस्यात्पुंस एव त्यागे कर्तृत्वं तस्या अप्यनुमतिद्वारा तदिति केषाञ्चिन्मतम् । तत् अनुमतेः फलसम्बन्धाश्रवणात् तद्दवारकत्वे प्रमाणाभावेन पूर्वाधिकरणव्यत्पादिताधिकारभङ्गापत्तेरुपेक्षितम् । यत्तु आख्यातोपात्तमेकत्वं सहाधिकारे नावकल्पत इति तन्न । एकवचनश्रवणादेव व्यासज्यवृत्त्यैककर्तृत्वस्य कल्पनात् । इतरथा कर्तभेदात्सत्रवद्विवचनाद्यापत्तेः" इति । अत्र 'जातिन्तु बादरायण' इति पूर्वाधिकरणसिद्धान्तसूत्रानुसारेण "स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात्" इत्युत्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रे कर्मण्येकत्वमेकजातीयत्वमेवेति न तिरोहितं विदुषाम् । अत एव शास्त्रदीपिकाव्याख्याने सोमनाथीये दम्पत्योरेकजातीयत्यागकर्तृत्वप्रतिपादनं सङ्गच्छते । यत्र तु विषयविशेषे एककर्तृत्वांशे विरोधादिकं तत्र त्वगत्या प्रमाणान्तरेण च प्रेरणानुमतिनिबन्धनमेव कर्तृत्वमित्यादिकं सुधीभिरूह्यम् । एवं स्थिते वेदव्यासापरनामबादरायणसिद्धान्ते केषाञ्चिन्मीमांसकैकदेशीनां सर्वत्र यागकर्तृत्वस्य प्रेरणानुमतिनिबन्धनत्वोक्तिरनुपादेया । तथा च सकलार्थसङ्ग्राहिका श्वेताश्वतरद्वितीयाध्यायगा श्रुतिः "मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः युजे वां ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिः" इति अत्र 'वां ब्रह्म' इति समानाधिकरणनिर्देशः एतेन श्वेताश्वतरप्रथमाध्याये

"क्षरात्माना वीशते देव एक" इत्यत्र लक्ष्मीपतिरेव विवक्षितः पुंस्त्वञ्चाविवक्षितमिति सिद्धम् । "युजे वां ब्रह्मपूर्व्यं नमोभि"रिति श्रुतितात्पर्यं लक्ष्मीतन्त्रे -

नमो नित्यानवद्याय जगतस्सर्वहेतवे । ज्ञानाय निस्तरङ्गाय लक्ष्मीनारायणात्मने ॥

लक्ष्मीतन्त्रनारायणाख्यानवचनैरपि तत्साधनम्

इत्युपक्रमेण -

लक्ष्मीनारायणाख्यं तदतो ब्रह्म सनातनम् ॥ २ ॥ १५ ॥

इत्यादिवचनैश्च व्यक्तीकृतम् । महीशब्दस्य लक्ष्मीवाचकत्वादिकं "मही गौः प्राणवत्सला" (अ. सं.) इत्यादिलक्ष्मीनामपाठादिना सिद्ध्यति । नारायणाख्याने -

> विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थं सनातनम् । इति ततो भूयो जगत्सृष्टिं करिष्यामीह विद्यया ।

इत्यादिपाञ्चरात्रिकवासुदेववचनेष्वपीयमेव श्रुतिर्मूलभूतेति विद्याया आदित्यसम्बन्धकथनपूर्वकं जगत्कारणत्वप्रतिपादनेन व्यञ्जितम् ।

> श्रुतीनामभिसन्धिश्च सैव देवी सनातनी । ल. तं. १. ३५ ॥ एषैव सृजते काले सैषा पाति जगत्त्रयम् । जगत्संहरते चान्ते तत्तत्कारणसंस्थिता ॥ ३६ ॥

इत्यादिलक्ष्मीतन्त्रवचनैः "माया वा एष नारसिंही सृजित" इत्यादिनृसिंहतापनीयादितात्पर्यमाविष्कृतमिति विरम्यते विस्तरभयात् ॥ अतश्च अधिपत्नीत्यस्य यथोक्त एवार्थः । तदेतत्सर्वमिभप्रेत्योक्तं वेदार्थसङ्ग्रहे "अनवधिकमिहममिहिषी" इति । एवं पतिपत्नीभावकथनेन "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादौ पुंस्त्वाविवक्षावत् जगत्सृष्ट्यादिप्रतिपादकश्रुत्यादिषु लिङ्गाविवक्षया लक्ष्म्यास्सर्वजगद्व्यापारान्वयस्सम्भवतीति बोधितम् । एतेन "श्रद्धया देवो देवत्वमश्रुते" इत्यस्य पूर्वोक्तार्थे उपपत्तिरूपतात्पर्यलिङ्गमप्युक्तम् । एतावता "ईश्वरीँ सर्वभूतानां त्वामिहोपह्वये श्रियम्" इति श्रुत्यर्थ उक्तः ॥ अथ "मनसः काममाकूतिं (आकृतिं) वाचस्सत्यमशीमिह" इत्यस्यार्थ उच्यते. "आगात्सत्यँ हविरिदं जुषाणम्" इत्यादिना अत्र "स.त्ति.यम्." (८-३-५) इत्यादि च्छान्दोग्यश्रुतौ

सच्चासच्चैव कौन्तेय मयावेशितमात्मनि । पौष्करे ब्रह्मसदने सत्त्यम्मामृषयो विदुः ॥

'सुमज्जानये'इत्यैकार्थ्येन 'उपहवेऽस्य सुमतौ स्याम' इतिश्रुत्यर्थकथनम्

मोक्षधर्मे -

सच्चत्यच्च[[??]] जगद्द्वेधा यत्प्रमाणेन दृश्यते । तत्सर्वमहमस्मीति सत्त्यं मामृषयोऽब्रुवन् ॥ ५०- १६९ ॥

इति लक्ष्मीतन्त्रे च निर्वचनानुसारेण सत्त्वपदं श्रीश्रीशोभयबोधकं[[??]] वेदितव्यम् । अत एव

मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य मनो वशमन्वियाय । भीष्मो हि देवस्सहसस्सहीयान् । स नो जुषाणापे[[णोप??]]यज्ञमागात् । आकूतीनामधिपतिं चेतसाञ्च । सङ्कल्पजूतिं देवं विपश्चिम् । मनो राजानमिह वर्धयन्तः । उपहवेस्य सुमतौ स्याम

इत्युपसंहारस्सङ्गच्छते । अत्र सुमितशब्दो लक्ष्मीवाची "सुमज्जानये विष्णवे" "बृहत्ते विष्णो सुमितं भजामहे" इति श्रुत्यन्तरात् । अत्र सुमितत्वं समीचीनसङ्कल्पवत्त्वम्, समीचीनत्वम् अनुग्रहैकतानत्वं तच्च रक्षणविषये कात्स्न्येन पितसङ्कल्पतुल्यत्वं नारिकजन्मव्यष्टिसंहारयोश्च श्रियःफलोपधानाभावश्चेति । तत्र प्रथमं पूर्वमुक्तम् । द्वितीयं "भीष्मो हि देव" इत्यादिना व्यक्तीभविष्यति, अयञ्च विशेषो विष्णुधर्मोत्तरोपक्रमवचनैरपि व्यञ्जितः । यथा -

नारायणं नमस्कृत्य सर्वभूतपरायणम् । लक्ष्मीसहायं वरदं शेषपर्यङ्कशायिनम् ॥ जगतोऽस्य समुत्पत्तिस्थितिनाशैककारणम् ।

इति । "लक्ष्मीसहायो लोकांस्तु सर्वान् पालयते सदा" इति च । "प्रथमजं देवँ हविषा विधेम" इत्यत्र सामान्यतो व्यूहरूपिणो भगवत आत्महविरुद्देश्यत्वमुक्तम् । अत्र व्यूहव्यक्तिं विशिषन् लक्ष्म्यास्सुमतित्वमुपपादयितुमारभते "मनसो वशे" इत्यादिना । अत्र मनःपदं "कामस्सङ्कल्प" इत्यादि "सर्वं मन एव" इति । सङ्कल्पः कर्म मानसम्" इति च वैदिकलौकिकवचनानुसारेण सङ्कल्पजनकमनोवाचकं सत् -

सः मनस्सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते ।

इत्यादिवचनैस्तदभिमानिप्रद्युम्नपरम्, अन्यदतिरोहितार्थम् ।

सङ्कर्षणानिरुद्धयोर्भीष्मत्वं प्रद्युम्नस्यैवाभीष्मत्वम्

अत्र विश्वस्य भर्त्री" इत्यदि "ईशाना देवी भुवनस्याधिपत्नी" इति "मनसो वशे विश्वमिदं बभूव" इत्यादिश्रौतनिर्देशेन पूर्वं श्रद्धाशब्दप्रतिपादितसर्वनियन्त्री लक्ष्मीरेव मनश्शब्दवाच्यस्य सर्विनियन्तुः प्रद्युम्नस्य शक्तिः, "उपहवेस्य सुमतौ स्याम" इत्यत्र सुमतिशब्दनिर्दिष्टेत्यवगम्यते । श्रीतदीशयोरत्रैश्वर्यं -

हेत्वन्तरानपेक्षं यत्स्वातन्त्र्यं विश्वनिर्मितम् । तदैश्वर्यं तदासीन्मे प्रद्युम्नः पुरुषोत्तमः ॥ २४ - ९ ॥ इति लक्ष्मीतन्त्रे -

ऐश्वर्यवीर्यसम्भेदात्प्राद्युम्नं रूपमुच्यते । कर्तृत्वं नाम यत्तस्य स्वातन्त्र्यपरिकल्पितम् । ऐश्वर्यं नाम तत्प्रोक्तं गुणतत्त्वार्थचिन्तकैः ॥ २–५८ ॥

इत्यहिर्बुध्न्यसंहितायाञ्च निरुक्तं विवक्षितम् । अत्रैश्वर्यमात्रोक्ताविप तदेव वीर्यस्याप्युपलक्षणं रक्षणोपयोगितयाऽभ्यर्हितत्वात्तस्य निर्देशः ऐश्वर्यस्य रक्षणोपयोगित्वञ्च –

सृष्टिस्थित्यन्तकर्तारो विज्ञानैश्वर्यशक्तयः ।

इति लक्ष्मीतन्त्रे स्पष्टम् ॥ अथ प्रदुम्नस्यैव रक्षणैकान्तत्वं स्थिरीकर्तुं सङ्कर्षणानिरुद्धयोस्समाश्रयणानर्हत्वमाह "भीष्मो हि देवस्सहसस्सहीयान्" इति । हि यतः, सहसस्सहीयांश्च देवो भीष्मः, अतस्स नो जुषाणोपयज्ञमागादित्यन्वयः । सहः बलमस्यास्तीति सहसः अर्श आदेराकृतिगणत्वादच् बलवान् सङ्कर्षण इति यावत् सहीयान् सहः तेजः अस्यास्तीति सहस्वान् अतिशयेन सहस्वान् सहीयान् अनिरुद्धः -

बलं वीर्यं तथा तेज इत्येतत्तु गुणत्रयम् ॥

इति सङ्कर्षणानिरुद्धयोः बलतेजोगुणवत्त्वाभिधानात् भीष्मः भयङ्करः, तयोः क्रमेण व्यष्टिसंहारनारकिजन्मफलोपधायकसङ्कल्पवत्त्वादिति भावः एतेन

उत्तरश्रुत्यर्थसमापनम् - विद्यासहायवान्देवः इति मूलार्थनिगमनं च

प्रद्युम्नस्य रक्षणाधिकृतस्य लक्ष्मीवदनुग्रहैकतानत्वं सिद्धम् "स नो जुषाणोपयज्ञमागात्" इत्यत्र जुषाणः उपयज्ञमिति च्छेदः "स नो जुषाणापयज्ञमागात्" इति वाक्यसछायेऽत्र स इत्यस्य पत्नीविशिष्टप्रद्युम्न इत्यर्थः यज्ञम् आत्महविर्यज्ञम्, "उपहवेस्य" इत्युत्तरत्र कथनात् । अथ "मनसो वशे" इत्यत्र मनःपदं विवृण्वन्नन्तिमसुमितशब्दार्थमिप निर्धारयित "आकृतीनाम्" इत्यादिना आकृतीनामिति मनःकार्यसामान्योपलक्षणम् एतेन 'कामस्सङ्कल्प' इति श्रुतौ पिठतायाश्श्रद्धाया अभिमानिनी देवता पूर्वं "श्रद्धया देव" इत्यादौ श्रद्धाशब्दार्थं इति व्यञ्जितम् । सङ्कल्पमूर्तिं सङ्कल्पात्मकवेगवन्तम् सङ्कल्पमूलवेगवन्तं वा विपश्चिं सर्वज्ञम्, 'मनो राजानम्' अनेन मनसो वशे, इत्यत्र मनःपदं नाचेतनवाचि किन्तु तदिधपितप्रद्युम्नपरिमित बोधितम् अत्र सङ्कल्पाभिमानिनो वर्धनं लक्ष्मीसङ्कल्पिमश्रणेन पूर्णसङ्कल्पवत्त्वसम्पादनम् । "स्वशक्तिपरिबृहितम् । बहुस्यामिति सङ्कल्पं भजते" इत्यहिर्बुध्न्यचचने "स्वशक्तिपरिबृहितम्" इत्यनेन एतच्छुत्यर्थ उक्तः 'उपहवे इत्यादि' । अस्य मनोराजप्रद्युम्नदेवतासम्बन्धिन हवे यज्ञे सुमतौ पतिसङ्कल्पानुगुणतत्तुल्यसङ्कल्पवत्यां लक्ष्म्यां उपस्यामशेषत्वेन सिन्निहिता भवेमेत्यर्थः । अनन्तरं "चरणं पिवत्रं विततं पुराणम्" इति मन्त्रस्सुदर्शनपरः । अस्य सुदर्शनपरत्वं सच्चरित्ररक्षादौ स्थिरीकृतम्। एतच्छ्रतितात्पर्यविस्तरोऽहिर्बुध्न्यसंहितािदिरिति तत्त्वरहस्यमिति ॥ एतेन -

लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारुण्यरूपया । रक्षकस्सर्वसिद्धान्ते वेदान्तेऽपि च गीयते ॥ इति ॥ लक्ष्मीसहायो लोकांस्तु सर्वान् पालयते सदा ॥ इति

लक्ष्मीतन्त्रविष्णुधर्मोत्तरोक्तिः स्थिरीकृता इत्थञ्च श्रद्धया देवो देवत्वमश्रुते" इत्यस्य प्रागुक्त एवार्थे तात्पर्यमिति भट्टार्याणामाशयनिष्कर्षेण तदुपबृंहणभूतस्य "विद्यासहायवान् देव" इत्यस्यापि यथोक्त एवार्थः ॥

उत्तरमूलस्य (स. भा.) भट्टार्योक्तदिशा विवरणम् ③

विष्वक्सेनो जनादर्न इति अयं पाठः केषुचित्कोशेषु दृश्यते नामद्वयञ्चेत्थं विवृतं भगवद्गुणदर्पणे भट्टायैः । अथ स्थापकोऽनिरुद्धः विष्वक्सेनः इनेन स्वामिना सह वर्तत इति सेना सेश्वरेति यास्कः, अनेन रक्षकवन्तो जन्तवः विष्वञ्चोऽस्येति, इयमत्र सामर्थ्यशरीरा शक्तिः रक्षाप्रतिपक्षान् जनाननपेक्षोर्दऽयतीति जनार्दनः (१) "दस्युत्राणाज्जनार्दनः" (भा. उ. ७१-६१) इति । इदमनपेक्षालक्षणं तेजः प्रतिमूर्तिगुणानां व्यवस्थेयम् । इयतामाविष्कारात् भगवतस्सर्वत्रानावरणगुणत्वात् । मूले हि श्रूयते "ज्ञानेनैश्वर्येण शक्त्येति सर्वे भगवतोऽनूनाः पूर्णा इति"

एष आत्मा चतुर्विधस्सर्वज्ञस्सर्वदर्शी सर्वेश्वरस्सर्वशक्तिस्समृद्धिमान् वाग्ग्रन्थि(अव्यादि)रनून आप्तो वशी स्वाधीनोऽनादिरनन्तो व्यपगतनिद्राभयक्रोधतन्द्रो व्यपगतेच्छातमः क्लमव्याधिर्निर्दोषो निरनिष्टो निरवद्यो ये भगवन्तं वासुदेवमेवं विदुः त एनं विदुः । ये नैवं विदुर्न ते विदुरिति भगवान् वासुदेवोनन्त एवापरिमितोऽनन्तत्वेनापरिमितत्वेन भवति, इति प्रतिपर्यायम्

इति ॥ यद्यपि भगवच्छास्त्रवचनसिद्धं प्रद्युम्नस्य स्रष्टृत्वमनिरुद्धस्य रक्षकत्वं भट्टार्यसम्मतम् । तथाऽपि - "सृजते ह्यनिरुद्धोऽत्र प्रद्यम्नः पाति तत्कृतम्" इति लक्ष्मीतन्त्राद्युक्त एवार्थो व्यासेन प्रतिपादितः अविरोधश्च कल्पभेदेनेत्याशयः । "विष्वक्सेनो हिरः प्रभुः" इत्यपि पाठो दृश्यते ॥ "आदिकर्ता स भूतानामप्रमेयो हिरः प्रभुः" इति श्लोकार्धस्य केषुचित्कोशेषु पाठानुरोधेन "विष्वक्सेनो जनार्दन" इति पाठ उचितः । "आदिकर्ता स भूतानाम्" इत्यत्र भूतपदमण्डकारणसकलसमष्टितत्वपरम् । अत्र बीजञ्च पूर्वमेवोक्तम् । "तदण्डमभवद्धैमम्" इत्यतः पूर्वं "महाभूतादिवृत्तौजा" इति वचनैकार्थ्याच्च मनुवचनसच्छायानि च बहूनि वचनानि महाभारते उपलभ्यन्ते ।

लक्ष्म्यवतारनिद्रास्वरूपं हरिवंशोक्तम् ③

अप्रमेयः कालतो देशतो वस्तुतश्च परिच्छेत्तुमयोग्यः तथा च जगत्करणशोधिका श्रुतिः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति । हरिः - ब्रह्माणमिन्द्रं रुद्रञ्च यमं वरुणमेव च । प्रसह्य हरते यस्मात्तस्माद्धरिरिहोच्यते ॥

इत्युक्तरीत्या ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तलयकर्ता । यथा हि श्रूयते "विष्णुस्तदासीद्धरिरेव निष्कलः" इति इयं च श्रुतिर्वेदार्थसङ्ग्रहतात्पर्यदीपिकायामुदाहृता प्रभुः स्वामी अप्स्वेवेत्यादि 1निद्रायोगमुपागतः सृष्टिं चिन्तयन् अप्स्वेव शयनं चक्रे । इति योजना ।

▼ दीधितिः

1 निद्रास्वरूपञ्च विवृतं हरिवंशे प्रथमपर्वणि -

न तत्र विषयो वायोर्नेन्दोर्न च विवस्वतः । वपुषः पद्मनाभस्य स देशस्तेजसा वृतः ॥ ५० ॥ ६३ ॥ लोकानामन्तकालज्ञा कालीननयशालिनी । उपतस्थे महात्मानं निद्रा तं कालरूपिणी ॥ न तं वेद स्वयं ब्रह्मा नापि ब्रह्मर्षयोऽव्ययाः । विष्णोर्निद्रामयं योगं प्रविष्टं तमसावृतम् ॥ देवेष्वपि दधारैनां नान्यो नारायणादृते । सखी सर्वहरस्यैषा माया विष्णुशरीरजा ॥ ३२ ॥ सैषा नारायणमुखे दृष्टा कमललोचना ।

इति । अनन्तरं च -

स संक्षिप्य जलं सर्वं तिमिरौघं विदारयन् । उदतिष्ठद्धषीकेशश्श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ४३ ॥ इति ॥

तदेव लक्ष्मीतन्त्रोक्तम्

लक्ष्मीतन्त्रेपि —

गुणत्रयमधिष्ठात्री त्रिगुणा परिकीर्तिता । गुणैर्वैषम्यसर्गाय प्रवृत्ताहं सिसृक्षया ॥ ५५ ॥ भरामि त्वपरं रूपं तमसा केवलेन तु । सा मां प्रोवाच सम्भूता तामसी प्रमदोत्तमा ॥ नामकर्म च मे मातः देहि तुभ्यं नमोनमः । तामब्रुवं वरारोहां तामसीं प्रमदोत्तमाम् । ददामि तव नामानि यानि कर्माणि तानि ते । महाकाली महामाया महामारी क्षुधा क्रिया । निद्रा तृष्णा चैकवीरा कालरात्रिर्दुरत्यया । अवतारो हि यो विष्णोस्सिन्धुशायीति संज्ञितः । स्थिता परापरा तस्य चतुर्धा रूपमेयुषी ॥ ८ ॥ ३० ॥ लक्ष्मीर्निद्रा तथा प्रीतिर्विद्या चेति विभेदिनी । योगनिद्रा हरेरुक्ता या सा देवी दुरत्यया । महाकालीं तनुं विद्धि तां मां देवीं सनातनीम् । मधुकैटभनाशे च मोहितौ च तया तदा ॥ ९ ॥ १५ ॥ जघ्नाते वरलाभेन देवदेवेन विष्णुना । विश्वैश्वर्यादिकं सूक्तं दृष्टं तद्ब्रह्मणा सदा ॥ ९ ॥ १६ ॥ स्तुतये योगनिद्रा या मम देव्याः पुरन्दर ।

इति च --

आत्ममायामयीं दिव्यां योगनिद्रामुपागतः । आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन्मधुसूदनः ।

इति विष्णुपुराणविवरणे विष्णुचित्तार्यैः 'आत्ममायामयी मूलप्रकृत्यभिमानिदेवता' योगनिद्रां योगरूपां निद्रां एतद्विवृणोति आत्मानमिति"

(मो-ध) योगाशब्दस्य लक्ष्मीपरता (मू) चतुर्मुखोत्पत्तिप्रकारश्च®

निदाया योगं सम्बन्धं -

अप्सु व्योमगतश्श्रीमान्योगनिद्रामुपेयिवान् ।

इति पूर्वोदाहृत1मोक्षधर्मवचने योगनिद्रामिति कर्मधारयः ॥

▼ दीधितिः

1 इत्युक्त्या मोक्षधर्मवचनमप्येतत्समनार्थमेव[[??]] योगशब्दस्य लक्ष्मीपरत्वं लक्ष्मीतन्त्रे व्यक्तमुक्तम् -

> योजनाच्चैव योगाऽहं योगमाया च कीर्तिता। माया योग इति ज्ञेया ज्ञानयोजनतो नृणाम्॥

इति ।

जगत इत्यादि विबोधानन्तरमिति शेषः जगतः अण्डान्तर्वर्तिलोकानाम् चित्राम् आश्चर्यकरीम् बहुगुणोद्भवाम् बहुः बहुप्रकारः गुणानां सत्त्वरजस्तमसां उद्भवः आविर्भावः यस्यां ताम्, इति ॥ एतावता शक्त्यनुग्रहेण विष्णोश्शिरःप्राप्तिरिति भ्रमापनोदनाय 'नासदासीय' सूक्त 'विश्वकर्म' सूक्ताद्युक्तदिशा विद्यारूपशक्तिविशिष्टस्यैव सर्वस्मात्परत्वं निरूपितम् । अथ विश्वकर्मसूक्तायुक्तां चतुर्मुखसृष्टिं प्रदर्शयति -

तस्य चिन्तयतस्सृष्टिं महानात्मगुणस्स्मृतः ॥ २० ॥ अहङ्कारस्ततो जातो ब्रह्मा शुभचतुर्मुखः । हिरण्यगर्भो भगवान् सर्वलोकपितामहः ॥ २१ ॥ पद्मेऽनिरुद्धात्सम्भूतस्तदा पद्मनिभेक्षणः । सहस्रपत्रे द्युतिमानुपविष्टस्सनातनः ॥ २२ ॥ ददृशेऽद्भुतसङ्काशो लोकानापोमयान् (नाप्याययन्) प्रभुः । सत्त्वस्थः परमेष्ठी स ततो भूतगणान् सृजन् ॥ २३ ॥

१० अहंकारो जातो ब्रह्मा@

[[चतुर्मुखस्याहङ्कारनाम्नस् सप्रमाण-सम्प्रदाय-साधनम्]]

तस्येत्पादि - महान् महत्तत्त्वं, आत्मगुणः आत्मनः "आत्मभूतो वासुदेव" इत्यानुशासनिकोक्तरीत्या वासुदेवस्य, गुणः उपसर्जनभूतः, एतेन प्रकृतेस्स्वतन्त्राया एव परिणाम इति साङ्ख्यपक्षः प्रत्युक्तः स्मृत इति अनेन पूर्वं वासुदेवादेव महत्तत्त्वस्योत्पत्तिर्नानिरुद्धादिति सूचितम् । ततः अनन्तरम् अहङ्कारः अहङ्काराभिमानी उभयभावनत्वेनाहमभिमानाश्रयो वा । एतेन "आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधस्सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहं नामाभवत्" इत्यादिबृहदारण्यकश्रुतिरत्र मूलिमिति ज्ञापितम् ॥ अत्र व्यासार्याः -

अहमिति हिरण्यगर्भनाम अहमभिमानाश्रयव्यष्टिपुरुषाणां प्रथमत्वाद्धिरण्यगर्भस्य । तथा मोक्षधर्मे चतुर्मुखस्य अहङ्कारसंज्ञत्वमुक्तम् ॥

मया सृष्टः पुरा ब्रह्मा मद्यज्ञमयज(मकरो)त्स्वयम् । ततस्तस्मै वरान्प्रीतो ददावहमनुत्तमान् । मत्पुत्रत्वञ्च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च । अहङ्कारकृतञ्चैव तथा पर्यायवाचकम् ॥

इति । तत्रैव भृगुभरद्वाजसंवादे -

तस्मात्पद्मात्समभवद्ब्रह्मा वेदमयो निधिः । अहङ्कार इति ख्यातस्सर्वभूतात्मभूतकृत् । ब्रह्मा च स महातेजा य एते पञ्च धातवः ।

इति चोक्तत्वात् । तस्मादयमर्थः अहमस्मि अहं स्यां चतुर्मुखस्स्यामिति सङ्कल्पवाक्यं व्याहरत् ततोहंनामा चतुर्मुखोऽभवदित्यर्थ

इत्यादिना श्रुत्यर्थं निरणैषुः । उक्तञ्च नृसिंहतापतीये - "सर्वाहंमानी हिरण्यगर्भ" इति ।

वेदचतुष्टयानुरूपं चतुर्मुखत्वं हिरण्यगर्भशब्दार्थश्च®

शुभचतुर्मुखः शुभानि ऋगादिचतुर्वेदोच्चारणानुकूलतया कल्याणानि चत्वारि मुखानि यस्य सः अनेन "वेदेन रूपे व्यकरोत्सतासती प्रजापतिः" ॥

> नामरूपञ्च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धा 'ततो भूतगणान् सृजन्' इति वक्ष्यमाणसृष्टिसामग्री पूर्णेति सूचितम् । स तु चतुर्मुख इति क्वचित्पाठः तत्पाठेऽप्ययमर्थ उपस्कार्यः मुखचतुष्टयस्य वेदचतुष्टययुक्तत्वमुक्तं विष्णुधर्मोत्तरे -

> ब्रह्मा देववरो ज्ञेयस्सर्वभूतनमस्कृतः ॥ ३ ॥ ४६ ॥ ७ ॥ ऋग्वेदः पूर्ववदनं यजुर्वेदस्तु दक्षिणम् । पश्चिमं सामवेदस्स्यादाथर्वणमथोत्तरम् ॥

इति । 1हिरण्यगर्भः

हिरण्मयमण्डं तस्य गर्भ इव तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा

इति मनूक्तेरिति सुधायां हिरण्यगर्भशब्दो विवृतः ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र गर्भपदप्रयोगेण गर्भोपनिषदि "यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये नारायणिम" त्यादिना "जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृश्य तदा न स्मरित जन्ममरणं न च कर्म शुभाशुभम्" इत्यन्तेनोक्ता जननात्पूर्वं पूर्वजात्यादिस्मरणाद्यवस्था जननानन्तरं तद्विसजातीयावस्था च सर्वजीवसाधारणी चतुर्मुखस्यापि निश्शेषं न परित्याज्येति सूचितम् । तदाह पराशरः -

> द्विविधा भावना भूप विश्वमेतन्निबोधत । ब्रह्माख्या कर्मसंज्ञा च तथा चैवोभयात्मिका ॥ ६ ॥ ७ । ४८ ॥ हिरण्यगर्भादिषु च ब्रह्मकर्मात्मिका द्विधा । बोधाधिकारयुक्तेषु विद्यते भावभावना ॥ ५१ ॥

इति ।

हिरण्यगर्भो भगवान्वासवोऽथ प्रजापतिः । मरुतो वसवो रुद्रा भास्करास्तारका ग्रहाः ॥ ५६ ॥ प्रधानादिविशेषान्तं चेतनाचेतनात्मकम् । मूर्तमेतद्धरे रूपं भावनात्रितयात्मकम् ॥ ५६ ॥

इति च।

हिरण्यगर्भस्योभयभावनता ③

भगवान् ज्ञानशक्त्यादिषाङ्गुण्यपूर्णवासुदेवात्मकः, वासुदेव एव वा भगवच्छब्दार्थः सामानाधिकरण्यमपृथक्सिद्धिनिबन्धनम् । उक्तञ्च बृहन्नारदीये -

> वासुदेवात्मकं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् । आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तस्मादन्यन्न विद्यते । इति ।

सर्वजीवसाधारणस्य वासुदेवात्मकत्वस्य चतुर्मुखे विशिष्य कथनम् "या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा" इति श्रुत्युक्तमध्यमशरीरत्वबोधनमुखेन पौष्कराद्युक्तगौणप्रादुर्भावत्वसूचनार्थम् ॥ यद्वा भगवान्

> उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्याञ्च

इत्युक्तज्ञानविशेषवान्, द्युतिमानिति क्वचित्पाठः तत्पाठे द्युतिमान् कान्तिमान् अनेन सर्वचेतनसमष्टिभरितविग्रहवत्त्वमुक्तं भवति । सर्वलोकपितामहः सर्वलोकानां पितरः मरीच्यादयः तेषां पिता "पितृव्यमातुलमातामहपितामहा" इति निपातनात्साधुः । अनेन चतुर्मुखेन मरीच्यादिद्वारा क्रियमाणा सृष्टिरुक्ता । एतावता

ता इमा आपस्तद्धिरण्मयमण्डमभवत् । तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखो जायत

इति महोपनिषदर्थस्संक्षिप्तः ॥ अथ

- आपो वा इदमासंत्सलिलमेव स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत् ।
- यन्नाभिपद्मादभवन्महात्मा प्रजापतिः
- अजस्य नाभावध्येकम् विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देवः

इत्यादिश्रुत्यभिप्रायेणाह पद्येऽनिरुद्धात्सम्भूत इत्यादि, पद्मनिभेक्षण इति अनेन सृष्ट्यौपयिकेक्षणसम्पत्तिस्सूचिता ।

तस्य कर्ममूलकदेवत्वहेतुसत्त्वस्थता ③

सहस्रपत्रे इत्यादि सहस्रपत्रे सनातन उपविष्ट इति योजना, एतेन भगवन्नाभिकमल एव चतुर्मुखेन सृष्ट्यादिकं कृतमिति सूचितम् । व्यक्तमेतद्धरिवंशादौ । ददृशे इत्यादि, प्रभुस्सत्त्वस्थस्सपरमेष्ठी तत आपोमयान् लोकान् भूतगणान् सृजन् अद्भृतसङ्काशो ददृशे इति योजना सत्त्वस्थः1 सत्वगुणयुक्ते तन्निमित्ते वा देवशरीरे तिष्ठतीति तथोक्तः "सुपि स्थः" इति कः देवोत्तमः देवजातीय इति यावत् ॥

▼ दीधितिः

1 यथोक्तं मनुस्मृतौ -

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजस्स्मृतम् । एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ १२ ॥ २६ ॥

इत्युपक्रम्य -

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः । अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च

इत्यादिना तन्निमित्तकर्माण्युक्त्वा -

येन यांस्तु गुणेनैतान् संसारान् प्रतिपद्यते । तान् समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ २९ ॥ देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः । तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ इति ।

तन्निमित्तकशरीरभेदानभिधाय तत्राप्यधममध्यमोत्तमभेदकथनावसरे —

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च । उत्तमां सात्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥ एष सर्वस्समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः । त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नस्संसारस्सार्वभौतिकः ॥

इति ॥ एतेन मैत्रायणीयश्रुत्यादौ रजोगुणाधिष्ठातृत्वेनोक्तस्य चतुर्मुखस्य कथं सत्त्वस्थतेति शङ्काऽपाकृता ॥

परमेष्ठिभूतशब्दद्वयार्थः ③

परमेष्ठी परमे उत्कृष्टे भगवन्नाभिपद्मे तिष्ठतीति तथोक्तः "परमेस्थः कित्" इत्यौणादिक इनिः । आपोमयान् लोकानित्यत्र लोकशब्दो जनिमत्प्राणिपरः आपोमयत्वश्च प्रलयकालिकम् एतच्च पूर्वोदाहृतविष्णुधर्मोत्तरवचनादौ स्पष्टम् । भूतगणानिति भूतशब्दः पाञ्चभौतिकस्थावरजङ्गमशरीरवत्परः भृगुभरद्वाजसंवादादौ चैतत्पूर्वमेव स्पष्टमुक्तम् । अत्राप्युपक्रमे -

यत्किञ्चिदिह लोके वै देहबद्धं विशाम्पते । सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिजैः ॥

इत्यनेन तदेव स्मारितम् ॥

११ वेदापहरण-दुःखम्@

[[मूले वेदापहरणेन चतुर्मुखस्य दुःखम् अनिरुद्धाय तन्निवेदनं च]]

पूर्वमेव च पद्मस्य पत्रे सूर्यांशु (ग्नि) सप्रभे । नारायण(णा)कृतौ बिन्दू अपामास्तां गुणोत्तरौ ॥ तावपश्यत्स भगवाननादिनिधनोऽच्युतः । एकस्तत्राभवद्विन्दुर्मध्वाभोरुचि(धि)रप्रभः ॥ २५ ॥ स तामसो (नामतो) मधुर्जातस्तदा नारायणाज्ञया । कठिनस्त्वपरो बिन्दुः कैटभो राजसस्तु सः ॥ २६ ॥ तावभ्यधावतां श्रेष्ठौ तमोरज(जो)गुणान्वितौ । बलवन्तौ गदाहस्तौ पद्मनालानुसारिणौ ॥ २७ ॥ ददृशाते ऽरविन्दस्थं ब्रह्माणमिनप्रभम् । सृजन्तं प्रथमं वेदांश्चतुरश्चारुविग्रहान् ॥ २८ ॥ ततो विग्रहवन्तस्तान्वेदान् दृष्ट्वाऽसुरोत्तमौ । सहसा जगृहतुर्वेदान् ब्रहणः पश्यतस्तदा ॥ २९ ॥ अथ तौ दानवश्रेष्ठौ वेदान् गृह्य सनातनान् । रसां विविशतुस्तूर्णमुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३० ॥

ततो हतेषु वेदेषु ब्रह्मा कश्मलमाविशत् ।
ततो वचनमीशानं प्राह वेदैर्विना कृतः ॥ ३१ ॥
वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम् ।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्मचोत्तर[म]म् ॥
मम वेदा हतास्सर्वे दानवाभ्यां बलादितः ।
अन्धकारा हि मे लोका जाता वेदैर्विना कृताः ॥ ३३ ॥
वेदानृते हि किङ्कुर्यां लोकानां [न्वै] सृष्टि [स्रष्टु]मृत्तमाम् [द्यतः] ।
अहो बतमहद्दुःखं वेदनाशनजं मम ॥ ३४ ॥
प्राप्तं दुनोति हृदयं तीव्रशोकपरायणम् ।
को हि शोकार्णवे मग्रं मामितोऽद्य समुद्धरेत् ॥ ३५ ॥
वेदांस्तांश्चानयेन्नष्टान् कस्य चाहं प्रियो भवे ।
इत्येवं भाषमाणस्य ब्रह्मणो नृपसत्तम ॥ ३६ ॥
हरेस्तोत्रार्थमुद्भृता बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ।
ततो जगौ परं जप्यं साञ्जलिप्रग्रहः प्रभुः ॥ ३७ ॥

१२ ब्रह्मकृतानिरुद्धस्तुतिः @

ब्रह्मोवाच -

नमस्ते ब्रह्महृदय नमस्ते मम पूर्वज । लोकाद्य भुवनश्रेष्ठ साङ्ख्ययोगनिधे प्रभो ॥ ३८ ॥ व्यक्ताव्यक्तकराचिन्त्यक्षेमं पन्थानमास्थित । विश्वभुक्सर्वभूतानामन्तरात्मन्नयोनिज ॥ ३९ ॥ अहं प्रसादजस्तुभ्यं लोकधाम स्वयम्भवः । त्वत्तो मे मानसं जन्म प्रथमं द्विजपूजितम् ॥ ४० ॥ चाक्षुषं वै द्वितीयं मे जन्म चासीत्पुरातनम् । त्वत्प्रसादात्तु मे जन्म तृतीयं वाचिकं महत् ॥ ४१ ॥ त्वत्तश्श्रवणजञ्चापि चतुर्थं जन्म मे विभो । नासिक्यञ्चापि मे जन्म त्वत्तः पञ्चममुच्यते ॥ ४२ ॥ अण्डजञ्चापि मे जन्म त्वत्तष्षष्ठं विनिर्मितम् । इदञ्च सप्तमं जन्म पद्मजन्मेति वै प्रभो ॥ ४३ ॥ सर्गे सर्गेप्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जित । प्रथमः पुण्डरीकाक्ष प्रधानगुणकल्पितः ॥ ४४ ॥ त्वमीश्वरस्वभावश्च भूतानां त्वं प्रभावन । त्वया विनिर्मितोऽहं वै वेदचक्षुर्वयोऽतिग ॥ ४५ ॥ ते मे वेदा हृताश्चक्षुरन्धो जातोऽस्मि जागृहि । ददस्व चक्षुंषि मम प्रियोऽहं ते प्रियोऽसि मे ॥ ४६ ॥ एवं स्तुतस्स भगवान् पुरुषस्सर्वतोमुखः । जहौ निद्रामथ तदा वेदकार्यार्थमुद्यतः ॥ ४७ ॥

मूलविवरणम् 3

सूर्याशुसप्रभे इति प्रभया सह सप्रभं तस्मिन् तुल्ययोगे बहुव्रीहिः "वोपसर्जनस्ये"ति सहस्य सः । गुणोत्तरौ रजस्तमोगुणाभ्यां श्रेष्ठौ; सः श्रुत्यादिष्वनवधिकमहिमवत्त्वेन प्रसिद्धः भगवान् षाड्गुण्यपरिपूर्णः अनादिनिधनः आद्यन्तावधिशून्यः अच्युतः -

च्यवनोत्पत्तियुक्तेषु ब्रह्मेन्द्रवरुणादिषु । यस्मान्न च्यवसे स्थानात्तस्मात्सङ्कीर्त्यसेऽच्युतः ॥

इत्युक्तप्रकारेण चतुर्मुखस्य कर्ममूलोत्पत्तिकालात्प्राक् स्वेच्छयाऽनिरुद्धिदिव्यमङ्गलविग्रहपरिग्रहेऽपि च्युतिरहितः, च्यवनोत्पत्तियुक्तेष्वित्यत्र च्यवनोत्पत्ती कर्ममूले विवक्षिते । मध्वाभः मधुनः क्षौद्रस्याभेवाभा यस्य सः 'स तामस' इति 'स नामत' इति क्वचित्पाठः 'कैटभो राजसस्तु स' इत्यनुरोधेन 'स तामसो मधु'रित्येव पाठो युक्तः । 'तमोरजगुणान्विताविति' अत्र रजश्शब्दोऽदन्तः यथोक्तं सुधायां रजश्शब्दविवरणावसरे अदन्तोऽपि 'रजोऽयं रजसा सार्धं स्त्रीपुष्पगुणधूलिषु, इत्यजयः' इति । तमोरजोगुणान्विताविति पाठस्तु छन्दोभङ्गाद्धेयः । तत इत्यादि । ईशानमिति एतेन ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते" इत्यथर्विशिखायां ब्रह्मादिजनकतया प्रस्तुत ईशानोऽनिरुद्ध इति सूचितम् । उक्तञ्च पूर्वमेव नारदं प्रति वासुदेवेन ॥ "सोऽनिरुद्धस्स ईशानो व्यक्तिस्सा सर्वकर्मसु" इति । वेदा इत्यादि चक्षुः स्रक्ष्यमाणवस्तुज्ञानसाधनम् बलं सृष्ट्यनुगुणशक्तिसाधनम् धाम सर्गप्रयोजकतेजस्साधनम् उत्तमं ब्रह्म परब्रह्म ज्ञानसाधनम् अतस्त्वां स्तोतुमप्यहं नेश इति भावः । प्राप्तम् अर्हार्थे क्तः सृष्टिसम्बन्धयोग्यमित्यर्थः ॥

अञ्जलिवैभवम् ③

यद्वा आदिकर्मणि क्तः । सर्गारम्भे प्रवृत्तमित्यर्थः । दुनोति "हृदयं तापयति टु दु उपतापे" इति स्वादिः, जप्यं श्रेयोर्थिभिः पुरुषैरनुसन्धातुं योग्यं साञ्जलिप्रग्रह इति अञ्जलेः युतहस्तयोः प्रकर्षेण 1मनोवाग्व्यापारसंवलनेन ग्रहः उपादानं तेन सह वर्तमान इत्यर्थः ॥

▼ दीधितिः

1 अत्र मनोवाक्कायव्यापारत्रयकथनेन भरद्वाजाहिर्बुध्न्याद्युक्तप्रकारेण पूर्णनमनं प्रपत्तिरूपं चतुर्मुखेनानुष्ठितमित्यवगम्यते । अत्राञ्जलिपदप्रयोगेण -

> अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देव प्रसादिनी । कृतापराधस्य हिते नान्यत्पश्याम्यहं क्षमम् । अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा लक्ष्मणस्य प्रसादनात् ॥ सोऽञ्जलिं शिरसा कृत्वा वाक्यमाह वनस्पतिम् । शरणं हि गतोऽस्म्यद्य देवतां त्विह वासिनीम् ॥ बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम् । न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप ॥

इत्याद्युक्ताञ्जलिवैभवस्सूचितः । नारायणाख्यानेप्येकान्तिनामञ्जलिसम्बन्ध उक्तः ।

श्वेतांश्चन्द्रप्रतीकाशांत्सर्वलक्षणलिक्षतान् । नित्याञ्जलिपुटान् ब्रह्म जपतः प्रागुदङ्खुखान् ॥ मानसो नाम स जपो जप्यते तैर्महात्मिभेः ॥ ३४४ - ४० ॥ नारदः प्राञ्जलिर्भूत्वा नारायणपरायणः । जजाप विधिवन्मन्त्रान्नारायणसमाश्रितान् ॥ दिव्यवर्षसहस्रं हि नरनारायणाश्रमे ॥ ३५४-२७ ॥

इति । अत्र स्तुत्युपसंहरे "प्रियोऽहं ते प्रियोऽसि मे" इत्युक्त्या ॥ "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" इति गीताप्रत्यभिज्ञापनमुखेन स्वस्य ज्ञानित्वमाविष्कृतम् ॥

नमश्शब्दस्य शरणागतिपरता ③

जितन्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन । नमस्तेऽस्तु हृषीकेष महापुरुष पूर्वज । इतिशब्दश्श्रुतोऽस्माभिश्शिक्षाक्षरसमस्वि[[??]]तः ॥ ३४४-४९ ॥

इति श्वेतद्वीपवासिभिरनुसंहितऋग्वेदाखिलमन्त्रप्रकारेण नमस्ते इत्येव चतुर्मुखो जगादेत्याह "ब्रह्मोवाच नमस्ते" इत्यादिना । नमस्ते इत्यत्र 1 नमश्शब्दश्शरणागतिपरः ॥

▼ दीधितिः

1 अरण्यपर्वणि

शरणं प्रति देवानां प्राप्तकालममन्यत । वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा । देवेभ्यः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ॥ ३१५ - ११ ॥

इति दमयन्तीशरणागतौ नमश्शब्दप्रयोगात् एवं तत्रैव -

यस्स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः । स एष पुरुषव्याघ्रस्सम्बन्धी ते जनार्दनः ॥ १९२ ॥ ५२ ॥

इत्यारभ्य ।

गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं पुरुषर्षभाः ।

इति मार्कण्डेयेन युधिष्ठिरं प्रत्युपदेशसमनन्तरम् -

एवमुक्तास्त्रयुः पार्था यमौ च भरतर्षभ । द्रौपद्या सहितास्सर्वे नमु[[म??]]श्चक़ुर्जनार्दनम् ॥ ५२ ॥ २ ॥

इत्यत्र नमश्चक्रुरित्यनेन शरणागत्यनुष्ठानकथनाच्च ॥

ब्रह्महृदय "अहं ते हृदयं राम" इति रामायणे चतुर्मुखवचनवदत्रापि "पुत्रो वै हृदयम्" इति श्रुत्यनुरोधेन हृदयशब्दः पुत्रवचनः ब्रह्मा हृदयं यस्य स इति बहुव्रीहिः, वेदतात्पर्यविषय इति वा त्वदन्यः न कोऽपि वेदानुद्धर्तुमृत्सहते नापीष्टे, इति भावः, एकं नमस्ते इति भरसमर्पणपरम्" अपरञ्च निर्भरत्वानुसन्धानपरम् इति सारशास्त्रनिष्णातानां सुगमम् ।

भगवतः अवतारस्य स्वेच्छाधीनता सर्वतोमुखशब्दार्थश्च③

मम पूर्वजेति मत्तः पूर्वं मदर्थमवतीर्य परमकारुण्येन मत्सृष्ट्यादौ प्रयतमानस्य वेदोद्धरणादौ कियानिव भारस्स्यादित्याशयः । पूर्वजेत्यत्र जिनर्न कर्मकृता विविक्षता किन्तु स्वेच्छाधीना । एतच्च अत्र पूर्वम् 'अच्युत, इत्यनेन उत्तरत्र अयोनिज 'त्वमीश्वरस्वभावश्च, 'ऐश्वरेण स योगेन द्वितीयां तनुमास्थितः, 'निष्कल्मषेण सत्त्वेन,

यां यामिच्छेत्तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौ क्वचित् । तां तां कुर्याद्विकुर्वाणस्स्वयमात्मानमात्मना ॥

इत्यादिभिश्च सिद्ध्यति । एवम् ।

शुभाशुभैः कर्मभियों न लिप्यति कदाचन ।

इति नारदं प्रति वासुदेववचनादिमूलभूताभिः "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" "एष आत्मा अपहतपाप्मा" "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" "स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान्" इत्यादिश्रुतिभिश्च । अतस्स्वेच्छयाऽवताररूपैव जनिरिति सिद्धम् । अहमित्यादि स्वयम्भुवः तव प्रसादजः लोकधाम अहं तुभ्यं त्वच्छेषभूत इत्यर्थः स्वयम्प्रभुरित्यपि क्वचित्पाठः सर्ग इत्यादि प्रधानगुणेन रजसा कल्पितः प्रथमः पुत्रः पुण्डरीकाक्षेति सम्बुद्धिपाठ एव युक्तः सर्वतोमुख इति सर्वतोमुखशब्दार्थश्चेत्थमुक्तो भट्टपराशरपादैः "तेषामनेनैव मुखेन सुग्रहः नान्येन नियमं निर्धूय येन केनापि व्याजेन सुप्रवेशत्वात् सर्वतोमुखः यथा "आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणागतः" इत्यादीनि रक्ष्यापेक्षाविगमदशायां स्वान्तरङ्गभूतिनद्राविवशमुखोऽपि चतुर्मुखशरणागतिसमनन्तरमेव बहिरङ्गरक्ष्यभूतचतुर्मुखपरतन्त्रः परमप्रियामिप निद्रां जहाविति भावः । वेदकार्यार्थं वेदाहरणकार्यार्थमृत्थितः उद्यत इत्यपि पाठः ॥

हयशिरोऽवतारस्यावतरणम् ③

एतावता नासदासीयसूक्तविश्वकर्मसूक्ताद्युक्तदिशा चतुर्मुखजन्मपर्यन्तमुक्तम् । एवं 'प्रजापतिः प्रजास्सृष्ट्वा व्यस्रंसत स च्छन्दोभिरात्मानं समदधात्' इत्यैतरेयोपनिषदभिप्रेतं मधुकैटभाभ्यां वेदानामपहरणं तन्मूलकं चतुर्मुखस्य दुःखं

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रसादं मुमुक्षुर्वे शरणमहं प्रपद्ये

इति श्वेताश्वतरश्रुत्यभिप्रेतं चतुर्मुखकर्तृकशरणवरणं चोक्तम् ॥ अथ (तै. ब्रा.) नासदासीयसूक्तानन्तरं प्रातरग्निमित्याद्यनुवाकं1'

▼ दीधितिः

1 आथर्वणकौशिकसूत्रे अस्यानुवाकस्य मेधाजननार्थकर्मणि विनियोगस्याभिधानेन 'प्रातरग्नि'मित्यादिहयग्रीवमनुं जपेत् इति पराशरसंहितावचनानुसारेण च अयमनुवाको हयशिरःपर इति भावः ॥ 'आदि2द्गन्धर्वोऽभवद्वितीयः'

▼ दीधितिः

2 मत्स्यकूर्मवराहश्वसिंहरूपादिभिस्स्थितिम् । चकार जगतो योऽजस्सोद्य मामालपिष्यति ॥

इति विष्णुपुराणे ५-१७. पराशरेण हयशिरसः अश्वशब्देन निर्देशाद्गन्धर्वशब्दः हयशिरःपर इति भावः ॥

इति उदाहृततैत्तिरीयविश्वकर्मसूक्तवाक्यं चानुसृत्य3

▼ दीधितिः

3 पूर्वोत्तरवाक्यानुसारादपि अस्य हयशिरःपरत्वं स्थापयिष्यते ॥

ऐतरेय4श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्ययोरपि हयशिरोऽवतारो विवक्षित इत्यभिप्रेत्य तदवतारं निरूपयति ऐश्वर्येणेत्यादिना ॥

▼ दीधितिः

4 पूर्वम् एको हँस, इति मन्त्रे विष्णुहयादिवाचिहंसशब्दात् 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' इति सर्वविद्यत्वोक्तेः उत्तरत्र 'ब्रह्मा ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्' इत्यत्र 'श्वेताश्व'शब्दाच्च 'यो ब्रह्माणं विदधादि पूर्व'मिति मन्त्रेऽपि श्वेताश्वो हयशिरा विवक्षित इति भावः ॥

१३ हयशिरसोऽवतारः 2

[[तद्विग्रहस्याप्राकृतत्वं च]]

ऐश्वर्ये(रे)ण प्र(स)योगेन द्वितीयां तनुमास्थितः । सुनासिकेन कायेन भूत्वा चन्द्रप्रभस्तदा ॥ कृत्वा हयशिरश्शुभ्रं वेदानामालयं प्रभुः ।

ऐश्वर्येणेत्यादि ऐश्वर्यं नियमनोपश्लिष्टं स्वामित्वं प्रयोगेन प्रकृष्टो योगस्सम्बन्धो यस्य तत्प्रयोगं तेन प्रकृष्टसम्बन्धवतेत्यर्थः, ऐश्वर्येणेत्यत्र वैशिष्ट्ये तृतीया यत् विभवावतारेष्विप नित्यसम्बद्धमैश्वर्यं तद्धयशरीरपरिग्रहेऽपि न च्यवत इति भावः, यद्वा हेतौ तृतीया हयशिरश्शरीरपरिग्रहे नित्यसम्बद्धमैश्वर्यमेव मूलं नान्यत्कर्मादिकमपीति भावः । अथवा ऐश्वर्यम् -

कर्तृत्वं नाम यत्तस्य स्वातन्त्र्यपरिबृंहितम् । ऐश्वर्यं नाम तत्प्रोक्तं गृणतत्त्वार्थचिन्तकैः ॥ इत्यहिर्बुध्न्यादिनिरुक्तं स्वतन्त्रकर्तृत्वमेवात्र विवक्षितं एतेन हयशिरःप्राप्तौ शक्त्यनुग्रहो मूलिमत्युत्प्रेक्षयन्तिशिक्षिताः ऐश्वरेण सयोगेनेत्यिप क्वचित्पाठः अस्मिन् पाठे योगपदं 'योगस्सन्नहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इति कोशात् वपुःपरं तृतीया चाभेदे अप्राकृतवासुदेवविग्रहिभन्नां तनुमित्यर्थः । यद्वा उपादानहेतौ तृतीया तदर्थश्च अस्थितः इत्यत्र स्थाधात्वर्थेनान्वेति अतश्च हयशिरोविग्रहस्याप्राकृतत्वमुक्तं भवति इदञ्च "दिदृक्षुः' (६६) 'विवस्वते' (३८) इत्युदाहृतवचनैरिप व्यञ्जितम् । द्वितीयाम् -

तद्विश्वभावं स[[सं??]]ज्ञान्तं पौरुषीं तनुमाश्रितम् ।

इति पूर्वोक्तव्यूहविग्रहापेक्षया द्वितीयां विभवरूपामित्यर्थः ।

द्वितीयाम्, तनुम् इति पदद्वयेन विश्वकर्मसक्तू[[??]]योर्हयशिरःपरत्वज्ञापनम्®

तनुमास्थित इति -

देशकालाध्वभावानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः । सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते ॥

इत्युक्तदिशाऽत्र सकर्मकता, विवेचितञ्चैतदस्माभिरीशावास्यभाष्यविवरणे । अत्र 'द्वितीया'मित्यनेन तैत्तिरीयप्रथमविश्वकर्मसूक्ते

> तिमद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवास्समगच्छन्ति विश्वे । अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्निदं भुवनमधिश्रितम् । विश्वकर्मा ह्यजिनष्ट देव आदिद्गन्धर्वो अभवद्द्वितीयः । तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा ।

इत्यत्र "आदिद्गन्धर्वो अभवद्वितीय" इति श्रुतिर्मूलभूता प्रत्यभिज्ञापिता । गन्धर्वपदस्याश्वार्थकतया अश्वशिरःपरत्वम् । अत एव -

> मत्स्यकूर्मवराहाश्वसिंहरूपादिभिस्थितिम् । चकार जगतो योऽजस्सोऽद्य मामालपिष्यति ॥ ५-१७-१० ॥

इति विष्णुपुराणे 'मावाकियामैयाय्मीनाकिमानिडमाम्' इति श्रीमुखसूक्ते च हयवाचिशब्देन हयशिरसो निर्देशस्सङ्गच्छते । एवं तनुमित्यनेन द्वितीयविश्वकर्मसूक्ते

> या ते धामनि परमाणि यावमायामध्यमाविश्वकर्मन्नुतेमा । शिक्षा सखिभ्यो हविषिस्वधावस्स्वयं यजस्व तनुवं जुषाणः । वाचस्पतिं विशकर्माणमूतये

इत्यादेर्मूलता ज्ञापिता, सूक्तद्वयघटकपदद्वयप्रयोगेण तैत्तिरीये "इन्द्रो वृत्रमहन् तं वृत्रो हतः" । ५-४-५ इत्यारभ्य "वैश्वकर्मणेन पाप्मनो निरमुच्यत" "वैश्वकर्मणे न पाप्मनो निर्मुच्यते" इति विश्वकर्मसूक्तसाध्यहोमस्य इन्द्रस्य वृत्रवधानन्तरजातब्रह्महत्याजनितपापापनोदनार्थत्वमभिधाय

यङ्कामयेत ताज[[??]]क्पाप्मनो निर्मुच्येतेति सर्वाणि तस्यानुद्धृत्य जुहुयात्ताजगेव पाप्मनो निर्मुच्यते

तनुशब्देन भगवद्विग्रहे कठश्रुतेर्मानतो बाधनम् ③

सं (५-४-५) इति एकहोमसाधनत्वेनाम्नातयोस्सूक्तयोरुभयोरिप गन्धर्ववाचस्पतिशब्दबोध्यहयशिरोरूपैकार्थपरत्विमित बोधितम् । एवं "पौरुषीं तनुं" "ऐश्वरेण स योगेन द्वितीयां तनुम्" "यां यामिच्छेत्तनुं देव" इति आदिमध्यावसानेषु 1 कठमुण्डकमैत्रायणीयादिश्रुतिप्रसिद्धतनुशब्दप्रयोगः विग्रहस्योपासनार्थत्वकर्मकृतत्वादिशङ्कामुन्मूलयति ॥

▼ दीधिति:

1 कठोपनिषदि "सर्वे वेदाः, तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" इति प्राप्यस्वरूपप्रतिवचनमुपक्रम्य "नायमात्मा, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्" इति दिव्यमङ्गलविग्रहस्य प्राप्यत्वम् "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इति स्थानस्य प्राप्यत्वञ्चाभिधाय "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गितः" इति परवासुदेवस्य परमप्राप्यत्वमुपसंहृतम् । अत्र 'तद्विष्णोः परमं पद' मित्यत्र पदशब्दस्य स्थानार्थकत्वं "विशेषणाच्च" इति सूत्रे वेदान्तसारे "यदण्डमण्डान्तर" इति स्तोत्रभाष्ये च स्पष्टम् । ततश्च अप्राकृतदेशे दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टः परवासुदेव एव प्राप्यः न ब्रह्मस्वरूपमात्रम्, इति श्रुत्यर्थनिष्कर्षः कृतः । "भक्त्या त्वनन्यया शक्य" इत्येकादशाध्यायगीतातात्पर्यचन्द्रिकायाम् "अत्र तनुशब्दस्य विग्रहपरत्वे स्वरूपादिकं तत्परत्वे च विग्रहादिकमर्थलब्धम्" इत्युक्तपक्षद्वये प्रथमपक्ष एवाचार्यपादानां नैर्भर्यम्, स्तोत्रभाष्ये "तद्विष्णोः परमं पद"मित्यत्र पदशब्दस्य शब्दस्वारस्यानुरोधेन स्थानार्थकताया आचार्यपादिवविक्षितत्वेन तनुशब्दस्वारस्यानुरोधस्यापि न्याय्यत्वात् । स्थानस्य प्राप्यताग्राहकप्रमाणान्तरवत् दिव्यमङ्गलविग्रहस्यापि प्राप्यताग्राहकप्रमाणानां सत्त्वात्, "पुरुषान्न परं किञ्चिद"त्यादिना स्वरूपस्य प्राप्यतायाः पृथगुक्तेः "विवृणुते तनूँ स्वामि" ति आत्मीयवाचकस्त्रीलिङ्गपदस्वारस्याच्य, अन्यथा स्वशब्दनैकेनैवोपपत्तौ तनुशब्दवैयर्थ्याच्य ।

मुण्डकमैत्रायणीययोश्च

एवम् "उपपत्तेश्च" इति सूत्रश्रुतप्रकाशिकायां "विवृणुते तनूँ स्वामि" त्यनेन प्रापकत्वं प्राप्यत्वञ्च गम्यते, इति सूक्तावपीत्थमेवार्थोऽनुसन्धेयः । एवं मुण्डकेऽपि

- स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् । उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः
- नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्
- तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्
- स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति

इत्यत्र आदिमध्यावसानपर्यालोचनायां तनुशब्दस्य यथोक्त एवार्थः । एवं मैत्रायणीयेऽपि चतुर्थे

अग्निर्वायुरादित्यः कालो यः प्राणोऽन्नं ब्रह्म रुद्रो विष्णुरित्येकेऽन्यमभिध्यायन्यैकेऽन्यम् । श्रेयः कतमो यस्सोऽस्माकं ब्रूहीति । तान् होवाचेति ब्रह्मणो वा वैता अग्न्यास्तनवः परस्यामृतस्याशरीरस्य तस्यैव लोके प्रतिमोदतीह यो यस्यानुषक्त इत्येव ह्याह ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वं या अस्या अग्र्यास्तनवस्ता अभिध्यायेदर्च्चयेन्निहनुयाच्चातस्ताभिस्सहैवोपर्युपरि लोकेषु चरित अथ कृत्स्त्रक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य

इत्यत्र पुरुषपदार्थपरवासुदेवशरीरस्य प्रलयासंस्पर्शित्वमुखेन प्राप्यत्वं व्यञ्जितम् । तथा षष्ठे

विद्युदिवाभ्रार्चिषः परमे व्योमन् । तेऽर्चिषो वै यशस आश्रयवशाज्जटाभिरूपा इव कृष्णवर्त्मनः । द्वे वाव खल्वेते ब्रह्मज्योतिषो रूपके शान्तमेकं समृद्धञ्चैकमथ यच्छान्तं तस्याधारं खमथयत्समृद्धमिदं तस्यान्नम्

इति परव्यूहरूपभेद उक्तः

एतद्वाव तत्स्वरूपं नभसः खेन्तर्भूतस्य यत्परं तेजः

इत्युपक्रम्य -

त्रिष्वेकपाच्चरेद्ब्रह्म त्रिपाच्चरति चोत्तरे । सत्यानृतोपभोगार्थो द्वैतीभावो महात्मनः ॥

इत्यत्र परस्य व्यूहात्मना द्वैतीभावस्य फलमप्युपसंहृतम् । मैत्रायणीये चतुर्थे "कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य" इति श्रुतितात्पर्यं

नारायणाख्यानेन वासुदेवविग्रहस्य नित्यतासाधनम्

जगत्प्रतिष्ठा देवर्ष्ये पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।

इत्युपक्रम्य -

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते । नास्ते तस्मात्परतरः पुरुषाद्वै सनातनात् । नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् । ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ।

इत्यन्तेन व्यासो विशदीचकार । तदुक्तमाचार्यपादैस्तत्त्वमुक्ताकलापे -

नित्यत्वं वासुदेवाह्वयवपुषि जगौ मोक्षधर्मे मुनीन्द्रः ।

ना. स. ६५ । इति, ना. स. ६१ । श्लो. व्या. सर्वार्थसिद्धौ च एतदेव वचनं प्रस्तुत्य

भूतशब्दोऽत्र कार्यांशपरः, अत एव जीवलयोक्तिरौपचारिकी, वासुदेवशब्दोऽत्र परविग्रहविशिष्टपरः, स्वरूपनित्यत्वस्य जीवेष्वपि समत्वात्, विशिष्टलयस्य वासुदेवे विश्वविशिष्टेऽपि सिद्धत्वात्, परविग्रहनित्यत्वोक्तिस्तदनुबन्ध्युपलक्षणार्था

इति । नारायणाख्याने -

शुभाशुभैः कर्मभिर्यो न लिप्यति कदाचन । नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् । ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ॥ मयैतत्कथितं सम्यक्तव मूर्तिचतुष्टयम् । अहं हयशिरा भूत्वा॥

इति पूर्वं नारदं प्रति वासुदेवप्रतिवचनार्थ एव -

तद्विश्वभावसंज्ञान्तं पौरुषीं तनुमास्थितम् । ऐश्वर्येण स योगेन द्वितीयां तनुमास्थितः ।

इत्यादिहयशिरउपाख्यानवचनैस्सङ्गृहीत इति व्यक्तं विदुषाम् । महाभारत एव पूर्वं कृष्णरूपं प्रस्तुत्य -

> न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः । न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भवा । नैष गर्भत्वमापेदे न योन्यामवसत्प्रभुः ।

इत्युक्तम्,

ब्रह्मवैवर्तप्रकृतिखण्डेन परविग्रहसाधनम्

एवं ब्रह्मवैवर्तेऽपि ब्रह्मखण्डे उपक्रमे -

मङ्गल्यं मङ्गलाभञ्च मङ्गलं मङ्गलप्रभु(द)म् । प्रकृतेः परमीशानं निर्गुणं नित्यविग्रहम् ॥ २ ॥ ३४ ॥

इत्यादि, प्रकृतिखण्डेऽपि —

तत ऊर्ध्वे च वैकुण्ठो ब्रह्माण्डाद्बहिरेव सः । स च सत्यस्वरूपश्च शश्वन्नारायणो यथा ॥ ३ ॥ ९ ॥ ब्रह्मादितृणपर्यन्तं शेषं प्राकृतिकं भवेत् । यद्यत्प्राकृतिकं दृष्टं सर्वं नश्वरमेव च ॥ ७ ॥ ८ ॥ विद्ध्येकं सृष्टिमूलं तत्सत्यं नित्यं सनातनम् । स्वेच्छामयं परं ब्रह्म निर्लिप्तं निर्गुणं परम् ॥ ७ ॥ ८७ ॥ निरुपाधिं निराकारं भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयञ्च नवीनघनसन्निभम् ॥ ७ ॥ ८८ ॥

इति, अत्र भक्तानुग्रहविग्रहमित्यनेन -

सर्वभूताधिवासञ्च यद्भूतेषु वसत्यपि । सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवस्तदस्म्यहं वासुदेवः

इति श्रुतितात्पर्यमाविष्कृतम् । कृष्णजन्मखण्डे भगवत्सनत्कुमारसंवादे -

यो यो विग्रह इत्युक्तस्स च प्राकृतिकस्स्मृतः । देहो न विद्यते विप्र नित्यस्तां प्रकृतिं विना ॥ ८७ ॥ २४ ॥

सनत्कुमारः -

रक्तबिन्दूद्भवा देहास्ते च प्राकृतिकास्स्मृताः । कथं प्रकृतिनाथस्य बीजस्य प्राकृतं वपुः ॥ ८७ ॥ २५ ॥

श्रीकृष्णः -

साम्प्रतं वासुदेवोऽहं रक्तवीर्याश्रितं वपुः । कथं न प्राकृतो विप्र॥ ८७ ॥ २९ ॥

तृतीयखण्डेनापि भगवद्विग्रहसाधनम्

सनत्कुमारः -

वासुस्सर्वनिवासश्च विश्वानि यस्य लोमसु । तस्य देहः परं ब्रह्म वासुदेव इतीरितः ॥ ८७ ॥ ३० ॥ वासुदेवेति तन्नाम वेदेषु च चतुर्मुख ।

इत्यादि तत्रैव पूर्वं -

शरीरं द्विविधं शम्भो नित्यं प्राकृतमेव च । नित्यं विनाशरहितं नश्वरं प्राकृतं सदा ॥

इति ।

तृतीयखण्डेऽपि -

केवलं वेदकमाश्रित्य कः करोति विनिर्णयम् । बलवान् लौकिको वेदाल्लोकाचारञ्च कस्त्यजेत् ॥ ७ ॥ ४९ ॥ सर्वस्रष्टा च यः कृष्णस्सोंऽशेन सगुणः पुमान् । पुमान् गरीयान् प्रकृतेस्तथैव न ततश्च सा ॥ ५२ ॥ शङ्खचक्रगदापद्मधरमीशं चतुर्भुजम् । लक्ष्मीसरस्वतीकान्तं शान्तं तं सुमनोहरम् ॥ ५५ ॥

इति ॥

विना शक्तिं तथाऽहञ्च स्वसृष्टिं कर्तुमक्षमः । शक्तिप्रधाना सृष्टिश्च सर्वदर्शनसम्मता ॥ ७१ ॥ अहमात्मा च निर्लिप्तो दृश्यस्साक्षी च देहिनाम् । देहाः प्राकृतिकास्सर्वे नश्वराः पाञ्चभौतिकाः ॥ ७२ ॥ अहं नित्यशरीरी च भानुविग्रहविग्रहः (भानुमान् भानुविग्रहः) ।

इति । अत्र 'भानुविग्रहविग्रह' इत्यनेन "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः इत्यादिश्रुतिः प्रत्यभिज्ञाप्यते । न च विष्णुधर्मोत्तरे - "नारायणं नमस्कृत्य" इत्यारभ्य -

वेदेषु गीयते योऽसौ पुरुषः पञ्चविंशकः । पुरुषत्वे त्वनन्तस्य तस्य रूपं न विद्यते ।

विष्णुधर्मोत्तरेणापि तत्सिद्धिः

न च शब्दो न च घ्राणस्स्पर्शो वा तस्य विद्यते । न तस्य परिमाणं वा न चादिर्निधनं कुतः । सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥ २ । ८ ॥

इत्याद्युक्तिः कथमिति वाच्यम् । दिव्यमङ्गलविग्रहे रूपादिसत्त्वेऽपि दिव्यात्मस्वरूपे रूपाद्यभावेन व्यापकरूपविपक्षया परिमितनिषेधेन वा रूपाद्यभावश्रुत्युपपत्तेः । अत एवाशरीरत्वमनुक्तं प्रत्युतः सर्वतः पाणिपादत्वाद्युक्तम्, एतच्च नारायणाख्याने नारददृष्टवासुदेवरूपे व्यक्तमुक्तं व्यासेन । सात्त्वतेऽपि - षाड्गुण्यविग्रहं देवं भास्वज्ज्वलिततेजसम् । सर्वतः पाणिपादं तद्

इत्यादि 'परमेतत्समाख्यातमेकं सर्वाश्रयं विभुम्' इत्यन्तम् ॥ दिव्यमङ्गलविग्रहे रूपविशेषश्च विष्णुधर्मोत्तर एवोत्तरत्र व्यक्तः यथा चतुश्चत्वारिंशे -

देवतारूपनिर्माणं वदतश्शृणु पार्थिव ॥

इत्यादिनाऽर्चारूपाणि कथितानि, षट्चत्वारिंशे -

रूपगन्धरसैर्हीनश्शब्दस्पर्शविवर्जितः । पुरुषस्तु त्वया प्रोक्तस्तस्य रूपमिदं कथम् ॥

मार्कण्डेय उवाच -

प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य रूपे द्वे परमात्मनः । अलक्ष्यं तस्य तद्रूपं प्रकृतिस्सा प्रकीर्तिता ॥ २ ॥ साकारा विकृतिर्ज्ञेया तस्य सर्वं जगत्स्मृतम् । पूजाध्यानादिकं कर्तुं साकारस्यैव शक्यते ॥ ३ ॥ स्वतस्तु देवस्याकारः पूजनीयो यथाविधि । अतो भगवताऽनेन स्वेच्छया तत्प्रदर्शितम् । प्रादुर्भावेप्यथाकारं तं विशन्ति दिवौकसः ॥

विष्णुपुराणे बृहन्नारदीयाभ्यां च

इत्यनेन स्वाभाविकेच्छाप्रयोज्याऽऽकारं "हेतुमच्च तदाकारम्" इत्यादिना जगदाकारञ्चाभिधाय सप्तचत्वारिंशे -

> परस्य पुरुषस्यैषा संसारे विकृतिर्मता । सर्वा च विकृतिः कृष्ण तेन संसारकारणम् । शुक्लरूपं स भगवान् विधत्ते भूतभावनः । ब्रह्मणैव हरेः प्रोक्तं सर्वाभरणधारणम् । बिभर्ति वक्षसा ज्ञानं कौस्तुभं भगवान्हरिः ॥

इत्यादिना वासुदेवादिचतुष्टयविग्रहविशेषः प्रकीर्तितः, अत्र 'बिभर्ति, वक्षसे'त्यादिनोक्तं रूपं विष्णुपुराणे प्रथमांशे द्वाविंशेऽध्याये "भूषणास्त्रस्वरूपस्थ"मित्यादिना "अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूप"मित्यन्तेन विशदीकृतम् । तत्रैव षष्ठांशे सप्तमे -

> समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर । देवतिर्यङ्मनुष्याख्या चेष्टावन्ति स्वलीलया । जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा ।

इति चोक्तम् । एतेन "यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि" इतीशावास्यश्रुतौ कल्याणत्वमकर्मवश्यत्वमिति सूचितम्, बृहन्नारदीये च -

आत्मा तु निर्गुणश्शुद्धस्सच्चिदानन्दविग्रहः । सर्वोपाधिविनिर्मुक्तो योगिनां भात्यचञ्चलः ॥ ३१ ॥ १४५ ॥ नारायणं परानन्दं स्मरेत्प्रणवसंस्थितम् । नादरूपमनौपम्यमध[धि??]]मात्रापरिस्थितम् ।

इत्यनेन पूर्वोक्तश्रुतौ कल्याणत्वं जडव्यावृत्तं ज्ञानानन्दस्वरूपत्वमिति बोधितम् । एवञ्च

य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः" इति छान्दोग्यश्रुतिरपि दिव्यमङ्गलविग्रहपरेति सिद्धम् ॥

विष्णुधर्मवाराहादौ पुण्डरीकाक्षशब्देन तत्साधनम्

तदुक्तं विष्णुधर्मे -

श्रूयतान्तु नरव्याघ्र वेदवेदान्तनिश्चयः । यज्ञेशो यज्ञपरुषः पुण्डरीकाक्षसंज्ञितः । तद्विष्णुः परमं ब्रह्म यतो नावर्तते पुनः ॥ ९९ ॥ २७ ॥ य एष रुद्रश्चन्द्रोऽग्निस्सूर्यो वैश्रवणो यमः । ब्रह्मा प्रजापितः कालस्त्वगाधो बुद्धिरेव च । क्षेत्रज्ञाख्यास्तथैवान्ये संज्ञाभिः प्रोच्यते बुधैः । संज्ञा तु तस्य नैवास्ति न रूपं वा विकत्थना । सर्वभूताननुगतः परमात्मा सनातनः ।

इति ॥ अत्र पुण्डरीकाक्षस्यैव सर्वशरीरत्वेन सर्वशब्दवाच्यतया अपरिच्छिन्नसंज्ञारूपवत्वेन रुद्रचन्द्रादिवत्परिच्छिन्नसंज्ञारूपाभाव उक्तः ।

वाराहेऽपि -

यत्तदेतत्परं ब्रह्म त्वया प्रोक्तं महामुने । तस्य रूपं न जानन्ति योगिनोऽपि महात्मनः । अनामगोत्ररहितममूर्तं मूर्तिवर्जितम् । कथं तज्ज्ञायते ब्रह्म संज्ञारूपविवर्जितम् । तत्तस्य संज्ञां कथय येन जानाम्यहं गुरो ।

दुर्वासा उवाच -

यदेतत्परमं ब्रह्म वेदे शास्त्रे च पठ्यते । स देवः पुण्डरीकाक्षस्स्वयं नारायणो हरिः ।

इत्यादि. भीष्मपर्वणि च -

वासुदेवोऽचनीयो वस्सर्वलोकमहेश्वरः ॥ ६६ ॥ १३ । एतत्पुरुषसंज्ञं वै गीयते ज्ञायते न च ॥ १६ ॥ वासुदेवो महद्भूतं सर्वदैवतदैवतम् । न परं पुण्डरीकाक्षादृश्यते भरतर्षभ ॥ ६७ ॥ २ ॥

गीतोपबृंहित (ब्-५) मधुब्राह्मणश्रुत्यानन्तरूपसिद्धिः

परं हि पुण्डरीकाक्षान्न भूतं न भविष्यति । मुखतस्सोऽसृजाद्विप्रान् बाहुभ्यां क्षत्रियांस्तथा ॥ १७ ॥

इत्यादि ॥ इत्थञ्चाकर्मवश्यज्ञानानन्दात्मकदिव्यमङ्गलविग्रहस्सिद्धः । अत एव बृहदारण्यके चतुर्थे तृतीयब्राह्मणे -

"तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथामाहारजनं वासः" इत्यादिना वासुदेवरूपमभिधाय तद्विशिष्टस्यैव निरतिशयानन्दरूपस्य सर्वान्तर्यामिताप्रतिपादके पञ्चमे मधुब्राह्मणे

इदं वै तन्मधुदध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरस्सपक्षीभूत्वा पुरःपुरुष आविशदिति स वा अयं पुरुषस्सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नानेन किञ्चनानावृतं नानेन किञ्चना संवृतम् । इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च शतानि सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मा पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्

इत्यत्र अनन्तरूपवत्त्वाम्नानमपि सङ्गच्छते, तदेतद्गीतं भगवता -

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः । नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ११ ॥ ५ ॥

इति, अत्र तात्पर्यचन्द्रिकायां "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति श्रुत्याऽयमप्यर्थो विवक्षित इति केचिदिति" इति ना. स. ४१ व्या सर्वार्थसिद्धौ "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते", इत्येतच्छक्तिविशेषैः प्रभूतरूपप्रकाशनपरमन्यथाऽनन्वयात्, न चेदिमन्द्रप्रभृतिपरं वाक्यं, प्रशंसार्थप्रकरणविरोधात्, कथमन्यथा 'युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश, भूरित्वष्टेव राजित, इत्यादिकं घटते' इति चाचार्यपादाः ।

नारायणाख्यानोक्तं विश्वरूपम्

"प्रोक्तो विष्णुश्शिखायामपि स हि पुरुषः प्राप्ततारार्धमात्रः" ना. स. १०. इति तत्त्वमुक्ताकलापव्याख्यायां सर्वार्थसिद्धौ च "तत्रैव प्रणविनरूपणे स्वार्थस्थापनं व्यनक्ति 'प्रोक्त' इति प्रणवस्य तिसृणां मात्राणां वर्णभेदांस्त्रिमूर्तिदेवताकत्वञ्चोक्त्वा तस्य चतुर्थ्या अर्धमात्रायास्सर्वपुरुषदेवताकत्वञ्चोक्तम्, स च पुरुषः 'सृष्टिस्थित्यन्तकरणी'मित्यादावुक्त एव जनार्दनः 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथामाहारजनं वासः यथा पाण्डवाविकं यथेन्द्रगोपः, इत्यादिना च पुरुषस्य सर्ववर्णविग्रहश्भृतः, भारतादौ च विश्वरूपपरिग्रहे व्यक्तमेतदिति, इति च । अत्र भारतादौ चेत्यत्र नारायणाख्यानवचनजातं विवक्षितम् । तत्र -

भगवान्विश्वदृक्सिहस्सर्वमूर्तिमयः प्रभुः । दर्शयामास मुनये रूपं तत्परमं हरिः ॥ ३४७ ॥ १ ॥ किञ्चिच्चन्द्राद्विशुद्धात्मा किञ्चिच्चन्द्राद्विशेषवान् ।

कृशानुवर्णः किञ्चिच्चेत्युपक्रम्य -

सहस्रनयनश्श्रीमान् शतशीर्षस्सहस्रपात् । सहस्रोदरबाहुश्च अव्यक्त इति च क्वचित् । ओङ्कारमुद्गिरन्वक्त्रात्सावित्रीञ्च तदन्वयात् । शेषेभ्यश्चैव वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदान् गिरन् बहून् । आरण्यकं जगौ देवो हरिर्नारायणो वशी ।

इत्यादिना वासुदेवस्य सर्ववर्णरूपमभिधाय सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धहयशिरोमत्स्याद्यवतारदशकानुक्रमानन्तरम् -

> अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा महात्मनः ॥ ३४८ ॥ ५७ ॥ प्रादुर्भावाश्च कथिता भविष्या इह ये यथा ॥ ३५० ॥ ५२ ॥

इति उक्तम् । एतेन हयशिर उपाख्याने "विष्वक्सेनो हरिः प्रभुः" "पौरुषीं तनुम्" "द्वितीयां तनुम्" -

> यां यामिच्छेत्तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौ क्वचित् । तां तां कुर्याद्विकुर्वाणस्स्वयमात्मानमात्मना ॥ ३८८ ॥ ७७ ॥ २ ॥

इत्यन्तस्य -

कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः । एकव्यूहविभागो वा क्वचिद्द्विव्यूहसंज्ञितः ॥ त्रिव्यूहश्चापि सङ्ख्यातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते । हरिरेव हि क्षेत्रज्ञो निर्ममो निष्कलस्तथा ॥

इत्यन्तस्य च सन्दर्भस्य बृहदारण्यकाद्यैकार्थ्यं सिद्धम् । उदाहृतवचनेषु बहुषु स्थलेषु हरिशब्दप्रयोग आरण्यकस्थहरिशब्दघटितभागोपबृंहणतां दृढीकरोति । एतेन तैत्तिरीयारण्यके 'सुवर्णं धर्मं परिवेदेवनं' 'इन्द्रस्यात्मानं दशधा चरन्तम्' 'अन्तस्समुद्रे मनसा चरन्तम्' 'ब्रह्मान्वविन्दद्दशहोतारमर्णे' इत्यादिदशहोतृहृदयमन्त्राणां 'स हरिर्वस्सुवित्तमः' 'शतँ शता अस्य युक्ता हरीणाम्' इत्यादिसप्तहोतृहृदयमन्त्राणां 'युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश' इत्यादिबृहदारण्यकैकार्थ्यं तेन हयशिरसो मधुब्राह्मणप्रतिपाद्यत्वं च सिद्धम् ।

'विद्यासहायवान्' इत्याद्युक्तार्थस्य (मा) (ह-वं) श्रुतिसिद्धता

'विद्यासहायवान्देवः' इत्यादौ पूर्वमुक्तं विष्णोरप्सु शयनं चतुर्मुखस्य पद्मजत्वादिकञ्च श्रुतिसिद्धमिति मत्स्यपुराणहरिवंशयोर्व्यक्तम् । मात्स्ये हंसस्यारण्यकप्रतिपाद्यत्वं हरिवंशे (३-प.) हंसवाक्पतिशब्दयोरैकार्थ्यं च व्यक्तम् । मात्स्ये —

> कथं पाद्मे महाकल्पेऽभवत्पद्ममयं जगत् । जलार्णवगतस्येह नाभौ जातं जनार्दन ॥ (१६३-४) प्रभावात्पद्मनाभस्य स्वपतस्सागराम्भसि । पुष्करे तु कथम्भूता देवास्सर्षिगणाः पुरा ॥

इति मनुप्रश्नस्य -

पराशरसुतश्श्रीमान् गुरुद्वर्चैपायनोऽब्रवीत् । तत्तेऽहं कथयिष्यामि॥ १६३-१७ ॥

मत्स्यपुराणहरिवंशवचनैस्तत्साधनम्

इत्युपक्रम्य -

याथातथ्यं परं ज्ञानं यथावद्ब्रह्मणो मतम् । रहस्यारण्यकोद्दिष्टं यथोपनिषदि श्रुतम् ॥ पुरुषो ब्रह्म इत्येतद्यत्परं परिकीर्तितम् । यत्रान्यः पुरुषो न स्यात्स एव पुरुषोत्तमः ॥

इति मधुकैटभवधनिरूपणानन्तरं -

न रेमेऽथ ततो ब्रह्मा प्रभुरेकस्तपश्चरन् ॥ शरीराधं ततो भार्यां समुत्पादितवान् शुभाम् ॥ १७०-२१ ॥ तपसा तेजसा चैव वर्चसा नियमेन च । सदशीमात्मना देवीं समर्थां लोकसर्जने ।

इति चाभिहितम् । अत्र रहस्यपदमेकायनीयशाखापरपर्यायं रहस्याम्नायं तन्मूलकसंहिताः परमात्मतत्त्वप्रतिपादकविश्वकर्मसूक्तनासदासीयादिसूक्तादिकं सर्वमर्थं सङ्गृह्णाति । आरण्यकपदं बृहदारण्यकैतरीयतैत्तिरीयारण्यकपरम् । उपनिषत्पदं श्वेताश्वतरपरम् । हरिवंशे 'तस्य सुप्तस्य शुशुभे नाभीपद्मात्समुत्थितम्' (१-१-५०-११) इत्यादिना चतुर्मुखादिसृष्टिं 'न तं

वेदस्वयं ब्रह्मा' इत्यादिना अब्धिशायिनो निद्रायोगमुपागतस्य भगवतो ब्रह्मादिदेवैरपि दुर्ज्ञानत्वञ्चाभिधाय -

> जागर्ति कोऽत्र कश्शेते कश्च शक्तश्च नेङ्गते । न चैनं शेकुरन्वेष्टुं कर्मतो जन्मतोऽपि वा ॥

इति ॥

यच्चास्य देवदेवस्य चरितं स्वप्रभावजम् । तेनेमाश्श्रृतयो व्याप्ता वैदिक्यो लौकिकाश्च याः ॥ २१ ॥

इति चोक्तम् । हंसवाक्पतिपदघटिततृतीयपर्ववचनानि प्रथमपर्ववचनान्यप्येकार्थानीति पूर्वं निरूपितम् । एतेन बृहदारण्यकप्रवर्ग्यार्थवादापातप्रतीतिमवलम्बमानानां मोहोऽपास्तः ॥

विश्वकर्मसूक्ते वाचस्पतेः परमं धाम वाक्परैवेति साधनम् ③

विश्वकर्मसूक्तेऽपि 'या ते धामानि परमाणि' इति मन्त्रोक्तम् अप्राकृतं परमशरीरं यत् 'वाचस्पतिं विश्वकर्माण'मिति तदुत्तरमन्त्रस्थवाचस्पतिपदार्थहयशिरसोऽपि तद्विवक्षितम् । वाचस्पतिमित्यत्र वाक्शब्दस्य परा वाग्देव्येवार्थः । न त्ववरा । वागाम्भृणीसूक्ते निरतिशयमहिमवत्त्वेनोक्तायाः वाग्देव्याः 'मम योनिरप्स्पन्तस्समुद्रे' इत्यत्र समुद्रान्तस्स्थानोक्तेः । तत्पूर्वसूक्तान्तिममन्त्रे 'बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्' इत्यत्र वाग्देवीपतेरपि तत्स्थानसम्बन्धोक्तेः । ऐतरेयारण्यके इमं मन्त्रं प्रस्तुत्य 'वाचि वैतदैन्द्रं प्राणं न्यचाय्यन्', इत्येवमुक्तं भवतीत्युक्तेः । 'परो दिवा पर एना पृथिव्या' इति खण्डस्य वागाम्भृणीसूक्ते पठितस्य एतदुत्तरविश्वकर्मसूक्ते पाठपूर्वकं 'तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः' इत्यादिमन्त्रे पत्युस्समुद्रस्थानसम्बन्धोक्तेः । तदुत्तरं 'न तं विदाथय इमाजजान अन्यद्युष्पाकमन्तरं बभूव' इत्यत्र तत्पत्न्याः अन्तरात्मत्वोक्तेश्च । अत एव धर्मसूक्ते 'यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक्' इत्युक्तिस्सङ्गच्छते ॥

संहिता हरिवंशादितो हंसशब्दस्य हयशिरःपरता®

विष्णुतिलकसंहितायां 'अथ हंसमनुं वक्ष्ये' इति हंसमनुनिरूपणावसरे -

हयग्रीवमहं वन्दे स्फटिकाचलसन्निभम् । चन्द्रमण्डलमध्यस्थं सरस्वत्या समन्वितम् ॥

इत्यत्र (विष्णुतिलकसंहितायां २५०)

इतीदं परमं गुह्यं हंसो हयशिरा हरिः । वेदोपदेशसमये मां विबोध्योपदिष्टवान् ॥ अङ्केनोदूह्य वाग्देवीमाचार्यकमुपाश्रितः । वेदवेदान्तशास्त्रार्थतत्त्वव्याख्यानतत्परः ॥

इति संहितान्तरे हंससहस्रनामाद्ध्याये चतुर्मुखोक्तौ -

तस्मिन्नहनि सम्प्राप्ते तं हंसं महदक्षरम् । सम्भवं सर्वलोकस्य विदधाति स वाक्पतिः ॥ (ह. वं. ३ प)

इति हरिवंशे आद्यन्तवचनयोश्च हंसवाक्शब्दयोः हयशिरः तच्छक्तिपरत्वं स्फुटम् । नारायणाख्याने हंसशब्दस्य हयशिरःपरत्वं व्याससम्मतिमित पूर्वमेव (१९२) पुटे निरूपितम् । अहिर्बुध्न्यश्च तैत्तिरीयारण्यके 'वाचस्पते विधेनामन्' 'वाचस्पते हृद्विधेनामन्' इति दशहोतृसप्तहोतृग्रहभागमन्त्रयोः 'वाङ्नाम वैष्णवी शक्तिः' 'वाचस्पतिस्तत्पतिस्स्यात्' इत्यनेन -

द्यावापृथिव्यौ पितरौ पितरौ श्रीतदीश्वरौ । (५८ - अ)

इत्यनेन च श्रीपतिपरत्वं प्राचिख्यपत् । अतो वाचस्पतिशब्दस्य यथोक्त एवार्थः ॥ मूले 'द्वितीयां तनु'मित्यनेन तैत्तिरीये 'परो दिवा पर एना पृथिव्या' इत्यनन्तरं 'तिमद्गर्भम् अजस्य नाभौ' इति मन्त्रे अजशब्दार्थभूतअनिरुद्धापेक्षया द्वितीयत्वमेव 'विश्वकर्मा ह्यजिनष्ट देवः आदिद्गन्धर्वोऽभवद्द्वितीय' इति मन्त्रघटकद्वितीयपदे विवक्षितामिति निर्धारितं भवति । तेन 'विश्वकर्मा ह्यजिनष्ट देव' इत्यत्र जिनमत्त्वेनोक्तश्चतुर्मुखः 'या मध्यमा' इत्युक्तमध्यमशरीरमेव रुद्रादिरप्येवमेव । 'या ते धामानि' इति मन्त्रनिश्चितसर्वशरीरवत्त्वेन देवस्य जिनमत्त्वं पदानां सामानाधिकरण्यं च 'यो देवानां नामध एक एव' इति वाक्येन दृढीकृतं भवति ।

इत्युपक्रम्य श्रीमत्स्यप्रतिवचने -

एवमेकार्णवीभूते शेते लोके महाद्युतिः । प्रच्छाद्य सलिलेनोवीं हंसो नारायणस्तदा ॥ १६६-१-२॥

हयशिरसश्शुक्लयजुर्वेदोपदष्टृतो तच्छक्त्यनुग्रहात् तत्-प्रतिभानम् ③

'विद्यासहायवान्' इत्यत्र विद्याशब्देन 'द्वितीयां, तनुम्' इति पदद्वयेन च विश्वकर्मसूक्तद्वयप्रत्यभिज्ञापनमुखेन याज्ञवल्क्याय शुक्लयजुर्वेदमुपदेष्टुरादित्यस्य हयरूपस्य वाग्देवीस्वरूपस्य च निर्धारणं बृहादारण्यकैतरीयोपनिषत्प्रघट्टकयोः हयशिरोऽवतारमूलप्रमाणत्वव्यञ्जनं च कृतं भवति1 ॥

१४ दीधितिः - विस्तारः 2

Source: TW

1 अत्रेदमवधेयम् । बृहदारण्यकं शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतं शुक्लयजुर्वेदश्च हयशिरोरूपधारिणाऽऽदित्येन याज्ञवल्क्यायोपदिष्ट इति घर्मसूक्तानन्तरसूक्ते 'स इदग्निः कण्वतमः कण्वसखा, 'वाजिन्तमाय' इत्यादिमन्त्रद्वयोपज्ञेषु -

'मत्स्यकूर्मवराहाश्वसिंहरूपादिभिस्थितिम्' 'विवस्वतेऽश्वशिरसे' 'अत्रादित्यो हयशिराः' इति वचनसहकृतेषु 'सु[[सू??]]र्योश्वस्सोऽभवद्यतः' (३-५ २९) 'वाजिरूपधरो रविः' (१२ - ६) इत्यादिविष्णुपुराणभागवतवचनेषु स्पष्टम् । एवमेवाचार्यपादानामभिमतमिति 'व्यक्ताव्यक्ते वाजिनां संहितान्तेव्याख्यामित्थं वाजिवक्त्रप्रसादात्' इति सूक्तिपर्यालोचनेन निर्णीतमीशावास्यभाष्यविवरणे ॥ मोक्षधर्मे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे तु 'सरस्वतीह वाग्भूत्वा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति'

प्रतिभास्यति ते वीरसखिलस्सोतरो द्विज । कृत्स्नं शतपथं चैव

इति याज्ञवल्क्यतपः प्रसन्नादित्यवचनेन -

ततो विचिन्तयमहं भूयो देवीं सरस्वतीम् । तत्रोपनिषदञ्चैव परिशेषञ्च पार्थिव । मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीषिकीं शुभाम् ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनेन च सरस्वतीप्रसादेन याज्ञवल्क्यश्शुक्लयजुर्वेदमजानादित्युक्तम् ।

विष्णुस्मृति-ब्रह्मवैवर्तवचनैः वाग्देव्या नारायणपत्नीत्वसाधनम्

इयञ्च सरस्वती नारायणस्य पत्नी वागधिष्ठातृतया वाग्देवी न तु चतुर्मुखस्य पत्नी लक्ष्मीतन्त्राहिर्बुध्न्यसंहितादौ वाक्सरस्वतीशब्दयोर्विष्णुपत्नीवाचित्वनिर्णयमनुसृत्य विष्णुस्मृतौ -

त्वमेव निद्रा जगतः प्रधाना लक्ष्मीर्धृतिश्श्रीर्विरतिर्जया च । कान्तिः प्रभाकीर्तिरथो विभूतिस्सरस्वती वागथ पावनी च ॥ ९९-४.

इति लक्ष्मीं प्रति भूमिवचनात् । एवं तत्रैव प्रक्रमे 'ध्रुवं वाचस्पतिं प्रभुम्' 'वासुदेवं महात्मानम्' इत्यत्र लक्ष्मीपतित्वाभिप्रायेण वाचस्पतिशब्दस्य वासुदेवे प्रयोगाच्च । अत एव 'कीर्तिश्श्रीर्वाक्च नारीणामि'ति गीतावचनमपि स्वरसतस्सङ्गच्छते । पुराणवचनेष्वपि वाक्शब्दस्य नारायणपत्नीपरत्वं व्यक्तम् । यथा प्राचीनगोपालतापनीयोपबृंहणे ब्रह्मवैवर्ते -

आविर्बभूव तत्पश्चान्मुखतः परमात्मनः । एका देवी शुक्लवर्णा वीणापुस्तकधारिणी ॥ १-२-५४ कोटिपूर्णेन्दुशोभाढ्या शरत्पङ्कजलोचना । श्रेष्ठा श्रुतीनां शास्त्राणां विदुषां जननी परा ॥ वागधिष्ठातृदेवी सा कवीनामिष्टदेवता । शुद्धसत्त्वस्वरूपा च शान्तरूपा सरस्वती ॥

```
इति ।
```

अथ कृष्णो महालक्ष्मीं सादरञ्च सरस्वतीम् । नारायणाय प्रददौ रत्नेन्द्रं मालया सह ॥

इति ।

नारायणप्रिया लक्ष्मीस्सर्वसम्पत्स्वरूपिणी । वागधिष्ठातृदेवी या सा च पूज्या सरस्वती ॥ १-३०-२०

इति ।

शक्तिर्द्वितीया कथिता वेदोक्ता सर्वसम्मता । सर्वपूज्या सर्ववन्द्या चान्यां मत्तो निशामय ॥ २-१-३०. वाग्बुद्धिविद्याज्ञानाधिदेवता परमात्मनः । सर्वविद्यास्वरूपा या सा च देवी सरस्वती ॥ सुबुद्धिकविता मेधा प्रतिभा स्मृतिदा सताम् ।

ब्रह्माण्डाद्बहिर्नित्यवैकुण्ठसत्ता-लक्ष्मीतन्त्रवचनैरपि वाचो विष्णुपत्नीत्वम्

नानाप्रकारसिद्धान्तभेदार्थकल्पनाप्रदा ॥ व्याख्या बोधस्वरूपा च सर्वसन्देहभञ्जनी । विचारकारिणी ग्रन्थकारिणी शक्तिरूपिणी । सर्वसङ्गीतसन्धानकालकारणरूपिणी । विषयज्ञानवाग्रूपा प्रतिविश्वञ्च जीविनाम् ॥ यया विना च विश्वौघो मूको मृतसमस्सदा । व्याख्यामुद्राकरा शान्ता वीणापुस्तकधारिणी ॥ शुद्धसत्त्वस्वरूपा या सुशीला श्रीहरिप्रिया । हिमचन्दनकुन्देन्दुकुमुदाम्भोजसन्निभा ॥

इति च ॥

तत ऊर्ध्वे च वैकुण्ठो ब्रह्माण्डाद्बहिरेव सः । स च सत्यस्वरूपश्च शश्वन्नारायणो यथा ॥ २-३-१० ॥ तदूर्ध्वे चैव गोलोकः पञ्चाशत्कोटियोजनात् । नित्यस्सत्यस्वरूपश्च यथाकृष्णस्तथाप्ययम् ॥ ११. नित्यौ गोलोकवैकुण्ठौ सत्यौ शश्वदकृत्रिमौ ॥

इति ।

द्विभुजो राधिकाकान्तो लक्ष्मीकान्तश्चतुर्भुजः । गोलोके द्विभुजस्तस्थौ गोपैगोंपीभिरावृतः ॥ २-३५-१४ ॥ चतुर्भुजश्च वैकुण्ठं प्रययौ पद्मया सह । सर्वांशेन समौ तौ द्वौ कृष्णनारायणौ परौ ॥ १५ ।

इति वाग्देवीपतेस्स्थानमप्युक्तम् - लक्ष्मीतन्त्रे —

महाविद्या महावाणी भारती वाक्सरस्वती ।

इत्यादिलक्ष्मीनामपाठेन -

अक्षमालाङ्कुशधरा वीणापुस्तकधारिणी ।

इत्यादितद्रूपप्रतिपादनेन भगवच्छास्त्रे बहुषु स्थलेषु वाक्शब्देन वासुदेवानिरुद्धहयग्रीवशक्तीनां निर्देशेन च ब्रह्मवैवर्तवचनार्थोप्यादरणीयः ॥

माघशुक्लपञ्चम्यां वाग्देव्या आराधनम्

एवम् -

आदौ सरस्वतीपूजा श्रीकृष्णेन विनिर्मिता । यत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ मूर्खो भवति पण्डितः ॥ २-४-११.

इत्युपक्रम्य -

माघस्य शुक्लपञ्चम्यां विद्यारम्भेषु सुन्दरि । मानवा मनवो देवा मुनीन्द्राश्च मुमुक्षवः । सन्तश्च योगिनस्सिद्धा नागगन्धर्वकिन्नराः ॥ मद्वरेण करिष्यन्ति कल्पे कल्पे यथाविधि । भक्तियुक्ताश्च दत्वा वै चोपचारांश्च षोडश ॥ काण्वशाखोक्तविधिना ध्यानेन स्तवनेन च । ततस्तत्पूजनं चकुर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । इदन्ते काण्वशाखोक्तं कथितं कवचं मुने । स्तोत्रं पूजाविधानं च ध्यानं वै वन्दनं तथा ॥

इति ।

पूजाक्रममभिधाय —

वाग्देवतायास्तवनं श्रूयतां सर्वकामदम् । महामुनिर्याज्ञ्यवल्क्यो येन तुष्टाव तां पुरा ॥ गुरुशापाच्च स मुनिर्हतविद्यो बभूव ह । तदा जगाम दुःखार्तो रविस्थानं च पुण्यदम् ॥ सम्प्राप्य तपसा सूर्यं कोणार्के दृष्टिगोचरे । तुष्टाव सूर्यं शोकेन रुरोद च पुनः पुनः ॥ सूर्यस्तं पाठयामास वेदवेदाङ्गमीश्वरः । उवाच स्तुहि वाग्देवीं भक्त्या च स्मृतिहेतवे ॥ तमित्युक्त्वा दीननाथो ह्यन्तर्धानं जगाम सः ॥

इति ब्रह्मवैवर्तवचनैः उदाहृतमोक्षधर्मोक्तार्थ उक्तः ।

व्यासेनापि तदाराधनजानुप्रहेण वेदविभागादेः करणम् ③

अत्र पूर्वोक्तप्रकारेण सूर्यस्याश्वशिरोरूपेणोपदेशाद्वाग्देवी तच्छक्तिरिति बोध्यम् । ब्रह्मवैवर्ते याज्ञवल्क्यकृतवाग्देवीस्तोत्रे —

> ब्रह्मस्वरूपा परमा ज्योतीरूपा सनातनी । सर्वविद्याऽधिदेवी या तस्यै वाण्यै नमो नमः ॥ १० ॥

इत्युक्तार्थ एव 'विद्यासहायवान् देवः' इत्यादौ विवक्षितः एतेन वाचस्पतिवाक्शब्दघटिताश्श्रुतयः हयशिरस्तच्छक्तिपरा इति व्यासेन व्यञ्जितम् । एवं ब्र. वै. वाग्देवीस्तोत्रे -

> व्यासः पुराणसूत्रं च समपृच्छत वाल्मिकिम् । मौनीभूतस्स सस्मार त्वामेव जगदम्बिकाम् ॥ तदा चकार सिद्धान्तं त्वद्वरेण मुनीश्वरः । पुराणसूत्रं श्रुत्वा स व्यासः कृष्णकलोद्भवः । त्वां सिषेवे च दध्यौ च शतवर्षं च पुष्करे ॥ तदा त्वत्तो वरं प्राप्य स कवीन्द्रो बभूव ह । तदा वेदविभागं च पुराणानि चकार ह ॥

इति कृष्णकलोद्भवेन व्यासेन वेदविभागपुराणसूत्रादि सर्वं वाग्देवताऽनुग्रहेणैव रचितमिति स्फुटमुक्तम् ॥

माघशुक्लपञ्चमी श्रीपञ्चमी तदुक्तं हेमाद्रौ वाराहे -

माघशुक्लचतुर्थ्यां तु वरामाराध्य च श्रियम् । पञ्चम्यां कुन्दकुसुमैः पूजां कुर्यात्समृद्धये ॥

इति निर्णयसिन्धूक्तश्रीपञ्चमीव्रतमपि माघस्य शुक्लपञ्चम्याम्' इत्यादिब्रह्मवैवर्तवचनानुसारेण वाग्देवीविषयकमिति बोध्यम् ॥ एतेन -

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

भारतादौ आश्वलायनदशाश्लोक्यां च अस्या एव विवक्षा (दे-भा) शक्तिवि-पर®

इति ब्रह्मवैवर्ते महाभारते हरिवंशे चोपक्रमे -

अतः प्रातस्समुत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् । निर्गुणं निरहङ्कारं नारायणमनामयम् ॥ सगुणं च श्रिया युक्तं देवं देवीं सरस्वतीम् ॥

इत्याश्वलायनस्मृतौ च सरस्वती नारायणपत्न्यैवेति सिद्धम् ।

भारती या तु कलया सरिद्रूपा च भारतम् । अर्धांसा(शा) ब्रह्म सदनं स्वयं तिष्ठतु मद्गृहे ॥ २-६-८५ ॥

इति ब्रह्मवैवर्ते नारायणेनोक्तम् । अत्र उदाहृतब्रह्मवैवर्तवचनानि सर्वाण्यपि देवीभागवते नवमस्कन्धे उपलभ्यन्ते तेन देवीभागवतस्यापि शक्तिविशिष्टस्य नारायणाभिन्नस्य कृष्णस्य परत्व एव परमतात्पर्यमुक्तदिशा विद्वद्भिरवसेयम् । एतेन ऋग्वेदमन्त्रसमुदायरूपा आश्वलायनदशश्लोकी नारायणपत्नीपरैवेति निर्णीयते । तत्र 'अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति!' (२-४१ – १६) इति श्रुत्युक्तातिशयिताम्बात्वातिशयितदेवीत्वयोः नारायणपत्न्यामेव सम्भवात् । 'त्वेविश्वा सरस्वति' 'इमा ब्रह्म सरस्वति' इत्यत्तरश्रुतिद्वयं 'पावका नस्सरस्वति ' (१–३–१०) इत्यादिश्रुति (द. श्लो.) त्रयमपि एतद्विषयकमेव । सरस्वातीशब्दघटितचतुर्दशर्चसुक्ते (६-६१-५) 'प्रणो देवी सरस्वती' इति श्रुतिरप्येवमव ॥ सायणीये -

इयमित्येतदाद्यन्तु सूक्तं सारस्वतं जपेत् । द्विजः प्रातश्शुचिर्भूत्वा वाग्मी भवति बुद्धिमान् ॥

इति, एतत्सूक्तस्य शौनकोक्तविनियोगः प्रदर्शितः । आश्वलायनेन स्मृतौ नारायणपत्न्यास्सरस्वत्याः प्रातश्चिन्तनीयत्वोक्त्या एतत्सूक्तस्य नारायणपत्नीपरत्वं तस्याभिमतमिति स्फुटम् । वृत्रहननलिङ्गादपि यथोक्त एवार्थ इति व्यक्ती भविष्यति ।

(अ-वे) वाक्सूक्तस्य तत्परत्वे प्रातरग्निमित्यस्य तत्पतिपरत्वे च कौशिकसम्मतिः®

एवम् 'आनो दिवः' (५-४३-११) 'चत्वारि वाक्' । (१-१६४-४५) 'यद्वाग्वदन्ति' 'देवीं वाचम्' (८-१००-१०-११) 'उतत्वः पश्यन्' (१०-७१-४) इति (द. श्लो.) मन्त्रपञ्चकमपि चतुर्मुखपत्नीपरत्वसाधकाभावान्नारायणपत्नीपरमेवेति सिद्धम् । एवं -

> वाचं प्रपद्येद्वाक्कामो हुनेदाशुजपन्निमाः । अहं रुद्रेभिरित्येता वाग्मी भवति पूजितः ॥ (ऋ. चि) अहं रुद्रेभिरित्येतद्वाग्मी भवति मानवः ॥ (वि. धर्मोत्तरे) (२-१२४-१३३)

इति विनियुक्तं (ऋ. १०-१२५) वागाम्भृणीसूक्तम् -

वागिन्द्रियप्रमूढो यो न विद्यां प्रतिपद्यते । इन्द्रियार्थान्यथार्थान्वा यो न वेत्ति कथं च न ॥ विद्यावाऽधिगता यस्य प्रणश्येत पुनः पुनः । ससर्परी ऋचो जप्त्वा द्वौ मासौ प्रतिपद्यते । (ऋ- वि.) नास्ति विद्यागमो यस्य सुयुक्तस्यापि भार्गव । ससर्परीरिति[[??]] जपन्मासात्तं प्रतिपद्यते ॥ (वि. ध.) १२४-५२.

इति विनियुक्तम् ऋग्द्वयमपि (३-५३-१५-१६) नारायणपत्नीविषयकमेव । अत्र 'ससर्परीः' इति ऋचि 'आसूर्यस्य दुहिता' इत्यत्र अश्वरूपसूर्यस्य सम्बन्धिनी याज्ञवल्क्यकामपूरयित्री इत्यर्थः ॥

पराशरसंहितायां हयग्रीवमनुत्वेनोक्तं 'प्रातरग्निम्' २-४-१ इति सूक्तम् अथर्वणवेदपठितं प्रस्तुत्य संहिताविधिनामकसूत्रेषु 'पूर्वस्य मेधाजननानीति तस्य सूक्तस्य मेधाजननार्थत्वं वदता कौशिकेन 'अहं रुद्रेभिः' (अश्र . ४-६) इतिवागाम्भृणीसूक्तस्यापि उपनयनं प्रस्तुत्य 'मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्' इति मेधाजननार्थत्वप्रतिपादनेन क्रमाद्धहयशिरस्तच्छक्तिपरत्वं स्फुटीकृतम् ॥

त्रिषप्तीय-घर्मसूक्तादेरुक्तार्थपरता -आनन्दतीर्थश्रीहर्षादिसम्मतिश्च®

एवम् एतदुपाख्यानफलश्रुतिमूलतया स्थापयिष्यमाणं 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति' इत्यादिवाचस्पतिशब्दघटितम् अथर्वणवेदोपक्रमचतूऋचसूक्तमिप कौशिकेन 'पूर्वं त्रिषप्तीयम्' इति परिभाषापूर्वकं 'पूर्वस्य मेधा जननानि' इति मेधाजननार्थत्वप्रतिपादनेन वाग्देवीपतिहयशिरःपरमिति स्थापितम् ॥ एवं च वाचस्पतिशब्दघटितं विश्वकर्मसूक्तं (ऋग्वे. (१०-८१)) सपत्ननाशनसूक्तं १०-११६ च एतद्विषयकमेवेति सिद्धम् ॥ एवं घर्मसूक्ते (१०-११६) 'यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक्' इति मन्त्रे तैत्तिरीयारण्यके स्वाध्यायब्राह्मणशान्तिमन्त्रे 'नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो विष्णवे बृहते करोमि' इत्यत्राप्यर्थोऽवसेयः ॥ (तै. आ.) प्रवर्ग्यमन्त्रप्रपाठकोपक्रमे 'नमो वाचे या चोदिताय चानुदिता तस्यैवाचे नमो नमो वाचे नमो वाचस्पतये' इत्यादिशान्तिमन्त्रेऽपि अनुदिता वाक्

वागभिमानिनीश्रीः वाचस्पतिश्च हयशिरोरूपधारी वासुदेव एवेति बोध्यम् ॥ आनन्दतीर्था अपि बहुषु प्रदेशेषु वाक्शब्दं विष्णुपत्नीपरतया व्याचक्रुः ॥ श्रीहर्षोपि नैषधे -

पद्माङ्कसद्मानमवेक्ष्य लक्ष्मीमेकस्य विष्णोः १श्रयणात्सपत्नीम् । आस्येन्दुमस्या भजते जिताब्जं सरस्वती तद्विजिगीषया किम् ॥ ॥ ७ - ४९ ॥ कण्ठे वसन्ती चतुरा यदस्यास्सरस्वती वादयते विपञ्चीम् । तदेव वाग्भूय मुखे मृगाक्ष्याः श्रोतुशश्रुतौ याति सुधा रसत्वम् ॥ ७ - ५० ॥

इत्यादौ सरस्वती विष्णुपत्नीति स्फुटमभ्यधात् ।

उक्तार्थस्य निगमान्तदेशिकाद्याचार्याभिमतत्वम् ③

अत्र मल्लिनाथः सरस्वत्या विष्णुपत्नीत्वं पुराणप्रसिद्धम् । तथाऽर्चास्विप दृश्यते यथा पुरुषोत्तमस्य जगन्नाथस्य पार्श्वे लक्ष्मीसरस्वत्यौ इति व्याचख्यौ । अत्र ब्रह्मवैवर्तपुराणं विविक्षतम् ॥ चतुःश्लोकीभाष्ये 'श्रद्धासूक्तमेधासूक्तादितिसूक्तवाक्सूक्तादिष्वेतद्विभूतिविशेषप्रतिपादकेषु विशेषतश्त्रीसूक्ते च विचित्रा एतन्महिमानस्ततद्भाष्यकारैः प्रपञ्चिताः प्रतिपत्तव्या' इत्यत्र वाक्सूक्तस्य लक्ष्मीपरत्वं 'कीर्तिः श्रीर्वाक्चनारीणाम्' इति गीताभाष्यतात्पर्यचन्द्रिकायां ब्रह्मवैवर्ताद्यनुसारेण -

वाचं निजाङ्करसिकां प्रसमीक्षमाणो वक्त्रारविन्दविनिवेशितपाञ्चजन्यः । वर्णत्रिकोणऋचिरे वरपुण्डरीके बद्धासनो जयति वल्लवचक्रवर्ती ॥

इति स्वस्तुत्युक्तवाचो भगवदसाधारणशक्तित्वञ्च प्रतिपादयतामाचार्यपादानामप्ययमेवाभिप्रायः ॥ अतश्च यदनुग्रहायत्तं शुक्लयजुर्वेदसर्वस्वं सैव वाग्देवी तदुपनिषद्भूतबृहदारण्यकगतपरमात्मप्रकरणस्थवाक्छब्दार्थं इति सिद्धम् । एतच्च सर्वव्याख्यानाधिकरणे व्यासायैर्व्यञ्जितम् । तत्र हि बृहदारण्यकाण्डे 'देवा हवै सत्रं निषेदुरग्निरेन्द्रस्सोमोमखोविष्णुर्विश्वे च देवा अन्यत्रैवाश्विभ्याम्' इत्यादि प्रवर्ग्याध्यायसमनन्तरमुपनिषद्रूपत्वेनाङ्गीकृते 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि तृतीयाध्याये 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्' इत्यादिद्वितीयब्राह्मणघटकार्कशब्दस्य परमात्मपरत्वम् 'अर्कशब्दश्च परस्मिन् प्रीणनगुणयोगाद्वर्तते' अत एव हि भगवन्नामसहस्रे पठ्यते 'अर्को वाजसनिश्शृङ्गी' इति ग्रन्थेन बोधितम् ॥

अर्को वाजसनिश्शृङ्गी जयन्तस्सर्वविज्जयी । सुवर्णबिन्दुरक्षोभ्यस्सर्ववागीश्वरेश्वरः ॥

इति पूर्णश्लोकः ।

विद्याप्रददेवतासु हयाननश्रैष्टये पण्डितजगन्नाथसम्मतिः ③

अत्र वाजसनिशब्दो हयग्रीवपर इति (ई-भा-वि) उपपादितम् । सर्ववागीश्वरेश्वरशब्दश्च तत्र सुप्रसिद्ध एव ॥

पाण्डित्यवीरो यथा -

अपि वक्ति गिरां पतिस्स्वयं यदितासामधिदेवताऽपि वा । अयमस्मि पुरा हयाननस्मरणोल्लङ्घितवाङ्मयाम्बुधिः ॥

(र-ग-घ) इति पण्डितजगन्नाथेनाप्युक्तेः । अत्र वाचस्पतिशब्दघटितं (१०-१६६) सपत्ननाशनसूक्तमाभिप्रेतमिति प्रतिभाति । एवञ्च बृहदारण्यकप्रकरणगतवाक्शब्दस्यापि तच्छक्तिपरतेति व्यासार्याणामाशयः प्रतीयते । अयमत्र श्रुतिक्रमः

> नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया अशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वीस्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपो जायन्तार्चते वैमेकमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम् । कगँ ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥ १ ॥ आपो वा अर्कस्तद्यदपाग्ँ शर आसीत्तत्समहन्यत । सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्तताग्निः ॥ २ ॥ स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायूं तृतीयग् स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य प्राचीदिक्छिरोऽसौ चासौ चेर्मो अथाऽस्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरस्स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्वचैति तत्तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥ सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनग् समभवदशनाया मृत्यस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततस्संवत्सर आसतमेतावन्तं कालमबिभः । यावान् संवत्सरस्तमेनावतः कालस्य परस्तादसुजत । तं जातमभिव्याददात्सभाणकरोत्सैव वागभवत् ॥ ४ ॥ स ऐक्षत यदि वा इममभिमग्ँ स्येकनीयोऽन्नं करिष्ये इति स तया वाचा तेसात्मनेदग्ँ सर्वमसृजत यदिदं किञ्चर्चो यजूग्षि सामानि च्छन्दागँसि यज्ञान् प्रजाः पशून् । स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वग् सर्वस्यैतस्यात्ताभवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वग् वेद ॥ ५ ॥ सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेय

इत्यादि

वाक्शब्दघटितबृहदारण्यक (३. अ) श्रुत्यर्थः ③

अत्र प्रथममन्त्रे मृत्युशब्दो मृत्युशरीरकपरमात्मपरः, आशनाया सञ्जिहीर्षा, इति व्यासार्योक्त्या सञ्जिहीर्षाश्रयस्सङ्कर्षणोऽत्र विवक्षित इति सिद्धम्, तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामित्यस्य अनिरुद्धस्यामिति प्रद्युम्नमकुरुतेत्यर्थः, अविषष्टः प्रथममन्त्रः द्वितीयमन्त्रोपि व्यासायैरेव विवृतः, तृतीयमन्त्रे च अग्न्यादित्यवायूनां क्वचिदुपनिषदि अकारोकारमकारार्थत्वोक्तेः, सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा अग्न्यादित्यवायव इति त्रिधा व्यूहकरणमेव विवक्षितं, यद्वा "अग्ने ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात्सामवेद" इति वेदत्रयप्रवर्तकत्वेनोक्तानामग्निवाय्वादित्यानां भगवदात्मकत्वकथने वाक्यतात्पर्यम् । एतेन "स मनसा वाचिम्मिथुनग्ँ समभवत्" इत्यत्र वाक्छब्देन वागभिमानिदेवताया लक्ष्म्या निर्देशावश्यकत्वं बोधितम् । अनन्तरं 'तस्य प्राची दिक्' इत्यादिना विग्रहसम्बन्धमभिधाय 'स एषोऽप्सु प्रतिष्ठित', इति तस्य नारायणत्वं दृढीकृतम् । तदुक्तं वाराहे -

सृष्ट्वा नारं तोयमन्तस्थितोऽहं येन स्यान्मेनामनारायणेति । कल्पे कल्पे तत्र शयामि भूयस्सुप्तस्य मेनाभिजं स्याद्यथाऽब्जम् ॥

इति द्वितीयब्राह्मणघटकचतुर्थमन्त्रे

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचिम्मिथुनग्ँ समभवदशनाया मृत्युः

इत्यत्र वाक्छब्दो वागभिमानिभगवच्छक्तिपरः । चतुर्थब्राह्मणे

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधस्सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमास्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहन्नामाभवत्

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् । सहैतावानास यथा स्त्रीपुमाग्ँ सौसंपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्

सोहेयमीक्षाञ्चक्रे कथन्नुमात्मन एव जनयित्वा सम्भवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवद्वषम इतरः

इत्युपक्रमस्य

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय

(बृ. आ) चतुर्मुखकृतयज्ञस्य हयग्रीवदेवताकत्वम् ③

मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा

इत्युपसंहारस्य चानुगुण्यात् । मनःपदं प्रद्युम्नपरं, समभवत् समभावयत्, 'तद्यद्रेत आसीत्ससंवत्सरोभवत्' इत्यादिना चतुर्मुखसृष्टिरुच्यते । पञ्चममन्त्रे स तया वाचा तेनात्मना इदग्ँ सर्वमसृजत यदिदं किञ्चर्चो यजूग्ँषि सामानि छन्दाग्ँसि

इत्यत्र आत्मन्शब्दः अनिरुद्धपरः, वाक्छब्दश्च वागभिमानितच्छक्तिपरः, "सभाणकरोत्सैव वागभविद"ति मध्ये वाक्छब्देन बोधितस्य वेदस्याभिमानिनी देवतैव "स मनसा वाचं मिथुनग्ँ समभवत्" इति पूर्वत्र "स तया वाचा तेनात्मनेदग्ँ सर्वमसृजत" इति परत्र च वाक्छब्दस्यार्थः, अत्र च शब्दान्तरमनुपादाय वाक्छब्दोपादानम् अनिरुद्धकर्तृकव्यष्टिसृष्टौ, अनिरुद्धशक्तेरिव द्वारभूतचतुर्मुखशक्त्यास्सरस्वत्या अपि द्वारतयाऽन्वयसत्त्वेन तदुभयसङ्ग्रहार्थम् । एवं वासुदेवानिरुद्धहयग्रीवशक्तीनां भगवच्छास्त्रप्रसिद्धं वागित्येकमेव नामेति त्रयाणां यथासम्भवं विवक्षाबोधनार्थञ्च । तत्र आद्यं प्रयोजनं, अत्रैव चतुर्थाब्राह्मणे "स वै नैव रेमे" इत्यत्र द्वितीयञ्च चतुर्थाध्याये मधुब्राह्मणे विवक्षितमिति व्यक्तीभविष्यति । अत्रैव षष्ठमन्त्रे "सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेय" इत्यत्र चतुर्मुखकृतो हयग्रीवदेवताको यज्ञो विवक्षितः

अहं हयशिरा भूत्वा समुद्रे पश्चिमोत्तरे । पिबामि सुहुतं हव्यं कव्यञ्च श्रद्धयाऽन्वितम् । मया सृष्टः पुरा ब्रह्मा मद्यज्ञमयजत्स्वयम् ।

इति नारायणाख्याने,

सत्रेममास भगवान् हयशीर्ष एव साक्षात्स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः

इति श्रीभागवते (२-७-११) च हयशिरसश्चतुर्मुखयज्ञाराध्यत्वं स्पष्टमुक्तम् । "आत्मैवेदमग्र आसीत्" इत्यादितृतीयचतुर्थब्राह्मणं प्रस्तुत्य सर्वव्याख्यानाधिकरणे "अहमिति हिरण्यगर्भनाम, अहमभिमानाश्रयव्यष्टिपुरुषाणां प्रथमत्वाद्धिरण्यगर्भस्य, तथा मोक्षधर्मे चतुर्मुखस्याहङ्कारसंज्ञत्वमवगम्यते ।

उपाख्यानार्थस्य बृहदारण्यकप्रतिपाद्यता ③

मया सृष्टः पुरा ब्रह्मा मद्यज्ञमयजत्स्वयम् । ततस्तस्मै वरान्प्रीतो ददावहमनुत्तमान् । मत्पुत्रत्वञ्च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च । अहङ्कारकृतञ्चैव तथा पर्यायवाचकम् ॥

इति । इति व्यासार्यैरुक्तम् । तदनन्तरं

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति सहायमीक्षाञ्चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद्वितीयाद्वै भयं भवति

इत्यन्तिवाक्यस्य 'अहङ्कारस्ततो जातो ब्रह्मा शुभचतुर्मुखः' इत्याद्येतदुपाख्यानवचनैर्व्यासेन निर्णीतोऽर्थः तथाहि सः अहंनामा चतुर्मुखः अबिभेत् मधुकैटभाभ्यां वेदेष्वपहृतेषु तदाहरणसहायाभावादिति भावः तदाह 'तस्मादेकाकी' इत्यादि एकाकी 'एकादािकनिच्चासहाये' ॥ ५ ॥ ३ ५५ ॥ इत्यनुशासनादसहायः, 'सहायमीक्षाञ्चक्रे' इत्यस्य वेदाहरणे सहायभूतं हयशिरसं साक्षात्कृतवािनत्यर्थः अत्र सहायपदप्रयोगेण अर्जुनस्य सारियत्वेनावस्थाय शरणागतिधर्मोपदेष्टुस्सुलभस्य सुशीलस्य शरणागतपित्राणेऽप्यनुचरवदेव वृत्तिरिति व्यञ्जितम् एतदर्थमेव रक्षकािदपदाप्रयोगः यद्वा 'निजात्मीयात्मसुहृदस्सहायस्सद्वृचिस्सखा' इति वैजयन्त्यां मित्रपर्यायेषु पाठात्सहायशब्दो मित्रवचनः 'मित्रमौपियकं कर्तुम्' 'तेन मैत्रीभवतु ते' इत्यादािववात्रािप शरणागतिविवक्षा बोध्या, मदन्यत् मत्प्रतिद्वन्द्वि, द्वितीयात् प्रतिद्वन्द्विनः, भयं वीयायेति । हयग्रीवसाक्षात्कारसमनन्तरमेव वेदलाभस्य प्रतिद्वन्द्विमधुकैटभसंहारस्य च निष्पत्तेरिति भावः ।

न रमेऽथ ततो ब्रह्मा प्रभुरेकस्तपश्चरन् । शरीरार्धमथो भार्यां समुत्पादितवान् शुभाम् । तपसा तेजसा चैव वर्चसा नियेमन च । सदृशीमात्मनो भार्यां समर्थां लोकसर्जने ॥ १७० ॥ २२ ॥

इति, मात्स्यवचनोपबृंहितायां "स वै नैव रेमे" "पतिश्च पत्नी चाभवताम्" इति श्रुतौ चतुर्मुखतत्पत्न्योर्द्वारभूतयोर्नारायणतत्पत्न्योश्च द्वारिभूतयोर्विवक्षितत्वेन वाक्छब्देन पूर्वं लक्ष्म्या निर्देशस्य प्राथमिकं प्रयोजनमुपपादितम् ।

ऐतरेयारण्यकोपनिषदन्त्यखण्डस्य हयशिरःपरत्वे सायणीयव्यङ्ग्यता®

एवमैतरेयारण्यकोपनिषद्धटकसंहितोपनिषद्रपतृतीयारण्यके द्वितीयाध्यायान्तिमखण्डे

अथ हास्मा एतत् कृष्णहारीतो वाग्ब्राह्मणिमवोपोदाहरतीति प्रजापितः प्रजास्सृष्ट्वा व्यसंसत संवत्सरस्सच्छन्दोभिरात्मानं समदधाद्यच्छन्दोभिरात्मानं समदधात्तस्मात्संहिता इति तस्यैवा एतस्यै संहितायै णकारो बलं षकारः प्राण आत्मा इति स यो हैतौ णकारषकारावनुसंहितमृचो वेद सबलां सप्राणां संहितां वेदायुष्यमिति विद्यादिति स यदि विचिकित्सेत्सणकारं ब्रवाणीँ ३ अणकाराँ ३ इति सणकारमेव ब्रूयात्सषकारं ब्रवाणीँ ३ अषकाराँ ३ इति सषकारमेव ब्रूयादिति । तेयद्वयमनुसंहितमृचोऽधीमहे यच्च माण्डूकेयीयमध्यायं प्रब्रूमस्तेन नो णकारषकारावुपाप्राप्ताविति हस्माह हस्वो माण्डूकेयः इति - अथ यद्वयमनुसंहितमृचोऽधीमहे यच्च माण्डूकेयीयमध्यायं प्रब्रूमस्तेन नोणकारषकारावुपाप्राप्ताविति हस्माहस्थिवरश्शाकल्य इति एतद्धस्म वै तद्विद्वांस आहु ऋषयकावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणे वा वाचं यो ह्येव प्रभवस्स एवाप्ययस्ता एतास्संहिता नानन्तेवासिने प्रब्रूयान्नासंवत्सरवासिने नाप्रववन्कत्र इत्याचार्या आचार्या इति

एतच्छ्रुतिविवरणानन्तरं सायणीये चतुर्थारण्यकभाष्यारम्भे यस्य निश्वसितमिति श्लोकात्प्राक् (ज पुस्तके)

> तुरगाननमाश्रयाम्यहं सुरगन्धर्वशिवेन्द्रकीर्त्यमानम् । उरगाधिपवाग्विलासलक्ष्मीं तरसैकेन मुखेन लज्जयन्तम् ॥

इति दृश्यते इति मुद्रितकोशे दृश्यते । अत्र तुरगाननमित्यादिकं पूर्वखण्डाभिप्रायकमिति बोध्यम् । एततत्प्रकरणं हयशिरःपरम् एतत्पूर्वखण्डश्च हयशिरश्शक्तिरूपवागीश्वरीपरः । तत्र अथ खल्वियं सर्वस्यैवाच उपनिषत् । सर्वां ह्येवेमास्सर्वस्यै वाच उपनिषद इमां त्वेवाचक्षते' इत्युपक्रम्य

स्पर्शादिषु पृथिव्यादिदर्शनम् । अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा

इत्यादिना वाग्देवीवीणाया उपासनञ्चाभिधाय

अथातो वाग्रसः यस्यां संसद्यधीयमानो वा भाषमाणो वा न विरुरुचुषेत तत्रैतामृचं जपेत्

इति ।

उपान्त्यखण्डान्तिम 'ओष्ठपिधाना' इति वाग्देवीमन्त्रविचारः ③

ओष्ठपिधाना नकुलीदन्तैः परिवृता पविः । सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेदिति वाग्रस

इति इत्युक्तम् । "ओष्ठपिधाना" इत्यादिऋगेव वाक्सूक्तमिति कश्चित्, वस्तुतस्तु वसिष्ठस्मृतौ "सर्ववेदपवित्राणि वक्ष्याम्यहमतः परम् ।" इत्युपक्रम्य "वाक्सूक्तं मध्वृचं तथा ।" इत्युक्तौ वाक्सूक्तम् "अहं रुद्रेभिर्वसुभिः" इत्यष्टर्चमिति स्मृतिचन्द्रिकारत्नाकरादिनिबन्धनकारैरुक्तम् । अस्यैव "वागाम्भृणीसूक्तं वाक्सूक्तम्" इत्यपि बह्वृचानां समाख्या, इदमेवानन्दतीर्थीया लक्ष्मीसूक्तमित्यपि व्यवहरन्ति, अस्मदाचार्याश्त्रीनिवासपरकालमहादेशिकालक्ष्म्युपायत्वनिर्णये लक्ष्मीपरत्वे प्रमाणतयैतत्सूक्तवाक्यान्युदाहार्षुः, यजुर्वेदिनान्तु वाक्सूक्तं "देवीं वाचमजनयन्त" इत्यादिति सारविवरणीकृतः । तत्र "यद्वाग्वदन्ति" इत्यादिमन्त्रः हयग्रीवोपनिषदि हयग्रीवमन्त्रानुमन्त्रतया पठितः, अयं "देवीं वाचमजनयन्त" "चत्वारि वाक्" इत्यादि मन्त्रौ चेति त्रयः बह्वृचसमाख्यया प्रसिद्धाश्वलायनदशश्लोकीपठिताः तत्र चतुर्मुखपत्नीत्वग्राहकप्रमाणाभावेन नारायणपत्न्यामेव तत्प्रतिपाद्यालङ्गान्वयेन च नारायणपत्न्येव तदुपनिषद्घटकयावन्मन्त्रप्रतिपाद्या वाक्सूक्तप्रतिपाद्याऽपीति सारविवरणीकृतामाशयः एवञ्च ऋग्वेदिनाम् "अहं रुद्रेभिः" इत्यष्टर्चस्य, यजुर्वेदिनाम् "देवीं वाचमजनयन्त" इत्यादेश्च वाक्सूक्तत्वे सम्प्रतिपत्ताविप "ओष्ठपिधाना" इत्यस्य वाक्सूक्तत्वे सर्वेषां न सम्प्रतिपत्तिरित्यन्यदेतत् ॥"ओष्ठपिधाना" इत्यादिमन्त्रस्य -

ओष्ठापिधाना मन्त्रञ्च जपेद्दशदिनं प्रति । एकबुद्धिस्सदा तस्य महाविष्णौ प्रवर्तते ॥ ३५१ ॥

इति शौनकऋग्विधाने विनियोग उक्तः ।

उपाख्यानार्थस्य (ऐ-आं-ऊ) अन्त्यखण्डविवक्षितत्वम्®

अत्र महाविष्णुशब्दघटकमहच्छब्दस्य -

मेतिलक्ष्मीर्मता देवी तां जिहीतेऽभिगच्छति । दिव्यं नित्यपरिष्वक्तं मिथुनं तन्महानतः ॥ ५४ ॥ २४ ॥

इत्यहिर्बुद्ध्न्यनिर्वचनानुसारेणार्थोऽवसेयः - एवमयं मन्त्रः हयग्रीवमन्त्रानुमन्त्रतया हयग्रीवोपनिषदि श्रुतः । ततो वाग्रूपहयग्रीवशक्तिपरः, वाग्देव्याश्च हयग्रीवशक्तित्वं भगवच्छास्त्रे प्रसिद्धम्, यथाहंसापरनामहयग्रीवसहस्रनामपाठे —

अङ्केनूदूह्य वाग्देवीमाचार्यकमुपाश्रितः ।

इति, एवं विष्णुतिलकसंहितादिष्वपीति पूर्वमेव निरूपितम् — एवञ्च "अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत्" इत्यादिपूर्वखण्डस्य वाग्देवीरूपहयग्रीवशक्तिपरतया "अथ हास्मा एतत्कृष्णहारीतो वाग्ब्राह्मणमिवोपोदाहरति" इत्यादौ वाक्छब्दो हयग्रीवशक्तिवचनः,

> प्रजापितः प्रजास्सृष्ट्वा व्यस्रंसत संवत्सरः, सच्छन्दोभिरात्मानं समदधाद्यच्छन्दोभिरात्मानं समदधात्तस्मात्संहिता

इत्यादेरयमर्थः प्रजापतिश्चतुर्मुखः, विस्नंसननिमित्तञ्च वेदापहार एव । सः चतुर्मुखः, छन्दोभिः, वेदैः, "छन्दः पद्ये च वेदे च स्वैराचाराभिलाषयोः" इति मेदिनी, वागीश्वरानुगृहीतैरिति शेषः, आत्मानम्; स्वम्, "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः" इति कोशात् । धृतिं बुद्धिं वा, समदधात् सम्यग्धारितवान् । वेदापहारदशायाश्च ब्रह्मा सन्नपि -

अन्धकारा हि मे लोका जाता वेदैर्विना कृताः । वेदानृते हि किङ्कुर्यां लोकानां सृष्टिमुत्तमाम् ॥ अहो बत महद्दुःखं वेदनाशनजं मम ।

इत्युक्तप्रकारेणासत्कल्प एव -

तत्र विष्णुजिष्णुसंहितायां वृद्धहारीतस्मृत्युपबर्हणम् ③

वेदलाभानन्तरञ्च -

ततस्तयोर्वधेनाशु वेदानां हरणेन च । शोकापनयनञ्चक्रे ब्रह्मणः पुरुषोत्तमः ॥

इति वक्ष्यमाणप्रकारेण आत्मानमलभतेति भावः । तस्मात् चतुर्मुखात्मधारणसाधनत्वादित्यर्थः, संहिता, विष्णुसंहिता जिष्णुसंहिता वाक्प्राणसंहिता चेत्यर्थः, तत्र प्रथमं विष्णुसंहितां जिष्णुसंहितां जिष्णुसंहिताञ्चाह "तस्यै वा एतस्यै संहितायै णकारो बलं षकारः प्राण आत्मा" इत्यादिना, वृद्धहारीतश्च स्मृतौ कृष्णहारीतोपज्ञश्रुतेरिममेवार्थं व्यनक्ति, यथा —

णकारो बलमित्युक्तं षकारः प्राण उच्यते । तयोस्तु सङ्गतिर्यत्र तदात्मेत्युच्यते श्रुतौ ॥ तस्माण्णकारषकारानुसंहितमनुत्तमम् । सप्राणां सबलाञ्चैव संहितामुत्तमां विदुः ॥ तस्यैवायुषमित्युक्तं नेतरस्येति तच्छ्रुतेः । एतदेव हि विद्वांसो वक्ष्यन्ते ये महर्षयः ॥ यक्ष्यामहे वयं किं वा किमध्येष्या(मुव्याख्या)महे वयम् । इमौ णकारषकारावनुसंहितमेव यत् ॥ तदेव विष्णुः कृष्णेति जिष्णुरित्यभिधीयते ॥ ६ ॥ २१९ ॥

इति, अत्र विष्णुकृष्णसंहितायामस्य वामसूक्तं मूलम् । व्यक्तीभविष्यति चेदमुपरिष्टात् । एतेन हयग्रीवरूपधारिणाऽनिरुद्धेन वेदाहरणानन्तरं विष्णुजिष्णुरूपद्वयधारणपूर्वकं मधुकैटभवधः कृत इति यदुक्तं विष्णुधर्मोत्तरप्रथमखण्डषोडशाध्याये -

तेनाश्वशिरसा गत्वा वेदानादाय शाश्वतान् । पितामहाय प्रददौ भूय एव जगद्गुरुः ॥ ततो हयशिरोधारी गतोऽन्तर्धानमीश्वरः । आजग्मतुस्ततो देशं दानवौ मधुकैटभौ ॥

ऐतरेय(अन्त्यखण्ड)कौषीतकिब्राह्मणगतवाक्प्राणहोमविचारः ③

विष्णुश्चकार देहौ द्वौ विष्णुर्जिष्णुरिति स्मृतौ । मधुना युयुधे जिष्णुर्विष्णुर्वै कैटभेन च ॥

इत्यादिना, तत्रेयमेव श्रुतिर्मूलभूतेति ज्ञापितम् ॥ "एतदेव हि विद्वांसः" इत्यादिना

एतद्धस्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणे वा वाचं यो ह्येव प्रभवस्स एवाप्ययः

इति तदुत्तरश्रुत्यभिप्राय उक्तः, अत्र सनत्सुजातीयशङ्करभाष्ये —

किमद्य नश्चाध्ययनेन कार्यं किमर्थवन्तश्च मखैर्यजामः । प्राणं हि वाच्यनले जोहवीमि प्राणानले जूहवीमीति वाचम् ॥

इति ब्रह्माण्डपुराणे कावषेयगीतोक्तिरप्यनुसन्धेया, कौषीतकिनोऽपि समामनन्ति

अथातस्सांयमनं प्रातर्दनमान्तरमग्निहोत्रमिति चाचक्षते । यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति, यावद्वै पुरुषः प्राणिति न तावद्भाषितुं शक्नोति, वाचं तदा प्राणे जुहोति एते अनन्ते अमृताहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सन्ततमव्यवच्छिन्नं जुहोति । अथ या अन्या आहुतयोऽन्तवत्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्त्येतद्ध वै पूर्वे विद्वांसो न जुहवाञ्चकुः ।

इति, अत्रैतरेयकौषीतिकब्राह्मणवाक्ययोरैककण्ठ्यं सुगमं विदुषाम् ॥ "अथातस्सांयमनम्" इत्यादेरयमर्थः, अथ "प्राणो ब्रह्म" इत्यादिप्रतीकोपासनानन्तरम्, "वाङ्नामदेवताविरोधिनी" इत्याद्युक्तहोमानन्तरञ्च, अतः - "एते अनन्ते" इत्यादिना वक्ष्यमाणमोक्षफलकत्वात्, सांयमनम् - सम्यक् अन्तः प्रविश्य यमनं - नियमनं तत्सम्बन्धिवाक्प्राणशब्दबोध्यवाक्प्राणान्तर्यामिभूततत्तदिभमानिलक्ष्मीनारायणसम्बन्धीति यावत्, प्रातर्दनं प्रतर्दनानुष्ठिततया प्रातर्दनमिति ख्यातम् — अयञ्च प्रतर्दन इन्द्रप्राणविद्यामध्यगमदिति "प्रतर्दनो ह वै दैवो दासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम" इत्यादिनाऽत्रैव तृतीयाध्याये वक्ष्यते, आन्तरं - मानसमुपासनात्मकमिति यावत्, भाषितुं - वाग्व्यापारं कर्तुं, प्राणिति - वागनधीनसत्ताश्रय इत्यर्थः, अन्यत्सुगमम् ।

ऐतरेयारण्यके (३-२-६) वाक्प्राणसंहितान्तरविचारः ③

अनधात्वर्थस्सत्ता प्रकर्षश्च वागनधीनत्वम् । तच्च वाग्व्यापाराव्यङ्ग्यत्विमिति, एवञ्च "जाग्रत्स्वपंश्च" इत्युत्तरवाक्यमिप सङ्गतम्, जागरणकाले वागधीना सत्ता सुषुप्तिकाले तु तदनधीनेति, भाषणकाले वागभिमानिन्या अभाषणकाले च प्राणाभिमानिनः प्राधान्यात्परस्परसंश्लेषानुचिन्तनरूपौ होमावत्र विवक्षितौ, जीवस्तु नात्र विवक्षितः स्वरूपतो जीवस्य होमकर्मत्वासम्भवात्, ऐतरेयके तत्स्थाने "यो ह्येव प्रभवस्स एवाप्यय" इत्युक्तेश्च, जाग्रत्स्वपन्निति पदद्वयेन जुहोतिकर्मभूतः सृष्टिकर्ता प्रलयकर्ता च प्राण एव परमात्मा विवक्षितः सृष्टिप्रलयकालयोर्भगवतोऽहोरात्ररूपता पुराणेषु प्रसिद्धा, अत्र "सांयमनं प्रातर्दनम्" इत्यस्य स्थाने "सायन्तनं प्रातस्तनम्" इति क्वचित्पाठो दृश्यते "सांयमनं प्रातर्दनम्" इति पाठ एव साधीयान्, अत एव "सन्ततमव्यवच्छिन्नं जुहोति" इत्यस्य साङ्गत्यमौचित्यञ्च, अन्यच्चैतत्सजातीयमैतरेयवाक्यमन्यत्र विवृतं तत्रैव द्रष्टव्यम् अनयोरेव वाक्प्राणयो रूपान्तरेण संहिता ऐतरेयारण्यक एव ३-२-६ पूर्वमुक्ता,

बृहद्रथन्तरयो रूपेण संहिता सन्धीयते इति तार्क्ष्य इति वाग्वैरथन्तरस्य रूपं प्राणो बृहत उभाभ्यामुखलु संहिता सन्धीयते वाचा च प्राणेन च

इति उपक्रम्य

तदप्येतदृषिणोक्तं रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः भरद्वाजो बृहदाचक्रे अग्नेरिति इति, एतेन -

> कीर्तिश्श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा । बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ॥

इति गीताभाष्यतात्पर्यचन्द्रिकायामुदाहृते

बृहच्च वा इदमग्रे रथन्तरञ्चास्तां वाक्च वै तन्मनश्चास्तां वाग्वै रथन्तरं मनो बृहत् बृहत्पूर्वं ससृजानं रथन्तरमत्यमन्यत तद्रथन्तरं गर्भमधत्त

इति वाङ्मनसो रथन्तरबृहत्त्वप्रतिपादकश्रुतिवाक्ये मनःपदं तदभिमानिप्रद्युम्नपरमिति सिद्धम् ।

प्रथश्च यस्य बीभत्सूनां सयुजं हंसम् - इत्यादिश्रुत्यर्थः ③

ऐतरेयारण्यके "तदप्येतदृषिणोक्तम्" इत्युक्तमन्त्रद्वयञ्च

सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत् । धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरथन्तरमाजभारा वसिष्ठः । अविन्दन्ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत् । धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदाचक्रे अग्नेः

इति संहितायामाम्नातम्, इदं मन्त्रद्वयं "तेऽविन्दन्" इत्यादिमन्त्रश्चेति त्यृचं सूक्तं (१०-१८१) प्रवर्ग्ये अभिष्टवे विनियुक्तम् । तत्र प्रथममन्त्रे यस्य प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नाम ते आनुष्टुभस्य हिवषो हिवर्यत् तदिवन्दिन्निति पूर्वार्धे योजना, प्रथसप्रथनामानौ राजानाविति आनन्दतीर्थाः । ऋषी इति सायणाचार्यः, चकारद्वयमनुक्तसमुच्चये, अत एव "अविन्दन्ते" इत्युत्तरमन्त्रे ते इति बहुवचनिर्देश उपपद्यते, हिवषः - "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महिवः" इत्यादौ हिवष्ट्वेन प्रसिद्धस्य, आनुष्टुभस्य - हयग्रीवानुष्टुप्प्रतिपाद्यस्य लक्ष्मीहयग्रीवस्य यथोक्तं द्वितीयारण्के "तदुक्तमृषिणा अनुष्टुभमनुचञ्चूर्यमाणमिन्द्रन्निचिक्युः कवयो मनीषा" इति "वाचि वैतदैन्द्रं प्राणं न्यचाय्यन्नित्येतदुक्तं भवतीति" तत्र हयशिरा एव प्रतिपाद्यः, तथा हि स च मन्त्रस्संहितायां (१०-१२५) वाक्सूक्ताव्यवहितपूर्वपठिते "इमन्नो अग्ने" इत्यादिनवर्चसूक्ते (१०-१२४)

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम् । अनुष्टुभमनुचञ्चूर्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा

इति समग्रः पठितः, तत्र

इमन्नो अग्ने उपयज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् । असो हव्यवाळुत नः पुरोगा ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः इति प्रथममन्त्रेण प्राकृतप्रलये तमोऽवस्थापन्नप्रकृतिसंश्लिष्टस्य "साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः" इति सूत्रोक्तन्यायेनाग्निशब्दवाच्यस्य भगवतो वासुदेवस्यैव यज्ञाराध्यत्वम् "अयज्ञियाद्यज्ञियं भागमेमि" (२) इत्यनेन वासुदेवोद्देश्यकहविश्शून्यक्रतावेवाग्न्यादेर्हविर्भागार्हत्वम् "अग्निस्सोमो वरुणस्ते च्यवन्ते" इत्यनेन वासुदेवस्याच्युततत्वव्यञ्जनपूर्वकमग्न्यादिदेवानामनित्यत्वमप्सृष्टिं तत्रानिरुद्धस्य शयनञ्चाभिधाय "बीभत्सवो अपवृत्रादितष्ठन्" इत्यनेन हयग्रीवसम्बन्धेच्छावतां हयग्रीवानुग्रहेण वृत्रहनने सति भयाभावञ्चोक्त्वा अनन्तरमयं पठितः,

"पतङ्गमक्तम्" इत्यादिश्रुत्यर्थः 🕄

अत्र पूर्वोदाहृतमात्स्यहरिवंशतृतीयपर्ववचनाद्यनुरोधेन वाक्पतिर्हयग्रीव एव हंसेन्द्रशब्दवाच्यो हयग्रीवानुष्टुप्प्रतिपाद्यो विवक्षितः, अत एव तदनन्तरवाक्सूक्ते "मम योनिरप्स्वन्तस्समुद्रे" इत्यत्र वाग्देव्या आत्मनस्समुद्रस्थानमिति वक्ष्यते, योनिशब्दश्च "एष ते योनिः प्राणाय त्वा" इत्युपांशुग्रहसादनमन्त्रे स्थानरूपार्थे प्रयुक्तः

यस्स देवो हृषीकेशः पद्मनाभस्त्रिविक्रमः । कृष्णवर्त्मा युगान्ताभो विश्वस्य जगतः प्रभुः ॥ ३ ॥ ४४ ॥ ३५ ॥ समुद्रयोनिर्महाहव्यभुक्क्रतुसत्कृतः ।

इति तदुपबृह्मणे हरिवंशवचने योनिशब्दस्थानवाची "योनिष्ट इन्द्रनिषदे अकारि" इति मन्त्रवर्णात् — इति नीलकण्ठोऽपि व्याचख्यौ "इमन्नो अग्न" इत्यादिसूक्तमभिप्रेत्योक्तमाचार्यपादैः -

अग्नौ समिद्धार्चिषि सप्ततन्तोरातस्थिवान्मन्त्रमयं शरीरम् । अखण्डसारैर्हविषां प्रदानैराप्यायनं व्योमसदां विधत्से ॥ (ह- स्तो)

इति । एवं व्यासेनापि "अयं हयशिरा भूत्वा" इत्यारभ्य "मत्स्यः कूर्मो वराहश्च" इत्यादिना दशावतारान् प्रक्रम्य अन्ते "हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च" इत्यादिना मोक्षधर्मे नारायणाख्याने उपसंहृतमिति पूर्वमेवोक्तम् । अतश्च "आनुष्टुभस्य" इत्यादेर्यथोक्त एवार्थः - एतेन

> पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा मनीषिणः । समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः । पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति । तां गन्धर्वोऽवदद्गर्भे अन्तः । तां द्योतमानाग्ँ स्वर्यं मनीषा । ऋतस्य पदे कवयो निपान्ति

इति प्रवर्ग्याभिष्टवविनियुक्त(१०-१७७)त्यृचसूक्तघटकमन्त्रद्वयैकरस्यमपि सङ्गच्छते । इमौ च मन्त्रौ तैत्तिरीयारण्यके सप्तहोतृहृदयपठितौ । तत्तात्पर्यञ्च (२३८) पूर्वमेवोक्तम् । विश्वकर्मसूक्तैककण्ठ्येनानयोर्मन्त्रयोरथों निर्णेयः । अतश्च "प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत्" इति ऋक्पूर्वार्धस्य यथोक्त एवार्थः ।

'प्रथश्च यस्य' इति मन्त्रोत्तरार्धार्थः सारस्वतसूत्रोक्तं वाग्देव्या वृत्रहन्तृत्वम्®

ऐतरेयारण्यके "वाग्वै रथन्तरम्" इति पूर्वोक्तार्थो विसष्ठोपक्रमम् इत्याह "धातुः" इत्यादिना उत्तरार्धेन, धातुः सर्वाधारत्वेन सर्वधारकाद्वासुदेवात्, द्युतानात् "द्युरग्नौ दिवसेऽपि स्यात्" इति विश्वकोशात् द्युम् अग्निम् विश्वसंहारार्थं तनोति विस्तारयतीति द्युतानात्सङ्कर्षणात्, सवितुः ऐश्वर्यशालिनः प्रद्युम्नात् "षुप्रसवैश्वर्ययोः" इति वैयाकरणाः । विष्णोः – अनिरुद्धात् ।

प्रद्युम्नादनिरुद्धं त्वं यं विदुर्विष्णुमव्ययम् । अनिरुद्धोऽसृजन्मां वै ब्रह्माणं लोकधारिणम् ॥ ६५ ॥ ७१ ॥

इति भीष्मपर्ववचने अनिरुद्धस्य विष्णुत्वं स्पष्टम्, वसिष्ठः - रथन्तरं, स्वेनैव स्मृतौ वाक्सूक्तवत्सर्ववेदपवित्रेषु परिगणितमिति भावः, आजभार — आजहार आहृतवान्? यत एवं वसिष्ठश्चतुर्मृर्तिधरादिनरुद्धाद्रथन्तरवैभवमजानादत एव वृत्रयुद्धे इन्द्रमेतत्प्रत्यबोधयत् । एतच्च

तस्य वृत्रगृहीतस्य मोहस्समभवन्महान् । रथन्तरेण तं साम्ना वसिष्ठः प्रत्यबोधयत् ११-१८

इत्याश्वमेधिके

तस्य वृत्रार्दितस्याथ मोह आसीच्छतक्रतोः । रथन्तरेण तं तत्र वसिष्ठस्समबोधयत् (२८७ - २१)

इति मोक्षधर्मे च व्यास एव स्पष्टमाह ॥

(ऋ) सारस्वतसूक्ते -

सरस्वति देवनिदो निबर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्यमायिनः ॥ ३ ॥ वृत्रघ्नीवष्टिसुष्टुतिम् ॥ ७ ॥

इत्यत्र बृसयस्य - त्वष्टुः प्रजारूपवृत्रस्य वधो वाग्देव्यनुग्रहणेति व्यक्तम् - यद्यपि —

सखे विष्णो वितरं विक्रमस्वद्यौर्देहि लोकं वज्राय विष्कभे । हनाव वृत्रं रिणाचावसिन्धूनिन्द्रस्य यन्तु प्रसवेविसृष्टाः ॥(८ मं-१०० सू-१२) अथाब्रवीद्वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व । (४-१८-११) (तै—सं) त्रीन्लोकानभिवृत्यैतान् वृत्रस्तस्थौ स्वया त्विषा । तं नाशकद्धन्तुमिन्द्रो विष्णुमभ्येत्य सोऽब्रवीत् ॥

वाग्देवीविष्णूभयानुग्रहेण वृत्रवध इति निष्कर्षः ③

वृत्रं हिनष्ये तिष्ठस्व विक्रम्याद्य ममान्तिकम् । उद्यतस्य तु वज्रस्य द्यौर्ददातु ममान्तरम् । तथेति विष्णुस्तच्चक्रे द्यौश्वास्य विवरं ददौ । तदेतदखिलं प्रोक्तं सखे विष्णो इति त्वृचा । (८-१००-११ सायणीये) (बृहत्-६-१११-१२४ शौ) वृत्रे विवर्धमाने तु कश्मलं महदाविशत् । कालेयभयसन्त्रस्तो देवस्साक्षात्पुरन्दरः । जगाम शरणं शीघ्रं तं तु नारायणं प्रभुम् ॥ ९ ॥ तं शक्रं कश्मलाविष्टं दृष्ट्वा विष्णुस्सनातनः । स्वतेजो व्यदधच्छक्रे बलमस्य विवर्धयन् ॥ १० ॥ (भा-व-प-१०९-८)

इत्यत्र विष्णोरनुग्रहेण वृत्रवध उक्तः, तथापि प्रमाणद्वयाविरोधाय उभयानुग्रहमूलकत्वं वृत्रवधस्याङ्गीकरणीयम् । ऋग्वेदे वाग्देव्या विष्णुपत्नीत्वबोधनाय 'यद्वाग्वदन्ति' 'देवीं वाचम्' इति (आ. दश्लो) मन्त्रद्वयानन्तरं 'सखे विष्णो' इति मन्त्रपाठेनाप्ययमर्थस्सूच्यते । अत एव (शां-मो) उदाहृतवचनोत्तरम् ।

विष्णुश्च भगवान् देवस्सर्वलोकाभिपूजितः । ऐन्द्रं समाविशद्वज्रं लोकसंरक्षणे रतः ॥ २८७ ॥ ३१ ॥

इत्युक्तिस्सङ्गच्छते, तैत्तिरीयके ऋग्वेदे च वृत्रवधजातब्रह्महत्यापनोदनार्थविश्वकर्मसूक्ते वाचस्पतिशब्देनाप्युक्तार्थस्थिरीकृतः - ऋक्संहितायां वाक्सूक्ताव्यवहितपूर्वसूक्ते "बीभत्सवो अपवृत्रादितष्ठन्" इत्यनन्तरं पठितं "बीभत्सूनां सयुज हंसमाहुः" इत्यादिमन्त्रं प्रस्तुत्य ऐतरेयारण्यके "वाचि वैतदैन्द्रं प्राणं न्यचाय्यन्" इति विवरणमप्यत्र मूलं बोध्यम् । अतो - रथन्तरमाजभारा वसिष्ठ — इत्यत्र यथोक्त एवाशयः ।

सेश्वरमीमांसागत 'चत्वारि शृङ्गा' इति मन्त्रार्थः - रुद्रशब्दार्थश्च®

अविन्दन्नित्यादि — यज्ञस्य परमन्धाम अतिहितं गुहायत्तते अविन्दन्निति योजना यज्ञस्य "यज्ञो वै विष्णुः" इति प्रसिद्धस्य, परमम् उत्कृष्टम्, धाम तेजः वपुर्वा अतिहितं देवानामप्यतिशयेनोपकारकम्, अग्नेरित्यस्य धातुरित्यादिना सामानाधिकरण्येनान्वयः, धातुरित्यादेः पूर्ववदेवार्थः । आचक्रे आकारयामास, चतुर्मूर्तिधरस्य वासुदेवस्याग्नित्वं -

यो यज्ञैरिज्यते देवो वासुदेवस्सनातनः । स सर्वदैवततनुः पूज्यते परमेश्वरः ॥

अ ॥ २० ॥ इति कूर्मपुराणे भरद्वाजेनैवोक्तम् । एवं

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो ऋषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यागुँ आविवेश (तै. ना. उ.) इत्यग्निप्रार्थनालङ्करणमन्त्रे प्रसिद्धेऽप्ययमर्थस्स्फुटः, मन्त्रञ्चेममधिकृत्येत्थमुक्तं सेश्वरमीमांसायामाचार्यपादैः "अस्य मन्त्रस्यायमर्थः "यज्वभिर्यज्ञपुरुषो वासुदेवश्च सात्त्वत्तैः" इत्यादिप्रसिद्धः" इत्युपक्रम्य "रोरवीति - श्रुतिमुखरमुखत्वात्, तथा च श्रूयते "तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेद" इत्यादिमहाभारते यज्ञानुबन्धिरूपान्तरप्रादुर्भावे पठ्यते "ओङ्कारमुद्गिरन्वक्त्रात्सावित्रीञ्च तदन्वयात्" इति नन्वपांसूक्ते पठितोऽयं मन्त्रोऽब्दैवत्यः प्राप्तः "समुद्रादूर्मिः" इत्यपांसूक्तमेकादशर्चकमिति स्नाने शौनकेन विनियुक्तश्चेति नैतादृशार्थपर इति चेन्न पुरुषस्यैवापाम्पतित्वात् । यथोक्तं स्नानयाज्ञवल्क्ये -

प्रणवं वा त्रिरभ्यस्येत्स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम् । विष्णोरायतनं ह्यापस्सह्यपांपतिरुच्यते ॥

इति अतस्स्नानेऽस्य विनियोगोऽप्युपपन्नः, अपाञ्च विष्णुना सनाथतया पावनतमत्वादिलक्षणाप्रशस्तिर्दर्शिता भवति । न चान्यस्य कस्यचिदप्स्वरूपानुबन्धिन एवंरूपमस्ति । अतोऽत्र रूपविशेषवत्परमात्मप्रतिपादकत्वं नानुपपन्नाम्" इति अत्र "रोरवीति श्रतिमुखरमुखत्वात्" इति व्याकुर्वतामाचार्यपादानां

> यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद्विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानग्ँ स नो देवश्शुभया स्मृत्या संयुनक्तु

इति मन्त्रे रुद्रशब्दस्य रुत्—

'स इदग्निः कण्वतमः' (ऋ. सं) 'एकोहगँ सः' 'यो ब्रह्माणम्' (श्वे. उ.)®

वेदः, तं द्रवति अभिगच्छतीति व्युत्पत्या हयग्रीव एवार्थ इति विवक्षितमिति प्रतीयते योगरूढशब्दानां योगार्थस्य पूर्वमुपस्थितिर्यत्र तत्र योगस्यैव रूढ्यपेक्षया प्रबलतया यौगिकत्वमेवेत्यपशूद्राधिकरणन्यायरक्षामणौ दीक्षितैरेव सिद्धान्तितत्वात् तैत्तिरीयोपनिषद्विद्यारण्यव्याख्याने पूर्ववदेव रुद्रशब्दयोगमात्रप्रदर्शनाच्च । एवम् ऋग्वेदे धर्मसूक्तानन्तरसूक्ते

स इदग्निः कण्कतमः कण्वसखार्यः परस्यान्तरस्य तरुषः । अग्निः पातु गृणतोऽग्निस्सूरीनग्निदंदातु तेषामवो नः

इति मन्त्रे अग्निशब्देन निर्दिष्टस्य शब्दायमानस्य कण्वप्राचार्यस्य अनन्तरमन्त्रे "वाजिन्तमाय" इत्यनेन प्रतिपादितमतिशयितवाजित्वं हयशिरोरूपमेव, किञ्च श्वेताश्वतरषष्ठाध्याये "एको हग्ँसो भुवनस्य मध्ये स एवाग्निस्सिलले सिन्नविष्टः इत्यारभ्य "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इत्यन्तसन्दर्भेऽप्ययमर्थोऽवसेयः । ऋग्वेदे वाक्सूक्ताव्यवहितपूर्वसूक्ते "इमन्नो अग्न उपयज्ञमेहि "बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्" इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यामयमर्थो दृढीकृत इति पूर्वमेवोपपादितम् । एवञ्च "अग्नौ सिमद्धार्चिषि",

इति सूक्तेस्तैत्तिरीयश्वेताश्वतरश्रुतयोऽपि मूलभूता इति बोध्यम् अतश्च द्वितीयमन्त्रोत्तरार्धे चतुर्मूर्तिधरो वासुदेव एवाग्निरिति सिद्धम् । "अविन्दन्ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहायत् इति पूर्वार्धे "यज्ञस्य धाम परमं गुहायत् — इत्यनेन अवरं कर्मपरतन्त्रमन्यदेवप्रवृत्तिधर्मभागीति प्रतीयते । एतच्च श्रुतितात्पर्यं मोक्षधर्मयज्ञाग्रहाराध्यायवचनैर्व्यञ्जितम् —

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि । प्रद्युम्नायाऽनिरुद्धाय नमस्सङ्कर्षणाय च ॥ १-५-३७ ॥ इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम् । यजते यज्ञपुरुषं ससम्यग्दर्शनः पुमान् ॥ ३८ ॥

इति श्रीभागवतवचनैरपि तद्दढीकृतम्।

विश्वकर्मसूक्तश्रुत्यर्थः ③

ब्रह्मवैवर्तेऽपि प्रकृतिखण्डे -

विष्णुयज्ञः प्रधानं हि सर्वयज्ञेषु सुन्दरि ।

ब्रह्मणा च कृतः पूर्वं महासम्भारसम्भृतः ॥ १७ ॥ १२५ ॥

देवानाञ्च यथा विष्णुर्वैष्णवानां यथा शिवः ।

इत्यारभ्य-

विष्णुयज्ञस्तथा वत्से यज्ञेषु च महानिति ॥ १३२ ॥

इत्युक्तम् - यथा हि श्रूयते ऋग्वेदेऽपि "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्" इत्यादिप्रथमविश्वकर्मसूक्ते

> या ते धामानि परमाणि यावमायामध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा । शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावस्स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥ ५ ॥ विश्वकर्मन् हविषा वावृथानस्स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् । मुह्यन्त्यन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवासूरिरस्तु ॥ ६ ॥ वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजवं वाजे अद्याहुवेम । स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥ ७ ॥

इति अत्र प्रथममन्त्रस्यायमर्थः स्वधावः - हे स्वधावन् "वाचस्पतिं विश्वकर्माण"मिति मन्त्रानुसारेण श्रीमन्नित्यर्थः, व्यासार्थसूक्त्या स्वधाशब्दस्य, विष्णुस्मृतौ लक्ष्मीं प्रति भूम्याः "सरस्वती वागथ पावनी च" इति वचनेन वाक्छब्दस्यापि लक्ष्मीपरतायाः पूर्वमेवोपपादनात् वाचस्पतिशब्दस्य विष्णुस्मृतौ ॥ तथा विदितवेद्यानां गतिस्त्वं पुरुषोत्तम । प्रपन्नाऽस्मि जगन्नाथ ध्रुवं वाचस्पतिं प्रभुम् ॥ १५८ ॥ वासुदेवं महात्मानं पुण्डरीकाक्षमच्युतम् । सुरासुरगुरुं देवं विभुं भूतमहेश्वरम् ॥ ६० ॥ एकव्यूहं चतुर्बाहुं जगत्कारणकारणम् ।

इत्यत्र वासुदेवे प्रयोगाच्च विश्वकर्मन् — सृष्टिस्थितिलयकारक, या यानि, ते परमाणि धामानि – शरीराणि, अप्राकृतलोकवर्तीन्यप्राकृतानि परव्यूहरूपाणि प्राकृतलोकवर्तीन्यप्राकृतानि विभवरूपाणि जीवासंसृष्टानि पद्मनाभहयग्रीवमत्स्यकूर्मादिरूपाणि च,

विश्वकर्मसूक्तानुसारेण 'यज्ञस्य धामपरमम्' इत्यस्यार्थोपसंहारः ③

या मध्यमा यानि मध्यमानि कर्मपरवशजीवसंसृष्टानि प्राकृतानि भगवतश्शक्त्यावेशावतारगौणप्रादुर्भावपदवाच्यानि ब्रह्मरुद्रादिरूपाणि, अवमा अवराणि पूर्वकोटिद्वयव्यतिरिक्तानि, शरीराणि सन्ति, उत अपि च, इमानि तानि सर्वाणि, हविषि तत्तदधिकारिणां हविर्भागार्थं, देहि उपदिश वा, एकान्तियज्ञे तु वृधानः वर्धमानः, स्वयं तन्वं यजस्व जीवा संसृष्टमेव वासुदेवहयग्रीवादिरूपं याजय यजस्वेत्यन्तर्भावितणिच्, यद्वा सर्वत्रान्तर्यामिण एवाराध्यतया स्वशरीरमेव पूजयेत्यर्थः, अत्र "यो देवानां नामधा एक एव" इति विश्वकर्मसूक्तस्थप्राक्तनश्रुत्यैव ब्रह्मरुद्रादिशब्दैरपि भगवानेव बोध्यते, इति सिद्धयति तत्र च, प्रकारद्वयम्, "साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः" इति सूत्रोक्तेन निगमनिरुक्तव्याकरणादिमूलयोगेन बोधप्रकारः एकः, "शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्" इति सूत्रोक्तया श्रुतिस्मृतिपुराणयुक्त्यादिसिद्धयाऽपर्यवसानवृत्त्या बोधप्रकारोऽपरः जीवलिङ्गानन्यथासिद्धिस्थल एवं द्वितीयसरणिः, पक्षद्वयेऽपि न पारमैकान्त्यविरोध इत्यादिकमाचार्यसूक्तिनिष्णातानां सुगमम्,द्वितीयमन्त्रे "पृथिवीमुत द्याम्" इत्यस्य द्यावापृथिव्योरित्यर्थः, दिवि पृथिव्याञ्च विद्यमानानि शरीराणीति वार्थः, ये च लौकिका भगवन्तमन्तर्यामिणं विहाय देवतान्तराण्यनुसन्दधते तेऽभितो मुह्यन्तु अस्माकन्तु मघवा आधर्वणाद्दधीचर्षेः बृहदारण्यकादिश्रुत्युक्तप्रकारेण हयशिरस्तत्त्वं सम्यग्जानान इन्द्रः, सूरिः ज्ञानी, अस्तु इति, तृतीयस्यायमर्थः मनोजवं मनोवेगगामिनं, विश्वकर्माणं वाचस्पतिं वाग्देवीपतिं हयग्रीवं, वाजे यज्ञे ु हुवेम, सः वाचस्पतिः, विश्वानि सर्वाणि, हवनानि हवींषि, जोषत् सेवताम्, विश्वशम्भुः विश्वस्य . सुखोत्पादकः, साधुकर्मा अस्मदनुकूलव्यापारवान्, अवसे रक्षसि, इति । अतः 'प्रथश्च' इत्यादिसूक्ते 'यज्ञस्य धाम परमम्' इत्यत्राप्युक्त एवार्थः, यद्यपि ऋक्संहितायां "प्रथश्च" इत्यादिपूर्वमन्त्रद्वयानन्तरं

तेऽविन्दन्मनसा दीध्यानायजुष्कन्नं प्रथमा देवयानम् । धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरासूर्यादभरन् धर्ममेतम्

इति मन्त्रः सूक्ते पठितः, तथाऽप्यारण्यके संहितोपासनानुपयोगात्तदेकदेशेनोदाहृतः ।

'प्रथश्च यस्य' इत्यादेः 'अग्निर्वे देवानां इत्यादेश्च (ऐ) ब्राह्मणस्य अर्थः®

अत्र ऐतरेयब्राह्मणं

प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति धर्मतन्वः स तनुमेवैनं तत्सरूपं करोति । रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः भरद्वाजो बृहदाचक्रे अग्नेः इति बृहद्रथन्तरमेवैनं तत्करोति

इति अत्र वासुदेवादिशरीराणां धर्मशरीरत्वमभिधाय तेन प्रवर्ग्यस्य सशरीरत्वप्रतिपादनेन 'या ते धामानि परमाणि' 'यज्ञस्य धाम परमम्' इत्युक्तां विष्णोस्तनुमप्राकृतां ये न जानन्ति तेषामेव मन्दमतीनां "विष्णोश्शिरः प्रचिच्छिदतुः" इत्यस्यापातप्रतीत्या धनुष्कोट्या त्रिमूर्तिमध्यगतस्य विष्णोर्यज्ञपुरुषस्य शिरच्छेदेनाशिरस्कताप्रतीतिरिति सिद्धम् ॥ विष्णोः परमतनुस्थापकं परत्वं कण्ठत एव प्रतिपादयति ऐतरेयब्राह्मणोपक्रम एव दक्षिणीयेष्टिब्राह्मणम्

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः । आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति । दक्षिणीयमेकादशकपालं, सर्वाभ्य एवैनं देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति, अग्निर्वे सर्वा देवता विष्णुस्सर्वा देवताः एते वै यज्ञस्यान्त्यै तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च तद्यदाग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति अत एव तद्देवानुध्नुवन्ति । तदाहुर्यदेकादशकपालः पुरोडाशो द्वावग्नाविष्णूकैनयोस्तत्र लृप्तिः का वा विभक्तिः, इति अष्टाकपाल आग्नेयोऽष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दः । त्रिकपालो वैष्णवस्त्रिर्हीदं विष्णुर्व्यक्रमतसैनयोस्तत्र क्रुप्तिस्सा विभक्तिः

इति । अत्र शब्दान्तरं विहाय परमशब्दप्रयोगादुक्तपरमशरीरं विष्णोरिति विविक्षितिमिति प्रतीयते अवमः निकृष्टः परमः उत्कृष्टः, अग्नेरवमत्वं सकलदेवतार्थहविर्भागवाहित्वात् । तत्तद्भागरिहतत्वाच्च, वैशब्दः "अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्" "अग्निरेतु प्रथमो देवतानाम्" "अग्निमुखा वै देवाः" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिं सूचयित, सर्वदेवतार्थहविःप्रक्षेपाधिकरणत्वमेवाग्नेर्मुखत्वं, प्राथम्यमिप हविर्निबन्धनमेव, विष्णोः परमत्वं सर्वव्यापकत्वेन सकलदेवतान्तर्यामितया तत्तदर्थहविर्भागित्वात् ।

'अग्निर्वै देवानाम्' इत्यादिवाक्येन विष्णोः परमत्वसाधनम्③

विष्णुशब्देनैवायमर्थस्सुप्रसिद्धो ज्ञायत इति वैशब्दाप्रयोगः, एवमेव शतपथब्राह्मणम्

स वा एतमाग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति दक्षिणीयं तद्यदेतदाग्नावैष्णवं दक्षिणीयग्ँ हविर्भवत्यग्निर्वे सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वत्यग्निरुवा अवराद्ध्र्यो यज्ञस्य विष्णुः परार्ध(द्ध्र्य)स्तत्सर्वाश्च देवता इति सर्वञ्च यज्ञं परिगृह्य दीक्ष इति तस्मादाग्नावैष्णवा भवति आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यग्निर्वे सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वत्यग्निर्वे यज्ञस्यावराद्ध्यो विष्णुः पराद्ध्यस्तत्सर्वाश्चैतद्देवताः परिगृह्य सर्वञ्च यज्ञं परिगृह्य दीक्षा इति तस्मादाग्नावैष्णवा एकादशकपालः पुरोडाशो भवति

॥ ३ । १ । ३ ॥ इति माध्यन्दिनपाठे, अत्र अवराद्धर्यः, पराद्धर्यः, इत्यत्र
"परावराधमोत्तमपूर्वाच्च" (४-३-५) इति यत्, "पराद्धर्याग्रप्राग्रहार" इत्याद्युत्तमपर्यायेष्वमरः
"आग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोति" इति सर्वदेवतार्थहविर्भागवाहित्वेनाग्नेर्विष्ण्वपेक्षया
निकर्ष उक्तः, विष्णोरुत्कर्षस्य प्रसिद्ध्या अनुक्तिः, अयमेवार्थः "एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ"
इत्यैतरेयवाक्यात्सङ्गृहीतः एवं तैत्तिरीयेऽपि यथा सौमिके काण्डे "देवासुरास्संयत्ता आसन् ते देवा
बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तस्मादाहुरग्निस्सर्वा देवता इति" पौरोडाशिकेऽपि काण्डे "ते देवा अग्नौ
तनूस्सन्यधत्त तस्मादाहुरग्निस्सर्वा देवता इति" अतश्चैतरेयब्राह्मणे अग्नेरवमत्वं यथोक्तमेव ॥ ननु
ऐतरेयब्राह्मणोपक्रमे "अग्निर्वे सर्वा देवताः विष्णुस्सर्वा देवताः" इति, अग्निविष्ण्वोरविशेष एव
वक्ष्यते इति आदाविप, अवमपरमशब्दौ न निकृष्टोत्कृष्टवाचिनौ, किन्तु यष्टव्यदेवतासु
प्रथमान्तिमपरावेव तौ, अत एव "अग्निरग्रे प्रथमो देवतानां संयातानामुत्तमो विष्णुरासीत्,
यजमानाय परिगृह्य देवान्" इति दी[[दिक्षे??]]क्षणीयानुवाक्यामन्त्रैकार्थ्यमिति (शि-त-वि)
शङ्कामपाकर्तुं चोदयित, ऐतरेयब्राह्मणे "तदाहुः" इत्यादिना "का वा विभक्तिः" इत्यन्तेन ॥
परिहरति "अष्टाकपालः" इत्यादिना, अत्र सायणीयम् ।

'विष्णोर्नुकम्' इत्यादि सूक्तत्रयेण तत्साधनम्®

'गायत्र्याख्यं छन्दोऽग्नेस्सम्बन्धि, तयोरग्निगायत्र्योः प्रजापतिमुखजन्यत्वसाम्यात्, एतच्च मुखजन्यत्वं तैत्तिरीयास्सप्तमे काण्डे पठन्ति,

> प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति । समुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवता अन्वसृजत गायत्रीच्छन्द इति ॥

इति, अतश्चाग्नेँ प्रजापतिमुखजन्यत्वेन निकर्ष उक्तो भवति, विष्णोस्सर्वोत्कर्षमाह "त्रिर्हीदं विष्णुर्व्यक्रमत" इत्यनेन, " त्रिर्हीदं विष्णुर्व्यक्रमत" इत्यस्यार्थः ऋक्संहितायां द्वितीयाष्टके "विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्" इति "प्रवः पान्तमन्धसः" इत्यादिवैष्णवषडृच (१-१५५-१५६) सूक्तद्वये विशदीकृतः ॥

विष्णोर्नुकं जपेत्सूक्तं विष्णुभक्तिर्भविष्यति । ज्ञानोदयं तपः पश्चाद्विष्णुसायुज्यमाप्नुयात् ॥ ४० ॥ प्रवः पान्तं जपेत्सूक्तं सहस्रं विष्णुमन्दिरे । कृतघ्नान्नं यदा भुङ्क्ते तदा पापात्प्रमुच्यते ॥ ३७९ ॥

इति (ऋग्विधाने)

शौनकोऽहं प्रवक्ष्यामि नित्यं विष्ण्वर्चनं परम् । प्रवः पान्तमन्धस इत्यर्धर्चविधानतः ।

इति च शौनकेन विनियोग उक्तः । तदनन्तरं पञ्चर्चवैष्णवसूक्ते -

भवामित्रोजपेन्मन्त्रं शतवारं दिने दिने । आधिर्न संस्पृशेत्सत्यं विद्यया सह तिष्ठति ॥ ३६४ ॥

इति शौनकेन विनियुक्ते

भवामित्रोनशेव्योघृतासुतिर्विभूतिद्युम्न एवया उसप्रथाः । अधा ते विष्णो विदुषाचिदर्घ्यस्तोमो यज्ञश्च राध्यो हविष्मता ।

इति प्रथममन्त्रे स्तोमयज्ञयोर्विष्णुसम्बन्धादेवातिशय उक्तः । एतच्छ्रुत्यर्थ एव "विष्णुयज्ञ-प्रधानं हि सर्वयज्ञेषु सुन्दरि ।" इति ब्रह्मवैवर्तवचनेनोक्तः अनन्तरं "यः पूर्व्याय वेधसे" "तमुस्तोतारः पूर्वम्" इत्यादिमन्त्रद्वयं पठितम् ॥

'सोऽध्वनपारम्' (क) इत्यादिभिस्तत्साधनम्®

यः पूर्व्याय जपेन्मन्त्रं शतवारं दिनेदिने । जीवबुद्धिस्सदा नास्ति स्वात्मन्येव स्थिता ततः ॥ ३६५ ॥ तमुस्तोतारो मन्त्रं दिनं प्रति जपेद्दश । मूलाऽविद्या न संस्पृष्टा जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ ३५५ ॥

इति शौनकीये ऋग्विधाने विनियोगः कथितः ॥ एवं "तव श्रिये मरुतो मर्जयन्ति" इत्यादिषु च विष्णुप्रसादेन रुद्रस्योत्कर्षादिकमिति स्पष्टम्, इति स्मृतिरत्नाकरकृतः । "तव श्रिये" इति मन्त्रस्य यथा त्रिविक्रमावतारमिहमपरत्वं तथा पाराशर्यविजये जिज्ञासाधिकरणे स्पष्टमुक्तम् । एवं "अस्य देवस्य मीढुषो वया विष्णोः" इत्यादिऋचस्तोत्रभाष्योदाहृता विष्णूत्कर्षपराः । 'अस्य देवस्य' इति श्रुत्यर्थः गीतार्थसङ्ग्रहरक्षायामुक्तः - श्रुत्यन्तराण्यपि "अग्निर्वे" इत्यादेर्यथोक्तमर्थं द्रढयन्ति, यथा कठवल्ल्याम्, प्राप्य निरूपणावसरे "सोध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इति अत्र - तद्विष्णोः व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं स्थानम् - इत्यादि (शं) उपनिषद्भाष्यम् – अस्य विष्णूत्कर्षपरत्वमेव न तु विष्णुप्राप्यपरमशिवोत्कर्षपरत्वमिति शङ्कराचार्यस्सहस्रनामा[[म??]]भाष्यादौ स्थापितमिति पूर्वमेव (१५४) निरूपितम् । एवं सुबालोपनिषदि षष्ठखण्डे सर्ववेदेषु च पठिते

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवाँव चक्षुराततम् ।

इति मन्त्रे

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाग्ँ सस्समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ।

इति मन्त्रेऽपि विष्णोरुत्कर्षस्सिद्धः । तदुक्तं व्यासेनैव स्मृतौ ॥

न विष्ण्वाराधनात्पुण्यं विद्यते कर्म वैदिकम् । तस्मादनादिमध्यान्तं नित्यमेवार्चयेद्धरिम् । तद्विष्णोरिति मन्त्रेण सूक्तेन पुरुषेण वा । नैवाभ्यां सदृशो मन्त्रो वेदेषूक्तश्चतुर्ष्विप ॥

इति ।

अतो देवेति वर्गं वै जपं कुर्यादतन्द्रितः । ब्रह्माद्यैर्वन्दितः पश्चाद्विष्णोस्सायुज्यमापुयात् ॥

इति शौनकीये ऋग्विधाने विनियुक्ते ऋग्वेदे ॥१॥२॥७॥

'अतो देवा' इति वर्गेण 'अस्य वामस्य' इति सूक्तेन च तत्साधनम्®

अतो देवेतिवर्गे "अतो देवा अवन्तु नः" "इदं विष्णुर्विचक्रमे" "त्रीणि पदा विचक्रमे" "विष्णोः कर्माणि पश्यत" "तद्विष्णोः परमं पदम्" "तद्विप्रासो विपन्यवः" इति मन्त्रषट्कं पठितं, तत्र ऋग्वेदे "तद्विष्णो"रिति मन्त्रसहपठितानाम्मन्त्राणां शौनकीये ऋग्विधाने पृथगपि विनियोग उक्तः ॥

तद्विप्रासो जपेन्मन्त्रं शतवारं दिने दिने । अन्तकाले महाविष्णुं स्मरेत्किञ्चिन्न सर्वधा[[??]] ॥ २३७ ॥ अतो देवा इति मन्त्रं दिनं प्रति जपेच्छतम् । वासं याति महाविष्णोर्विष्वक्सेनादिभिस्सह ॥ २३८ ॥ इदं विष्णुर्जपेन्मन्त्रं शतवारं दिनेदिने । जयादिभिश्च(दीनाञ्ज)संयुक्तस्ततस्सारूप्यमेति सः ॥ २३९ ॥ त्रीणिपदा जपेन्मन्त्रं शतवारं दिनेदिने । सान्निध्यमेति विष्णोश्च वैनतेयादिभिस्सह ॥ २४० ॥ विष्णोः कर्माणि मन्त्रञ्च दिनं प्रति जपेच्छतम् । सायुज्यादिमहाविष्णोर्विष्वक्सेनादिभिस्सह ॥ २४१ ॥

इति एवम् ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके 'अस्य वामस्य' इत्यादिसुक्तेऽपि विष्णोः परत्वमवसेयम् -

अस्य वामस्य सूक्तं तु जपेच्चान्यत्र वा जले । ब्रह्महत्यादिकं दग्ध्वा विष्णुलोकं च गच्छति ॥

इति ऋग्विधाने शौनकेनास्य सूक्तस्य विनियोग उक्तः - वृद्धहारीतेन स्मृतौ कृष्णार्चने च । सूक्ते कृष्णविष्णुशब्दद्वयमुभयत्र मूलम् ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥४६॥

इति मन्त्रे एकः - 'कृष्णं नियानम्' ४७ 'विष्णोस्तिष्ठन्ति' ३६ इति मन्त्रोक्तः विष्णुः कृष्ण इति सिद्धम् ।

मैत्रायणीयश्रुत्यापि तत्साधनम् ③

एतेन "तद्विष्णो"रिति मन्त्रे अप्पयदीक्षितानां विष्णुकर्तृकप्राप्तिकर्मशिवपरतया विवरणप्रयासो दुराग्रहमूलक इति निर्णीयते । एवञ्च "सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परमम्पदम् ।" "पुरुषान्न परं किञ्चित्सकाष्ठा सा परा गतिः" इत्यत्र कठवल्ल्यां विष्णुपुरुषशब्दयोरैकार्थ्यं विष्णोः परत्वञ्च सिद्धम् । अथर्वशिखायां "चतुष्पादिदमक्षरम्" इति प्रणवं प्रस्तुत्य "द्वितीया विद्युमती कृष्णा विष्णुदैवत्या" याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यधमात्रा विद्युमती सर्ववर्णा पुरुषदैवत्या" इति पादद्वय एव विद्युमतीति पदप्रयोगेणोपक्रम एव विष्णुपुरुषयोरैक्यबोधनेन "सर्विमदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते" इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणा विष्णोरुत्पत्तिरकर्मकृतशरीरसम्बन्धरूपैवेति सिद्ध्यतीति पूर्वमेवोपवा[[पा??]]दितम् ॥ एवम् "अग्निर्वायुरादित्यः कालो यः प्राणोन्नं ब्रह्मा रुद्रो विष्णुः" इत्यारभ्य "कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य" इत्युदाहृतमैत्रायणीयचतुर्थप्रपाठकश्रुतिवाक्येऽपि पुरुषविष्ण्वोरेकत्वेन विष्णोरुत्कर्षसिद्धिः । अतएव "तस्मात्सर्गस्वर्गापवर्गहेतुर्भगवानसावादित्यः"

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय विष्णवे । योऽसावादित्ये पुरुषस्सोऽसावहमिति (मैत्रा)

इत्याद्युक्तिश्च सङ्गच्छते ॥ इत्थञ्च मनुस्मृत्यन्ते —

एनमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

इत्यत्र शाश्वतं ब्रह्म तत्रैव पूर्वं 'विद्यात्तु पुरुषं परम्' "क्रान्ते विष्णुम्" इत्यत्रोक्तो विष्णुरेव पुरुषो विवक्षितः । "आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यादि "तेन नारायणस्स्मृतः" इत्यन्ततत्स्मृत्युपक्रमानुरोधात् -

विष्णुरेव परं ब्रह्म त्रिभेदमिह पठ्यते । वेदसिद्धान्तमार्गेषु

इत्यादि वराहपुराणाद्यैकरस्याच्च ॥

'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' इति पा.सूत्रभाष्यात्तत्साधनम्®

एवञ्च मनुस्मृतौ 'तेन नारायणस्स्मृतः' इत्युपक्रमवचनस्य -

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम् । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम् ॥

इत्यन्तवचनैकरस्यञ्च । मनुस्मृतौ तदनन्तरम् ।

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः । जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥

इत्यत्रोक्तं मूर्तिपञ्चकञ्च -

अनिरुद्धं पृथिव्यंशे यजेत भवमुक्तये । अबंशे पूजयेद्योगी नारायणमुदग्रधीः ॥ प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे सङ्कर्षणमतः परम् । व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं समर्चयेत् ॥ ४ ॥ ११५ ॥

इति विष्णुतिलकसंहितायां स्पष्टम् । इत्थञ्च विष्णोस्सर्वोत्कृष्टत्वेन "अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्" इति दीक्षणीयापुरोऽनुवाक्यामन्त्रेप्यग्नेः प्राथम्यं पूर्वोपपादितरीत्यैव । विष्णोरुत्तमत्वञ्च हिवरुद्देश्यदेवतात्वसङ्गमनार्हा या या देवतास्तत्त्वविष्कं विविश्वतमिति "अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः" इत्यैतरेयब्राह्मणोपक्रमवाक्यस्य यथोक्त एवार्थः । तिददं सकलमिसन्धायैवाचार्यपादास्स्तोत्रभाष्ये नारायणस्य परत्वे "अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः" इति श्रुतिं प्रमाणतयोदाहार्षुः "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्" (पा. सू. ४-३-९८) इति सूत्रे "संज्ञैषा तत्र भगवतः" इति महाभाष्यम् । "सर्वव्यापी स भगवान्" (श्वे. उ. ३-११) इत्यत्र "सर्वव्यापी" इति वासुशब्दार्थोक्त्या, एवं स देवो भगवान्" (श्वे. उ. ५-४) इत्यत्र देवशब्दप्रयोगेण च वासुदेवशब्दार्थो भगवानिति श्रुतितात्पर्यनिर्णयेन वासुदेवशब्दः भगवत्संज्ञेत्युक्तम् ।

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः । ततस्स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

पराशरव्याससम्मत(श्वे)श्रुत्यर्थस्य महाभाष्यकृदभिप्रेतता③

तद्ब्रह्म परमं नित्यम् । (वि १-२-१४) इत्युपक्रमे,

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते । मैत्रेयभगवच्छब्दस्सर्वकारणकारणे ॥ (६-५-७२) एवमेष महान् शब्दो मैत्रेय भगवानिति । परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥ (७६) ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः ॥ (७९) इत्युपसंहारे चोदाहृतश्रुत्युपबृह्मणभूतपराशरवचनान्यपि महाभाष्यकृतामभिप्रेतानि । वासुदेवभगवच्छब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तभेदेऽपि एकव्यक्तिबोधकत्वेन वासुदेवशब्दस्य भगवत्संज्ञात्वकथनमुपपन्नम् । एवं -

> भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः । स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥ (महा. आ. प. १-२८२) शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिस्सनातनम् ॥

इति व्यासोक्तिरपि भाष्यकृदभिप्रेता । उदाहृतश्वेताश्वतरश्रुत्योः पूर्वं 'गिरिशन्त' (श्वे. उ. ३-५) इति यद्वनड्वान्' (श्वे. उ. ५-४) इति च गोवर्धनगिरिणा गोपानां क्षेमं विस्तारयतो यदुवृषभस्य (श्रेष्ठस्य) कृष्णस्य प्रतिपादनेन तस्य परवासुदेवाभिन्नतायाः स्फुटतया कृष्णार्जुनयोः नरनारायणावतारताया महाभारते बहुत्रोक्ताविप कृष्णस्यैव मुख्यप्रादुर्भावत्वम्, अर्जुनस्य गौणप्रादुर्भावत्वम् । तेन -

एवमुक्ता महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः । तूष्णीमासीत्ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥ (महा. अ. प. १२-४५) ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते । यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥ (अ.प. १२-४६) नरस्त्वमसि दुर्धर्षो हरिर्नारायणो ह्यहम् । काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी । (अ. प. १२-४७)

अर्जुनस्य गौणता वासुदेवस्य परत्वे पाणिन्यानन्दवर्धनशङ्करसम्मतिः ③

अनन्यः पार्थमत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च । नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥ (अ. प. १२-४८)

इत्यत्र अर्जुनस्य कृष्णाभेदोक्तिरपि गौणप्रादुर्भावाभिप्रायिकैव, न तु तात्विकाभेदपरा, इति महाभाष्यकृता निर्धारितं भवित । एतेन कैलासयात्राप्रकरणे बाणयुद्धप्रकरणादौ च रुद्रस्य नारायणाभेदोक्तिरपि गौणप्रादुर्भावाभिप्रायेणैवेति व्यञ्जितम् । पाणिनेरपि वासुदेवस्य परत्वमभिप्रेतमिति महाभाष्यकृता व्ववस्थापितम् । एतेन पाणिनिना मध्ये मङ्गळमप्यनुष्ठितं भवित । "अइउण्" इत्यादिसूत्रेषु अकारं विष्णुवाचकं मङ्गळपरमभिप्रयन् पाणिनिः 'वृद्धिरादैच्' इत्युपक्रमे आत् विष्णोः, वृद्धिरित्यर्थसूचनेन मङ्गळम्, 'अ अ' इत्युपसंहारे विष्णुवाचकशब्दोच्चारणेन च मङ्गळमभिसन्दधानः 'मङ्गळादीनि मङ्गळमध्यानि मङ्गळान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते इत्यपि शिक्षयित । इममर्थमभिप्रेत्यानन्दवर्धनो ध्वन्यालोके - 'भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः' इत्युपक्रम्य निर्णीतश्चायमंशश्चव्यतत्त्विद्धिरेवेत्याचख्यौ । शङ्कराचार्या अपि "स्मृत्यधिकरणे (शा. सू. २-१-१) 'यत्तत्सूक्ष्ममिवज्ञेयम्' इति परंब्रह्म प्रकृत्य । 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' । इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह । तथान्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मिन्नुर्गुणे (न्निष्क्रिये) सम्प्रलीयते' इत्याह ।

अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणस्सर्वमिदं पुराणः । संसर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः

इति पुराणे । भगवद्गीतासु च 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा, (भ.गी. ७-६) इति । परमात्मानमेव प्रकृत्यापस्तम्बः पठित 'तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे समूलं शाश्वितिकस्स नित्यः, (ध. सू. १-८-२३-२) इति' इति निरूपयन्ति ।

पञ्चविंशात्परस्य वासुदेवस्य सूर्यसिद्धान्तकृदभिमतत्वम् ③

"उत्पत्त्यसम्भवात्" (शा. सू. २-२-४२) इति सूत्रे भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्वं स चतुर्धात्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितः इति -

> योसौ नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित इति तन्न निराक्रियते

इति च कथयन्ति । अत्र नारायणाख्याने प्रथमाध्यायगतवचनेषु 'स ह्यन्तरात्मा' इत्यत्र (पृ. ३७) क्षेत्रज्ञः परवासुदेव इति, एकोनविंशेऽपि एवमेवेति (पृ. ९७) 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते । (ना. ६) इत्यत्र, पुरुषशब्दार्थे नित्यो वासुदेव इति च (पृ. ५१) पूर्वमेव निरूपितम् ॥ सूर्यसिद्धान्ते -

वास्देवः परं ब्रह्म तन्मूर्तिः पुरुषः परः । अव्यक्तो निर्गुणश्शान्तः पञ्चविंशात्परोऽव्ययः ॥ १२ ॥ प्रकृत्यन्तर्गतो देवो बहिरन्तश्च सर्वगः । सङ्कर्षणोऽयं सृष्ट्वादौ तासु वीर्यमपासृजत् ॥ १३ ॥ तदण्डमभवद्धैमं सर्वत्र तमसावृतम् । तत्रानिरुद्धः प्रथमं व्यक्तीभूतस्सनातनः ॥ १४ ॥ हिरण्यगर्भो भगवानेष छन्दसि पठ्यते । आदित्यो ह्यादिभूतत्वात्प्रसूत्या सूर्य उच्यते ॥ १५ ॥ परंज्योतिस्तमःपारे सूर्योऽयं सवितेति च । पर्येति भुवनान्येष भावयन्भूतभावनः ॥ १६ ॥ प्रकाशात्मा तमोहन्ता महानित्येष विश्रुतः । ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्युसामूर्तिर्यजूषि च ॥ १७ ॥ त्रयीमयोऽयं भगवान्कालात्मा कालकृद्विभुः । सर्वात्मा सर्वगस्सूक्ष्मः सर्वमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥ रथे विश्वमये चक्रं कृत्वा संवत्सरात्मकम् । छन्दांस्यश्वास्सप्तयुक्ताः पर्यटत्येष सर्वदा ॥ १९ ॥

उक्तार्थे ब्रह्मसिद्धान्तकृतोऽपि सम्मतिः यज्ञपुरुषस्य वासुदेवान्यताऽपि®

त्रिपादममृतं गुह्यं पादोऽयं प्रकटोऽभवत् । सोऽहङ्कारं जगत्सृष्ट्यै ब्रह्माणमसृजतप्रभुः ॥ २० ॥ तस्मै वेदान् वरान् दत्वा सर्वलोकपितामहम् । प्रतिष्ठाप्याण्डमध्येऽथ स्वयं पर्येति भावयन् ॥ २१ ॥

इति ।

ब्रह्मसिद्धान्ते —

नारायणस्सुरश्रेष्ठो वेदाकारेण वर्तते । छन्दश्शास्त्रं तस्य पादौ कल्पः पाणीमुखं तथा । शब्दशास्त्रं श्रोत्रयुग्मं निरुक्तं घ्राणमेव च । शिक्षाशास्त्रं ज्योतिषं तु नयनं पृष्ठमेव च ॥ ७ ॥ एतैरङ्गैरसावङ्गी राजते वेदविग्रहः । प्रधानमङ्गमेवेदमङ्गेष्वेष्वेव षट्सु च ॥ ८ ॥

इति चोक्तम् ॥ "ऋग्वेदपाठपठितं व्रतमेतत्सुदुश्चरम्" 'कथितो हरिगीतासु - सात्वतैर्धार्यते सदा-' 'एकव्यूहविभागो वा - चतुर्व्यूहश्च दृश्यते' इति

ये यजन्ति पितॄन् देवान् विष्णुमेव यजन्ति ते । अन्तर्गतस्स भगवान् नारायण इति श्रुतिः ॥

इति "मज्जन्ति पितरस्तस्य - ज्ञेयो विष्णुरिति श्रुतिः । इति च पूर्वोदाहृतनारायणाख्यानवचनैः ॥

ये केचित्सर्वलोकेषु दैवं पित्र्यं च कुर्वते । दानानि च प्रयच्छन्ति तप्यन्ते च तपोमहत् ॥ सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वरं विधिमास्थितः । सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥

इति व्याख्यास्यमानैतदुपाख्यानवचनैश्च

यज्वभिर्यज्ञपुरुषो वासुदेवश्च सात्वतैः । वेदान्तवेदिभिर्विष्णुः प्रोच्यते यो नतोऽस्म्यहम् । (५-१७-१५ वि. पु.)

इति वचने सात्त्वतवेदान्तवेदिसम्मत एवार्थो युक्त इति निर्णीतं भवति एवम् ऐश्वरेण सयोगेन 'विष्णुरैश्वरं विधिमास्थितः' इत्युक्त्या परमशरीरव्यतिरिक्तदेहवान् यज्ञपुरुषः विष्णुरन्य इति सूचितम्

दीक्षणीयादिवाक्यैः विष्णुर्यजमान इति स्थापनम् ③

'या ते धामानि परमाणि' इत्यादिश्रुत्या 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः' इत्यादा(बृ)विप मुख्यगौणरूपाणि विविक्षतानीति प्रतीयते श्रुतीनां चासामेतत्प्रघट्टकमूलता प्रागेव निरूपिता -एतेन "विष्णोश्शिरः प्रचिच्छिदतुः" इति शतपथब्राह्मणप्रवर्ग्यार्थवादवाक्यस्याप्यर्थः निर्धारितः "देवाह वै सत्रं निषेदुरग्निरिन्द्रस्सोमो मखो विष्णुर्विश्वेदेवा अन्यत्रैवाश्विभ्याम्" इति तत्रैवोपक्रमे "मखो विष्णुः" इत्यत्र मखपदेन यज्ञाभिमानी विष्णुरेव प्रक्रान्तः न तु त्रिमूर्तिमध्यग इति तस्यैव गौणप्रादुर्भावस्य यज्ञाभिमानिनश्शिरच्छेदस्ततः प्रतीयते इति । तत्र विष्णुशब्दः कथिमति चेत् 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यत्र तस्यापि ग्रहणात् किं च माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणे

> स प्रोर्णुते विष्णोश्शर्मासि शर्मयजमानस्येत्युभयं वा एषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च यदुह दीक्षते तद्विष्णुर्भवति यद्यजते तद्यजमानः

इत्यनेन विष्णुशब्दप्रयोगस्य दीक्षानिबन्धनत्वकथनात् 'विष्णोश्शिरः' इत्यत्र न त्रिमूर्तिमध्यगतनिर्णयसम्भवः अत्र सायणीयं "विष्णुशब्दः पुरुषोत्तमे प्रसिद्धः अत्राभिमतमर्थमाह "उभयं वा एष" इति, दीक्षणीयेष्टौ आग्नावैष्णवे हविषि विष्णुर्देवतेति, तत्संस्कारसंस्कृतो यजमानोऽपि विष्णुरित्यभिप्रायः" इति । अत्र पुरुषोत्तमशब्देन श्रुतार्थापत्त्या यजमान एव विवक्षित इति बोधितम् । ऐतरेयब्राह्मणेऽपि "अग्निर्मुखम्" इत्यादियाज्यानुवाक्यामन्त्रौ प्रस्तुत्य

अग्निश्च ह वै विष्णुश्च देवानां दीक्षापालौ तौ दीक्षाया ईशाते तद्यदाग्नावैष्णवं हविर्भवित यौ दीक्षाया ईशाते तौ प्रीतौ दीक्षां प्रयच्छतां यौ दीक्षयितारौ तौ दीक्षयेतामिति

इति विष्णोर्दीक्षापालत्वोक्त्या तदनुग्रहलब्धदीक्षावित यजमानेऽपि विष्णुशब्दो भाक्तः । एतदेवाभिप्रेत्य "देवा वै सत्रमासत" इत्यादितैत्तिरीयारण्यकप्रवर्ग्यार्थवादव्याख्याने सायणीये, "तस्मिन् सत्रे विष्णुशब्दवाच्यो यज्ञाभिमानी देवो गृहपतित्वेन दीक्षितः अतो विष्णुस्सत्रं कृतवानित्येवं विष्णुनाम्ना यश आसीत्" इत्युक्तम् ।

यज्ञाभिमानिनो विष्णोः हरिवंशवचनैश्शक्त्यावेशावतारता ③

"विष्णोः क्रमोऽस्याभिमातिहा" इत्यादिव्याख्यानेऽपि सायणीये "यज्ञप्रयोगं कृत्स्नं व्याप्नोतीति विष्णुर्यजमानः, यद्वा विष्णुना परमेश्वरेणाभेदोपचारं कृत्वा विष्णुरित्युच्यते" इति च । अनेन "यद्विष्णुक्रमान् कुरुते विष्णुरेव भूत्वा यजमानः" इति श्रुतिरपि व्याख्याता । एतेनेयं श्रुतिस्त्रिमूर्तिमध्यगतस्य विष्णोर्विष्णुत्वं कर्ममूलमिति भावेन प्रवृतेत्युत्प्रेक्षयन्तिशिक्षिताः । वस्तुतस्तु यज्ञाभिमानिदेवस्त्रिमूर्तिमध्यगतस्य विष्णोश्शक्त्यावेशावताररूपगौणप्रादुर्भाव इत्यभिप्रेत्य "देवा वै सत्रं निषेदुरग्निरिन्द्रस्सोमो मखो विष्णुः" इत्यत्र मखविष्णुपदप्रयोगः । तथा च "यज्ञो वै विष्णुः" इति स्वरसतस्सङ्गच्छते "विष्णोश्शिरः प्रचिच्छिदतुः" इत्यादिकमपि तस्यैव शिरश्छेदानुसन्धानपरम् । एवम् "अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त वसवः प्रातस्सवनम्" इत्यादिकमपि तत्परम् ।

दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते । विष्णुर्नामे हयोग्निस्तु धृतिमान्नाम नामतः ॥

इत्यरण्यपर्वाणि विष्णुशब्दोऽग्नावपि प्रयुक्तः यज्ञाभिमानी विष्णोः प्रादुर्भाव इति हरिवंशे स्पष्टम् । यथा प्रथमपर्वणि ।

स गत्वा ब्रह्मणो लोकं दृष्ट्वा पैतामहं पदम् । ववन्दे तानृषीन्त्सर्वान्विष्णुरार्षेण कर्मणा ॥ ४९ ॥ १२ ॥ सोऽग्निं प्राक्सवने दृष्ट्वा हूयमानं महर्षिभिः । अवन्दत महातेजाः कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ॥ १३ ॥ स ददर्श मखेष्वाज्यैरीज्यमानं महर्षिभिः । भागं यज्ञियमश्नानं स्वदेहमपरं स्थितम् ॥ १४ ॥ इति ।

तृतीयपर्वण्यपि -

विष्णुर्विष्णुत्वमापन्नो देहान्तरविसृष्टवान् । संरक्षति महायोगी सर्वांस्तान्त्सहचारिणः ॥ २८ ॥ ७१ ॥

पारिजातापहरणप्रसङ्गे विष्णोः कर्मवशत्वशङ्कापरिहारः ③

पुष्करे रमते विष्णुर्विष्णुरेव द्विधा कृतः । दीप्यमानस्स्वतेजोभिर्विधूम इव पावकः ॥ ७२ ॥ सोऽभिर्मनस्समुद्भूतः पृथिवीं तापयन्निव । अथ दीक्षां समास्थाय सर्वे विष्णुमया गणाः । पुष्करादग्निमुद्धृत्य प्रणीय च यथाविधि । जुहुवुर्मन्त्रविधिना

इत्यादि ।

ब्रह्माऽपि वैष्णवन्तेजो वेदोक्तैर्वचनैर्नृप । व्यतिरिक्तेन्द्रियो विष्णुर्योगात्मा ब्रह्मसम्भवः । दक्षः प्रजापतिर्भूत्वा सृजते विपुलाः प्रजाः ॥ २१ ॥ ८ ॥ विष्णुरेव महायोगी कर्मणामन्तरङ्गतः ।

इत्यादिना गौणप्रादुर्भावोऽप्युक्तः ॥ 'अग्निरवमो देवतानाम्' इत्यादिश्रुतौ विष्णोः गौणप्रादुर्भावताग्नेरिति अवमत्वाभिधानेन सिध्यति 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इत्युपक्रम्य तत्र तत्र संहितायां विष्णोः परत्वं ब्राह्मणेऽग्नेरवमत्वं चोक्त्वा उपनिषदन्ते विष्णोः परत्वोपसंहारात् – एतेन पारिजातापहरणप्रसङ्गे - धनुर्ज्यायाम्मुनिश्रेष्ठ भिन्नायां हि पुराऽनघ । धन्वीभिरमराणाञ्च वरदानान्महामुने ॥ २ ॥ ७० ॥ ३० ॥ उत्कृत्तशिरसो विष्णोः पुरा देहो धृतो मया । सन्धिते च शिरो यत्नाच्छिन्नं रौद्रेण तेजसा ॥ ३१ ॥ अहं विशिष्टो देवानामित्युक्त्वा पुनरच्युतः । धनुष्यारोप्य दर्पेण स्थितो नारद केशवः ॥ ३२ ॥

इति नारदम्प्रतीन्द्रवचनान्यपि व्याख्यातानि ।

अत एव तदनन्तरम् -

महेन्द्रवचनं श्रुत्वा नारदो वदतां वरः । विविक्ते देवराजानमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥ ७१ ॥ १ ॥

तत्रैव विष्णोः परत्वामिधानेन शङ्कितविष्णोरन्यता ③

कामं प्रियाणि राजानो वक्तव्या नात्र संशयः ॥ प्राप्तकालं तु वक्तव्यं हितमप्रियमप्युत ॥ २ ॥

इत्युपक्रम्य -

य एको विश्वमध्यास्ते प्रधानं जगतो हरिः । प्रकृत्याय परं सर्वे क्षेत्रज्ञं वै विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥ तस्याव्यक्तस्य यो व्यक्तो भागस्सर्वभवोद्भवः । तस्यात्मा परमो देवो विष्णुस्सर्वस्य धीमतः ॥ १४ ॥ नारायणो महातेजास्सर्वकृल्लोकभावनः । भोक्ता महेश्वरो देवः कर्ता विष्णुरधोक्षजः ॥ १८ ॥ एवं पुराणपुरुषो विष्णुर्वेदेषु पठ्यते । अचिन्त्यश्चाप्रमेयश्च गुणेभ्यश्च परस्तथा ॥ २० ॥ तेनोक्तं भुवने नास्ति मत्समः पुरुषोऽपरः । अंशेन तु भविष्यामि पुत्रँ खल्वहमेव ते ॥ २३ ॥

इत्यादिना सकलश्रुतितात्पर्यमाविष्कृत्य -

यथा पललपिण्डस्स्याद्व्याप्तस्स्नेहेन मानद । तथा जगदिदं व्याप्तं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २७ ॥

इत्यनेन

अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति, यस्सर्वान् लोकान्व्याप्नोति व्यापयित स्नेहो यथा पललिपण्डमोतप्रोतमनुप्राप्तं व्यतिषक्तो व्याप्यते व्यापयते यस्यान्नजातः परोऽन्योऽस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा प्रजापितः प्रजया संविदानस्त्रीणि ज्योतीग्ँषि स च ते स षोडशीति तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति

इति नृसिह्मपूर्वतापनीयश्रुत्यर्थमभिधाय - श्रुतार्थापत्त्या 'उत्कृत्तशिरसो विष्णोः' इति (२-७०-३१) पूर्वत्र महाविष्णुर्न विवक्षित इति व्यञ्जयित्वा -

यज्ञ इत्यपि सद्भिश्च कथ्यते वेदवादिभिः ।

इत्यनेन - "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुत्यर्थकथनमपि सङ्गच्छते ॥

प्रथमपर्वोक्तं विष्णोरनन्तप्रादुर्भाववत्त्वम् ③

अत्र "अंशेन तु भविष्यामि पुत्रः खल्वहमेव ते" इतिवत् अंशादिपदाप्रयोगेण उपेन्द्रावतारवत् यज्ञाभिमानीनांशावतारः, अपि तु कर्मपरवशश्शक्त्यावेशावताररूपगौणप्रादुर्भावोऽपि इति सूचितम् ॥ एवं प्रथमपर्वण्यपि —

आश्चर्यमपरं विष्णुर्देवैर्दैत्यैश्च कथ्यते । विष्णोरुत्पत्तिमाश्चर्यं ममाचक्ष्व महामुने ॥ ४० ॥ कर्म चाश्चर्यभूतस्य विष्णोस्तत्वमिहोच्यताम् ।

इति प्रश्नप्रतिवचने -

सहस्राक्षं सहस्रास्यं सहस्रभुजमव्ययम् । सहस्रशिरसं देवं सहस्रकरमव्ययम् ॥ ४१ ॥ आहुर्वेदविदो विप्रा यं यज्ञे शाश्वतं विभुम् । तस्य विष्णोस्सुरेशस्य श्रीवत्साङ्कस्य धीमतः ॥ १० ॥ प्रादुर्भावसहस्राणि अतीतानि न संशयः । भूयश्चैव भविष्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः ॥ ११ ॥ प्रादुर्भावांश्च वक्ष्यामि पुण्यान्दिव्यगुणैर्युतान् । छान्दसीभिरुदाराभिश्श्रुतिभिस्समलङ्कृतान् ॥ १५ ॥ तस्य ह्येका महाराज मूर्तिर्भवति सत्तमा । नित्यं दिविष्ठा या राजन् तपश्चरति दुश्चरम् ॥ १८ ॥ द्वितीया चास्य शयने निद्रायोगमुपाययौ । प्रजासंहारसर्गार्थं तमध्यात्मविचिन्तकम् ॥ १९ ॥ सुप्त्वा युगसहस्रं तत्प्रादुर्भवति कार्यतः । पूर्णे युगसहस्रं तु देवदेवो जगत्पतिः ॥ २० ॥ पितामहो लोकपालाः

इत्यादिना प्रलये सर्वेषां विष्णोर्देहप्रवेशम्,

पुराणदेवोऽथ पुराणि चक्रे प्रदीप्तवैश्वानरतुल्यतेजाः । येन चार्णवमध्यस्थौ

इत्यादिना ब्रह्मादिसृष्टिं मधुकैटभवधञ्चाभिधाय -

तृतीयपर्वोक्तं नारायणस्याकर्मवश्यावतारत्वं व्यूहसृष्टिश्च®

एष पौष्करको नाम प्रादुर्भावो महात्मनः । पुराणे कथ्यते यत्र वेदश्रुतिसमाहितः ॥ २७ ॥ एते चान्ये च बहवो दिव्या देवगणैर्युताः । प्रादुर्भावाः पुराणेषु गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥ १७० ॥ यत्र देवापि मुह्यन्ति प्रादुर्भावानुकीर्तने । पुराणं वर्तते यत्र वेदश्रुतिसमाहितम् ॥ १७१ ॥

इत्युक्तम् । अत्र विष्णोः परत्वस्य स्फुटमुक्त्या प्रादूर्भावेष्वेव गौणानामपि विवक्षाऽवसेया । तृतीयपर्वण्यपि -

> ब्रह्मसम्बन्धसम्बद्धमबद्धं कर्मभिर्नृप ॥ १६ ॥ २ ॥ अव्यक्तं कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम् । निष्कलः पुरुषस्तस्मात्सम्बभूवात्मयोनिजः ॥ १६ ॥ ३ ॥ दिव्यो दिव्येन वपुषा सर्वभूतपतिर्विभुः ।

इत्युपक्रम्य -

अपदात्सपदो जातस्तस्मान्नारायणोऽभवत् ॥ १६ ॥ १० ॥ अहन्त्विति सहोवाच प्रजास्म्रक्ष्यामि भारत । प्रभवस्सर्वभूतानां यस्य तन्तुरिमाः प्रजाः ॥ १२ ॥ अथ मूर्तिं समाधाय स्वभावाद्ब्रह्मचोदितः । ससर्ज सिललं ब्रह्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥ १६ ॥ यत्र विष्णुमयं तेजस्सर्वत्र समताङ्गतम् ॥ १७ ॥ १४ ॥ यत्तद्ब्रह्मोति वै प्रोक्तं ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ १७ ॥ १५ ॥ एतद्धितमिति प्रोक्तं ब्राह्मणैर्वेदपारगैः । यदेकं ब्रह्मणः पादं दिष्टत्वं गमितं पदम् । १७ ॥ २८ ॥ बहुत्वाद्विश्वभावानां विश्वशब्दः प्रयुज्यते ॥ ब्राह्मणैर्ब्रह्मभूतात्मा सत्यव्रतपरायणैः ॥ १७ ॥ १९ ॥ विश्वरूपं मनोरूपं बुद्धिरूपञ्च मानयन् । एवं द्वन्द्वं स भगवान् प्रथमं मिथुनं सृजन् ॥ १७ ॥ २० ॥

चतुर्मुखसङ्कल्पमात्रेण विष्णोरवतारः वेदादिसृष्टिश्च®

स एव भगवान्विश्वो देव्या सह सनातनः । विधाय विपुलान् भोगान् ब्रह्मा चरति सानुगः ॥ १७ ॥ २१॥ स एष भगवान् ब्रह्मानित्यं ब्रह्मविदां वरः ॥ १७ ॥ २२ ॥ मूर्धि ब्रह्मा समुत्क्षिप्य मनसाऽपि पितामहः ॥ असृजन्मनसा विष्णुं योगाद्योगेश्वरस्य च ॥ १७ ॥ ३६ ॥ व्यतिरिकेन्द्रियो विष्णुर्बिम्बाद्धिम्बमिवोद्धतः । तेजोमूर्तिधरो देवो नभसीन्दुरिवोदितः ॥ ३७ ॥ ब्राह्मणा वेदविद्वांसस्सत्यत्रतपरायणाः । नेतरे जात् पश्यन्ति अध्यात्मं नावबुध्यते ॥ १७ ॥ ४२ ॥ चन्द्रमण्डलसंस्थानाज्योतिश्चान्द्रं महत्तदा ॥ १७ ॥ ४४ ॥ प्रविश्य हृदयं क्षिप्रं गायत्र्या नयनान्तरे ॥ गर्भस्य सम्भवो यस्य चतुर्धा पुरुषात्मकः । ब्रह्मतेजोमयो युक्तश्शाश्वतोऽथ ध्रुवोऽव्ययः ॥ चन्द्रांश्विमलप्रख्यो भ्राजिष्णुर्वर्णसंस्थितः । नेत्राभ्यां जनयद्देवो ऋग्वेदं यजुषा सह ॥ सामवेदञ्च जिह्वाग्रादथर्वाणञ्च मूर्धतः । जातमात्रास्तु ते वेदाः क्षेत्रं विन्दन्ति तत्त्वतः ॥ ४८ ॥ तेन वेदत्वमापन्ना यस्माद्विन्दन्ति तत्पदम् । ते सृजन्ति तदा वेदा ब्रह्मपूर्वं सनातनम् ॥ पुरुषं दिव्यरूपाभं स्वैस्वैर्भावैर्मनोभवैः । अथर्वणस्तु यो योगश्शीर्षं यज्ञस्य तत्स्मृतम् ॥ ग्रीवाबाह्वन्तरञ्चैव ऋग्भागस्स भवेत्ततः । हृदयञ्चैव पार्श्वञ्च सामभागस्तु निर्मितः । बस्तिशीर्षं कटीदेशं जङ्घोरुचरैणस्सह । एवमेष यजुर्भागस्सङ्घातो यज्ञकल्पितः ॥

अनिरुद्धस्य हयशिरोरूपम् ③

पुरुषो दिव्यरूपाभस्सम्भूतो ह्यमरात्पदात् । स हि वेदमयो यज्ञस्सर्वभूतसुखावहः । उभयोर्लोकयोस्तात हिंसावर्ज्यस्सनातनः ॥ ५२ ॥ योगारम्भं कर्मसाध्यं ब्रह्मचर्ये सनातनम् । प्रभवं सर्वभूतानां यो विन्दति स वेदवित् ॥ स सिद्धः प्रोच्यते लोके सिद्धिरेव न संशयः । निर्मुक्तैस्सर्वकर्मभ्यो मुनिभिर्वेदपारगैः ॥ वैष्णवं यज्ञमित्येवं ब्रुवन्ते वेदपारगाः । ब्राह्मणा नियमश्रान्ता वेदोपनिषदे पदे ॥ ५६ ॥ तद्ब्रह्म चक्षुषोर्मध्ये सुसूक्ष्मः पुरुषो विराट् । तयोरन्यान् बहुन् सूक्ष्मान् सृजते पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥ १८ ॥ स एव भगवान्विष्णुर्व्यक्ताव्यक्तस्सनातनः । आधारस्सर्वविद्यानां प्रलये प्रलयान्तकृत् ॥ १९ ॥ तं मूर्ध्नि धातुभिर्नद्धं विशन्ति ब्रह्मचोदिताः । तेऽन्तरा पुरुषास्सर्वे ज्ञातारस्सुखदुःखयोः ॥ २० ॥ अव्यक्ताद्व्यक्तिमापत्नं स्वेन भावेन भारत । अन्तस्थं सर्वभूतेषु चरन्तं विद्यया सह ॥ २८ ॥ स्तूयमानश्च विबुधैस्सिद्धैर्मुनिवरैस्तथा । सस्मार विपुलं देहं हरिर्हयशिरो महान् ॥ २६ ॥ ४९ ॥ कृत्वा वेदमयं रूपं सर्ववेदमयं वपुः । शिरोमध्ये महादेवो ब्रह्मानु हृदये स्थितः ॥ ५० ॥ आदित्या रश्मयो लालाचक्षुषी शशिभास्करौ । जङ्घे तु वसवस्साध्यास्सर्वसन्धिषु देवताः ॥ ५१ ॥ जिह्वा वैश्वानरो देवस्सत्या देवी सरस्वती । मरुतो वरुणश्चैव जानुदेशे व्यवस्थिताः ॥ ५२ ॥

(बृ) तृतीयचतुर्थाध्यायार्थः ③

एवं कृत्वा तथा रूपं सुराणामद्भुतं महत् । असुरं पीडयामास क्रोधाद्रक्तान्तलोचनः ॥ ५२ ॥ ये तु विष्णुमधीयन्ते बहुधा कामविग्रहैः

इत्यादि च । अत्र वचनेषु यथार्हं बृहदारण्यकश्रुत्यर्थोऽनुसन्धेयः । अतश्च "देवा ह वै सत्रं निषेदुः" इत्यादिकाण्वशाखीयबृहदारण्यकप्रथमाध्यायप्रघट्टकस्य "नैवेह किञ्चनाग्रे" इत्यादेः "आत्मैवेदमग्रे" इत्यादेश्च पूर्वोक्त एवार्थः । अनन्तरञ्च जगतो ब्रह्मभिन्नत्वेन श्रुत्या प्रमितस्य "आत्मैवेदमग्र आसीत्" इति ब्रह्माभेदनिर्देशोपपादनाय प्रवृत्ते "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इत्यादिसन्दर्भे, आत्मनस्सर्वान्तः प्रवेशेन सर्वनामरूपभाक्त्वं चिदचिद्विशिष्टस्यैवात्मत्वं तद्वेदिनः पूर्णत्वं विशेषणविशेष्यमात्रवेदिनोऽपूर्णत्वं सर्वान्तर्यामिण एव निरतिशयप्रीतिविषयत्वमित्यादिकमुक्त्वा "त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म" इत्यादितृतीयाध्यायान्तिमब्राह्मणे प्रागुक्तान्येव नामरूपकर्माण्यनुक्रम्य

एतत्त्रयं सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकस्सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतग्ँ सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः

इति नामरूपसत्यत्वकथनपूर्वकमात्मनो नामरूपभाक्त्वमुपसंहृतम् ॥

चतुर्थाध्याये च प्रथमब्राह्मणे

य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदैषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथहैतत्पुरुषस्विपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुः गृहीतग्ँ श्रोत्रं गृहीतं मनः

स यथा महाराजो जानपदानि गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तते एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते

हितानामनाड्योद्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतित शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणोत्राऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते

इति प्रत्यगात्मनो बाह्यविषयसङ्गनिबन्धनदुःखविगमपूर्वकस्वात्मसुखानुभवहेतुभूतं प्रासादभूतासु नाडीषु खठ्वावदवस्थिते पुरीतति पर्यङ्कवत्सौषुप्तिकविश्रमस्थानं परमात्मानं प्रस्तुत्य

(वृ) ४ 'तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यम्' इति श्रुत्यर्थः 🕄

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्राविष्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेतस्मादात्मनस्सर्वे प्राणास्सर्वे लोकास्सर्वे देवास्सर्वाणि च भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति (माशा)

इति तस्यैव सकलचेतनाचेतनोपादानकारणत्वम् "तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इत्यनेन चेतनानां कर्मवशाद्धर्मभूतज्ञानद्वारा परिणामित्वेन स्वरूपेणावस्थावत्वेन कार्यत्वेऽपि स्वरूपेणावस्थावत्वेन कार्यत्वेऽपि स्वरूपतो निर्विकारत्वं, परमात्मनस्तु प्रकृतिद्वारा परिणामित्वेन स्वरूपतोऽवस्थावत्त्वेन चोपादानकारणत्वेऽपि जीववत्कर्मकृतज्ञानसङ्कोचविकासात्मकपरिणामविरहेण ततोऽपि निर्विकारत्वमित्युक्तं सर्वलोकादिस्रष्टृत्वं व्यष्टिसृष्टिकर्तुरुत्तरब्राह्मणे वक्ष्यमाणस्य शिशोरनिरुद्धस्य विविक्षितम् - अत्र - विज्ञानमयशब्देन जीवं प्रस्तुत्य सुषुप्ताविन्द्रियजन्यज्ञानविरहस्योक्त्या सुषुप्तौ ज्ञानसङ्कोचविकासात्मकविकारोऽपि नास्तीति जागरवैलक्षण्यं आत्मानो वै सत्यमित्यनभिधाय 'प्राणा वै सत्यम्' इत्युक्त्या प्राणशब्दस्य योगादिना इन्द्रियजन्यप्रसरयोग्यज्ञानवत्परतया विज्ञानविशिष्टस्य नित्यत्वविवक्षया इन्द्रियव्यापाराभावेऽपि विज्ञाननित्यत्वं — प्राणशब्दस्य सवृत्तिकप्राणसहचरितपरत्वे प्रबोधे तेषां व्युच्चरणोक्तेरयोगेण विष्फुलिङ्गदृष्टान्तेन च प्राणवृत्तेस्सद्भावनसुषुप्ताविप व्युच्चरणं न प्राणवृत्तिविशिष्टस्य किं तु विज्ञानप्रसरविशिष्टस्यैवेति च विवक्षितमिति बोध्यम् -

कथं स्वयं शिशुश्शेते लोके नाशमुपागते । तपसा चिन्तयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये ॥ अ.-प.-१९१-९४ ॥

अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः । अशिशुश्शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ॥१९२-४१६॥

इत्युक्तानिरुद्धरूपशिशुपरे शिशुब्राह्मणे

यो ह वै शिशुग्ँ साधानग्ँ स प्रत्याधानग्ँ सस्थूणग्ँ सदामं वेदसप्तहद्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणस्स्थूणान्नं दाम

(ब्-४ अ) शिशुब्राह्मणप्रतिपाद्यो वाक्पतियशिराः ③

इत्यत्र "प्राणस्स्थ्रणा" इति व्यूहस्य स्थ्रणात्वम् अनिरुद्धस्य वटपत्रशायिनो हयशिरसश्शिश्त्वं हृदयशरीरयोराधानप्रत्याधानरूपत्वम्, एतद्वेदितुः ज्ञानेन्द्रियमनोबुद्धिजयः फलमिति चाभिधाय "तमेतास्सप्ताक्षितयः" इत्यादिना हयशिरसि पूर्वोक्तेन्द्रियदेवतानामवस्थानमुक्त्वा "इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" इत्यश्वशिरसं इतरशिरोवैलक्षण्यं "वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ता" डित वागिन्द्रियाधिदेवताया हयास्यशक्तिरूपायाश्त्रियो हयशिरोरूपेण ब्रह्मणा संश्लेषविशेषश्चोक्तः । तदुक्तं "शरीरभूतभृत्" इति नामविवरणावसरे भट्टपराशरपादैः "शरीरभृतं तत्त्वजातं बिभर्तीति शरीरभृतभृत् "तच्छिरः" "तस्य मूर्धासमभवद्द्यौस्स नक्षत्रदेवता" इत्यारभ्य "एतद्धयशिरः कृत्वा नानामूर्तिभिरावृतम्" इत्यन्तम् इत्यादि । अत्र "तच्छिरः" इति बृहदारण्यकश्रुतिरेव विवक्षिता । ह्यशिरोनिरूपणेषु सर्वत्र शिरश्शब्दघटितानेव हयशिरोऽश्वशिर आदिशब्दान् प्रयुञ्जानो व्यासोऽपीमामेव श्रुतिमभिप्रैतीति भट्टपराशरपादानामाशयः । "वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ता" इति पूर्वब्राह्मणोक्तस्य ब्रह्मणः तृतीये "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे" "तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्" इत्यादिना चिदचिच्छरीरकत्वं वास्रदेवस्य पुरुषस्य सर्ववर्णदिव्यमङ्गलविग्रहवत्त्वं चतुर्थे श्रवणमननविषयस्यात्मनस्स्वाभाविकनिरतिशयानन्दत्वादिकं दर्शनसमानाकारध्यानविषयत्वं वेदादि सर्वस्रष्टृत्वादिकञ्चोक्तम् । अध्यायद्वयोक्तार्थेषु संशयपरिहारार्थं पञ्चमं मधुब्राह्मणमारब्धम् । तथा हि प्रथमाध्याये "स तया वाचा तेनात्मना इदग्ँ सर्वमसृजत किञ्चर्चो यजूँषि सामानि" इत्यत्रात्मनो व्यष्टिसृष्टिकर्तृत्वम् "आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः" इत्यादौ तस्यैव प्रलये सत्त्वं नामरूपभाक्त्वं सर्वान्तरत्वेन निरतिशयप्रियत्वम्, "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत" इत्यत्र ब्रह्मणः प्रलये सत्त्वादिकञ्चोक्तम् ।

वासुदेवानिरुद्धहयशिरसामैकस्य मधुब्राह्मणार्थता ③

एवञ्च "स तया वाचा तेनात्मना" "आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः" "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" "वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ता" "द्वे वा व ब्रह्मणोरूपे" "तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्" "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादौ पुरुषात्मब्रह्मशब्दाः किमेकां व्यक्तिं बोधयन्ति, उत नानाव्यक्तीरिति संशये तिन्नवृत्तये मधुब्राह्मणे त्रयाणामैक्यं निर्धार्य

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिस्सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चारास्सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मिन सर्वाणि भूतानि सर्वे देवास्सर्वे लोकास्सर्वे प्राणास्सर्व एत आत्मानस्समर्पिताः, इति वासुदेवस्य सर्वराजत्वमुपसंहृतम् एतेन वागीशस्य वासुदेवादनिरुद्धाच्चाभेदस्सिद्धः । कीर्तिश्श्रीर्वाक्च नारीणाम्' (भ-गी) 'लक्ष्यावास विद्यावास कीर्त्यावास श्रीवास' (ना-आ) इत्यत्र विद्यावाक्छब्दबोधितानां भगवच्छास्त्रे वासुदेवानिरुद्धहयशिरश्शक्तितया प्रसिद्धानां तिसृणां सङ्ग्रहार्थमेव बृहदारण्यके पूर्वं लक्ष्म्यादिशब्दाननादृत्य लक्ष्मीतन्त्राद्युक्तदिशा विद्याशब्दसमानार्थकवाक्छब्दप्रयोगस्तत्र तत्रेति ॥ एवं तत्रैव "इदं वै तन्मधुदध्यङाधर्वणोऽश्विभ्यामुवाच" इत्यादिना, "देवा वै तत्सत्रं निषेदुः" इत्यादिना प्रवर्ग्यविचारे प्रवर्ग्यतत्वोपदेष्टत्वेनोक्तस्याथर्वणस्य दधीचः नारायणकवचात्मकत्वाष्ट्रकक्ष्योपदेष्ट्रत्वकथनपूर्वकं वासुदेवस्य "याते धामानि परमाणि", इत्याद्युक्तसर्वविधरूपवत्त्वस्य तेन सर्वानुभाव्यत्वस्य च "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश, "इत्यादिना 'अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभूरित्यनुशासनम्' इत्यन्तेनोक्तेः, "विष्णोश्शिरः प्रचिच्छिदतः" इत्यापातप्रतीतिनिबन्धनमूर्खभ्रमोऽप्यपास्त इति । इदमेव मधुब्राह्मणमभिप्रेत्य, नारायणाख्यानादौ तत्र तत्र वासुदेवानिरुद्धहयशिरसामैक्याभिधानं हरिशब्दप्रयोगश्च एवं "वागीशमक्षरं ध्यायन्वासुदेवाख्यम्" इति विष्णुधर्मवचनमपि ॥ तदेतत्सर्वमभिप्रेत्योक्तमाचार्यपादैः, "वागीशाख्या वासुदेवस्य मूर्तिः" इति अत्र हयग्रीवमन्त्रानुमन्त्राद्यभिप्रायकम् 'अङ्केनोदूह्य वाग्देवीमाचार्यकमुपाश्रितः' इति वचनमनुसृत्य वाग्देव्या ईशः विवक्षितः इत्यलम् ॥

१५ सुनासिकेन@

[['सुनासिकेन' इत्याद्यवतारश्लोकार्थः]]

सुनासिकेति, समानकेनेति क्वचित्पाठः शोभनं मानं परिमाणं यस्य तेनेत्यर्थः, सुनासिकेनेति पाठे तु

मध्ये तु खलु निर्मांसा घोणा भवति पूजिता । घोणातटे प्रशस्येते अनुपूर्वायते शुभे (वी.-मि.-ल.-प्र. -४५९)

इत्युक्तलक्षणलक्षितनासिकायुक्तेनेत्यर्थः, चन्द्रप्रभो भूत्वा हयशिरः कृत्वा द्वितीयां तनुमास्थित इति योजना चन्द्रप्रभ इत्यनेन

श्वेतो रक्तस्तथा पीतस्सारङ्गः पिङ्ग एव च । नीलः कृष्णोऽथ सर्वेषां श्वेतश्श्रेष्ठतमो मतः (वी.-मि.-उ.-ल.-प्र.-४४०)

इत्युक्तसर्वश्रेष्ठश्वेतवर्णत्वमुक्तम्, एवमाग्नेयपुराणे २८९ अध्यायेऽश्वलक्षणकथनावसरे

शुकेन्द्रगोपचन्द्राभा ये च वायससन्निभाः । सुवर्णवर्णा स्निग्धाश्च प्रशस्यास्तु सदैव हि

इत्युक्तमपि लक्षणं सूचितम् ।

स विबुद्धस्तदा देवः कृत्वा हयशिरो महत् (धरम्) । शशाङ्कशतसङ्काशं नानाभरणशोभितम् ॥

इति विष्णुधर्मोत्तरेऽप्ययमर्थं उक्तः । तत्र नानाभरणभूषितत्वकथनेन शुक्लवर्णस्यापि हयशिरसः

सत्रे ममास भगवान् हयशीर्ष एव साक्षात्सयज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः

इति श्रीभागवतोक्तं तपनीयवर्णत्वमि युक्तमिति सिद्धम् । वेदानामालयमिति कचित्पाठः अस्य च हयशिर इत्यत्रान्वयः । अत्र मूलन्तु "चतुष्कपर्दा, युवतिस्सुपेशाः" "चतुष्शिखण्डा युवतिस्सुपेशाः" इत्यादिश्रुतिरिति घर्मसूक्तविवरणे निरूपितमस्माभिः । आलय इत्येव बहुषु कोशेषु दृश्यते । "आथर्वणस्तु यो योगश्शीर्षं यज्ञस्य" इत्युदाहृत(२८४)हरिवंशवचनैकार्थ्यमस्मिन् पक्षे बोध्यम् । अत्र मधुकैटभाभ्यां विग्रहधारिणां वेदानामपहारसमयेऽवतीर्णस्य हयशिरसो वेदालयत्वकथनेन भगवतो हयशिरसो वेदैर्नित्य एव सम्बन्धः परन्तु चतुर्मुखस्य कर्मवशत्वख्यापनाय मधुकैटभाम्यां वेदविग्रहापहारणं भगवता तदाहरणं चतुर्मुखाय तद्दानञ्च कृतमिति बोधितम् ॥

इति
 श्रीलक्ष्मीहयग्रीविदव्यपादुकासेवकश्रीमदिभनवरङ्गनाथब्रह्मतन्त्रपरकालमहादेशिककृति
 ष् श्रीहयशिरोरत्नभूषणं समाप्तम् ॥

०२ दीधिति-शेषः 🛈

०१ अवतार-कृत्यम् 2

मूलम् ③

मूर्तिनिरूपणम् अ

तस्य मूर्धासमभवद्दद्यौस्सनक्षत्रतारका । केशाश्चास्या भवन्दीर्घारवेरंशुसमप्रभाः ॥ ४८ ॥ कर्णावाकाशपाताले ललाटं भूतधारिणी । गङ्गासरस्वती पुण्ये भ्रुवावास्तां महाद्युती ॥ चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ ते [तु] नासा सन्ध्या पुनस्स्मृता । ओङ्कारस्त्वथ संस्कारो विद्युज्जिह्वा च निर्मिता ॥ ५७ ॥ दन्ताश्च पितरो राजन् सोमपा इति विश्रुताः । गोलोको ब्रह्मलोकश्च ओष्ठावास्तां महात्मनः ॥ ग्रीवा चास्याभवद्राजन् कालरात्रिर्गुणोत्तरा । एतद्धयशिरः कृत्वा नानामूर्तिभिरावृतम् ॥ ५२ ॥ अन्तर्दधौ स विश्वेशो विवेश च रसां प्रभुः। रसां पुनः प्रविष्टश्च योगं परममास्थितः ॥ ५३ ॥ शैक्षं (क्ष्यं) स्वरं समास्थाय उद्गीथं प्रासुजत्स्वरम् । सस्वरस्सानुनादी च सर्वशस्स्निग्ध एव च ॥ ५४ ॥ बभ्वान्तर्जलगतस्सर्वभूतगुणोदितः । ततस्तावसुरौ कृत्वा वेदान् समयबन्धनान् ॥ ५५ ॥ रसातले विनिक्षिप्य यतश्शब्दस्ततो द्रुतौ । एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः ॥ ५६ ॥

वेदानाम् आहरणादि अ

[[हयशिरसो वेदानाम् आहरणादि, अनिरुद्धरूपता, रक्षोभ्यां तस्य दर्शनं च]]

जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः । प्रादाच्च ब्रह्मणे भूयस्ततस्त्वां प्रकृतिङ्गतः ॥ स्थापयित्वा हयशिर[रा] उदक्पूर्वे महोदधौ । वेदानामालयश्चापि बभूवाश्वशिरास्ततः ॥ ५८ ॥ अथ किञ्चिदपश्यन्तौ दानवौ मधुकैटभौ । पुनराजग्मतुस्तत्र वेगितौ पश्यतान्त् तौ ॥ यत्र वेदा विनिक्षिप्तास्तत्स्थानं शून्यमेव च। तत उत्तममास्थाय वेगं बलवतां वरौ ॥ ६० ॥ पुनरुत्तस्थतुश्शीघ्रं रसानामालयात्तदा । ददृशाते च पुरुषं तमेवादिकरं प्रभुम् ॥ ६९ ॥ श्वेतं चन्द्रविशुद्धाभमनिरुद्धतनौ स्थितम् । भृयोऽप्यमितविक्रान्तं निद्रायोगमुपागतम् ॥ ६२ ॥ आत्मप्रमाणरचिते अपामुपरि कल्पिते । शयने नागभोगाढ्ये ज्वालामालासमावृते ॥ ६३ ॥ निष्कल्मषेण सत्त्वेन सम्पन्नं रुचिरप्रभम । तन्दृष्ट्वा दानवेन्द्रौ तौ महाहासममुञ्चताम् ॥ ऊचतुश्च समाविष्टौ रजसा तमसा च तौ । अयं स पुरुषश्श्वेतश्शेते निद्रामुपागतः ॥ ६५ ॥ अनेन नूनं वेदानां कृतमाहरणं रसात्। कस्यैष को न् खल्वेष किञ्च स्वपिति भोगवान् ॥ ६६ ॥

मधुकैटभयोर्वधः, ब्रह्मानुग्रहः ④

[[हयशिरसा मधुकैटभयोर्वधः ब्रह्मणय् उत्तम-मतेर् दानं फलश्रुतिश्च]]

इत्युच्चारितवाक्यौ तु बोधयामासतुर्हरिम् । युद्धार्थिनौ तु विज्ञाय विबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥ ६७ ॥ निरीक्ष्य चासुरेन्द्रौ तौ ततो युद्धे मनो दधे। अथ युद्धं समभवत्तयोर्नारायणस्य वै ॥ ६८ ॥ रजस्तमोविष्टतन् तावुभौ मधुकैटभौ । ब्रह्मणोऽपचितिं कुर्वञ्जघान मधुसूधनः ॥ ६९ ॥ ततस्तयोर्वधेनाशु वेदापहरणेन च। शोकापनयनञ्चक्रे ब्रह्मणः पुरुषोत्तमः ॥ ततः परिवृतो ब्रह्मा हरिणा वेदसत्कृतः ॥ निर्ममे स तदा लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान् ॥ ७१ ॥ दत्वा पितामहायाग्र्यां मतिं लोकविसर्गिकीम् । तत्रैवान्तर्दधे देवो यत एवागतो हरिः ॥ ७२ ॥ तौ दानवौ हरिर्हत्वा कृत्वा हयशिरस्तनुम् । पुनः प्रवृत्तिधर्मार्थं तामेव विदधे तनुम् ॥ ७३ ॥ एवमेष महाभागो बभूवाश्वशिरा हरिः। पौराणमेतत्प्रख्यातं रूपं वरदमैश्वरम् ॥ ७४ ॥

यो ह्येतद्ब्रा(द्ब्र)ह्मणो नित्यं शृणुयाद्धारयति वा । न तस्याध्ययनं नाशमुपगच्छेत्कदाचन ॥ ७५ ॥

आराधनस्य फलम्

आराध्य तपसाग्रेण देवं हयशिरोधरम् । पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तो रामेण पथिदेशिते ॥ ७६ ॥ एतद्धयशिरो राजन्नाख्यानं तव कीर्तितम् । पुराणं वेदसमितं यन्मां त्वं परिपृच्छिसि ॥ ७७ ॥ यां यामिच्छत्तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौ क्वचित् । तां तां कुर्याद्विकुर्वाणस्स्वयमात्मानमात्मना ॥ ७८ ॥

मूलार्थः ③

"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ" इतिश्रुतौ "रूपोपन्यासाच्च" इति सूत्रोक्तं स्मारयन् हयशिरसो रूपं विशदयित तस्य मूर्धेत्यादिना, ४८ सनक्षत्रतारकेति नक्षत्रतारकयोस्सामान्यविशेषभावादिना न पौनरुक्त्यम् । सनक्षत्रदेवता इति पाठो भगवद्गुणदर्पणे केषुचिन्महाभारतकोशेषु च दृश्यते अत्र मूर्धादीनां द्युप्रभृतिसादृश्ये तात्पर्यम् । इदञ्च केशानां रव्यंशुसमप्रभत्वोक्तेरवसीयते, यद्वा "सर्वदेवमयं वपुरिति" (२८५) हारिवंशोक्तेः, "चक्षुषी सोमसूर्यौ" "दन्ताश्च पितरः" इत्येतदितिरिक्तस्थलेष्वाभिमानिदेवतापरत्वं ग्राह्यम् । नानामूर्तिभिः (५२) नानाशरीरैः, सर्वस्य जगतो ब्रह्मशरीरत्वमन्तर्यामिब्राह्मणसुबालोपनिषदादौ प्रसिद्धम् । योगम् (५३) वेदापहरणोपायम्, (५४) शैक्षं (५३) शिक्षासम्बन्धि, क्वचिच्छैक्ष्यमिति, पाठः "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इति छान्दोग्यश्रुत्या उद्गीथमित्यस्य ओङ्कारमित्यर्थः उद्गीथमिति स्थाने ओमितीत्यपि पाठः, सानुनादी

बहूनां हेषमाणानां श्रूयते यस्य हेषितम् । सानुनादो हयो नाम भर्तुस् सर्वार्थ-साधकः ॥ (वी-मि-उ-ल-प्र-४४९)

इत्युक्तलक्षणयुक्तः, सर्वभूतगुणोदितः (५५) सर्वभूतानि गुणा यस्य स उदितः - सर्वभूतनीरन्ध्रसम्बन्धेन गुणवत्तैर्विशिष्ट आविर्भूतः, सर्वभूतगुणोहित इत्यपि पाठो दृश्यते, समयबन्धनान् समये हयशिरस आगमनकाले बन्धनं येषां तान्, तत उदक्पूर्वे महोदधौ हयशिरस्थापियत्वा स्वां प्रकृतिं गत इति योजना, (५७) स्वां प्रकृतिम् आनिरुद्धीं मूर्तिम्, अश्वशिरा इति उदक्पूर्वमहोदधौ स्थापित इति शेषः, श्वेतम्, (६२) श्वेतो रिश्मः, "श्वेतं रिश्मम्" इति स्वर्णघर्मानुवाकप्रसिद्धम्, एतेन श्वेताश्वतर इति ऋषेर्नाम योगरूढम्, इत्यपि व्यञ्जितम्, आत्मप्रमाणरिचेते (६३) आत्मा शरीरम् आत्मप्रमाणानुरूपं रिचते, नागभोगाढ्ये नागस्य आदिशेषस्य, भोगेन फणया शरीरेण वा, आढ्ये, निष्कल्मषेण (६४) रजस्तमश्शून्येन, एतेन

अनिरुद्धमूर्तेरप्राकृतत्वं सिद्धम्, कृष्णविग्रहस्याप्राकृतत्वं "न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽिरस्थसम्भवा" इति पूर्वमेवोक्तम् । कस्यैष इति (६६) किं सम्बन्धि किं परतन्त्र इति यावत्, कोनु खलु स्वतन्त्रः कस्स्यादित्यादिरर्थः, ब्रह्मणोऽपचितिमिति (६९) चतुर्मुखस्य वेदस्य वा पूजाम्, परिवृतः (७१) वेदसत्कृतस्तैः परिवृतः, यद्वा "आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च" इति क्तः आद्यशरणवरणकर्ता, अथवा हरिणा परिवृतः "यमेवैष वृणुते" इति श्रुत्युक्तरीत्या स्वीकृतभरसम्बन्धीति यावत्; तावित्यादि (७३) हरिः हयशिरस्तनुं कृत्वा तौ दानवौ हत्वा प्रवृत्तिधर्मार्थं तामेव तनुं पुनर्विदधे इति योजना, हयशिरसो मधुकैटभहन्तृत्वं पूर्वोदाहृतहरिवंशवचनेषु स्पष्टम् । विष्णुधर्मोत्तराद्युक्तं विष्णुजिष्णुरूपद्वयधारणपूर्वकं मधुकैटभहननन्तु कल्पभेदान्नेयम् । "स्थापियत्वा हयशिर उदक्पूर्वे महोदधौ" (५८) इत्यत्रोक्त एवार्थः पुनः प्रवृत्तिधर्मार्थमित्यनेनोक्तः इत्थञ्च "अहं हयशिरा भूत्वा" "सत्रे ममास भगवान् हयशीर्ष एवे"त्युदाहृतवचनैकार्थ्यमपि, पुनः प्रवृत्तिमिति क्वचित्पाठः अस्मिन्पाठे अस्य तनुमित्यन्वयः, क्वचिदर्धश्लोक एव न दृश्यते, महाभागः (७४) अनिरुद्धस्य महानंशः, शिरोमात्र एव वैलक्षण्यात् । एतेन "शतँ शता अस्य युक्ता हरीणाम्" "युक्ता अस्य हरयश्शतादश" इत्युक्तानां सर्वेषामप्यंशत्वं स्वितम ।

पौराणमिति, पौराणमेतदाख्यानमिति क्वचित्पाठः प्रख्यातम्, उदाहृतश्रुत्यादिप्रसिद्धम् । "ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा" "भूतान्तरात्मा वरदः" "ऐश्वरेण स योगेन" इत्युपक्रमद्वये

> सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वरं विधिमास्थितः । सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥

"रूपं वरदम् ऐश्वरम्" इत्युपसंहारद्वये च पूर्वोक्तं महाभागत्वं दृढीकृतम् । एतेन हयशिरसः कर्मपरवशत्वशङ्काऽपाकृता । यो हीत्यादि (७५) ब्रह्मणः हयशिरसः, एतत् उपाख्यानं रूपं वा, यद्वा ब्रह्मणः विप्रात् ब्राह्मण इत्यपि क्वचित्पाठः, "शृणुयाद्धारयीत वे"ति श्रवणनिदिध्यासनोक्तेर्मननमप्यर्थतस्सिद्धम् । श्रावयीत वेत्यपि क्वचित्पाठः । न तस्याध्ययनमित्यादि आथर्वणसंहितोपक्रमे मेघाजननकर्माणि विनियुक्तवाचस्पतिशब्दघटितत्रिषप्तीयसूक्तान्ते

उपहृतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयतां संश्रुतेन गमेमहि माश्रुतेन विराधिषि

इति मन्त्रे अस्मत्सिन्निहितस्य वाग्देवीपतेः हयशिरसोऽनुग्रहेण अधीतवेदशास्त्रार्थस्य सम्यक्प्राप्तेः कदाचिदप्यवियोगस्य च प्रतिपादनादिति भावः । आराध्येत्यादि, (७६) आराधनमाहत्म्यञ्च "यत्तद्धयशिरः पार्थ" "रामादेशितमार्गेण" ॥ ३५३ । ३६ । ३७ ॥ इत्यादिना विस्तरेण पूर्वमुक्तम् । एतद्धयशिर इत्यादि (७७) "नारायणाभ्यामुपस्थानम्" इत्यापस्तम्बसूत्रे नारायणप्रतिपादकपुरुषसूक्तस्य नारायणशब्देन निर्देशवत् रुद्रप्रतिपादकवेदभागस्य रुद्रत्वेन व्यवहारवच्च हय-शिरःप्रतिपादकाख्यानस्य हयशिरो नाम्ना निर्देश इति बोध्यम् । पुराणं वेदसमितमिति वेदसमितं वेदसमितमित्यर्थः, "कथयिष्यामि ते सर्वं पुराणं वेद सम्मितमि"त्युपक्रमोक्तेः । उपक्रमोहसंहाराभ्यामन्यविधोपाख्यानस्य (दे.भा.१-५) कल्पितत्वं सिद्धम्; तत्रापि नवमैकार्थ्येन तदुपाख्यानस्य अर्थवादत्वस्यावश्यकत्वाच्च

हयशिरसोऽकर्मवश्यत्वदार्ढ्याय भगविद्दव्यविग्रहसामान्यस्य स्वसङ्कल्पमूलकत्वमाह यां यामित्यादिना (७८) आत्मना सङ्कल्पेन, आत्मानं दिव्यमङ्गलविग्रहम्,

०२ वेदनिधिः 2

[[हयशिरसो विद्याशब्दितवाग्देव्या नित्ययोगस्य पराशरसम्मतत्वम्]]

विकुर्वाणस्तां तां तनुं कुर्यात् इति योजना, एतेन भगवद्दिव्यविग्रहसामान्यस्याकर्मवश्यत्वं सिद्धम्

एष वेदनिधिश्श्रीमानेष वै तपसां निधिः । एष योगश्च साङ्ख्यञ्च ब्रह्म चाग्र्यं हरि(हवि)र्विभुः ॥

"विद्यासहायवान्" इत्याद्युपक्रमाभिहितमर्थं हयशिरस्यऽपि दर्शयित एष वेदनिधिश्श्रीमानित्यनेन वेदनिधिः वेदानामालय इत्युक्तो हयशिराः, श्रीमानिति नित्ययोगे मतुप् श्रिया नित्यसंश्लिष्ट इत्यर्थः, एतेन विद्यासहायशब्दार्थ उक्तः

एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः । अवतारं करोत्येषा तदा श्रीस्तत्सहायिनी । (वि-पु-१-९-१४२) पुनश्च पद्मासम्भूता ह्यादित्योभूद्यदा हरिः ।

इत्यारभ्य "अन्येषु चावतारेषु विष्णोश्श्रीरनपायिनी" ॥ १४४ ॥ इत्युक्तेः अत्र पद्मा 'विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थम्' (ना-आ) इत्युक्ता विद्यैव 'हृषीकेशस्स भगवान् पद्मया सह विद्यया' । इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः हरिवंशे उदाहृतवचनेषु वाक्शब्दोऽपि प्रयुक्तः (२४२ पु) उदाहृत (ल-तं) वचने विद्यावाक् एकैवेति स्फुटम् एवं च वाक्शब्दघटित (बृ) श्रुतयः नित्ययोगं द्रढयन्ति - इत्यभिप्रेत्य पराशरेण 'आदित्यो भूद्यदा हरिः' इत्यत्र हरिशब्देन अस्मिन्नर्थे हरिशब्दघटिता (बृ) श्रुतिः मूलमिति बोधितम् एतेन याज्ञवल्क्यमनुग्रहीत्री व्याससम्मता वाग्देवी पूर्वोक्तैव न चतुर्मुखपत्नीति पराशरस्यापि सम्मतमिति सिद्धम् तपश्चात्र "यस्य ज्ञानमयं तपः" इति श्रुत्यादिप्रसिद्धजगदालोचनरूपं ज्ञानम्, योगसाङ्ख्यशब्दौ योगसूत्रोक्तसमाधिसाङ्ख्योक्तज्ञानविषयपरौ, अग्र्यम् "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" इत्यादिष्वग्र्यत्वं प्रसिद्धम् ।

अग्र्यम् उत्कृष्टं ब्रह्मेति वा, एष इत्यस्यानुषङ्गः, हविः होतव्यम्, "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" इत्यादिरेतद्विस्तरः हरिरिति केषुचित्पाठो दृश्यते उदाहृतबृहदारण्यकानुरोधात् अस्मिन्नेवाध्याये उपक्रमस्थहरिशब्दानुरोधाच्चायमेव पाठो युक्तः, एतच्छलोकमभिप्रत्योक्तमाचार्यपादैः – (श-दू)

> सम्प्रज्ञातस्थितिमघिगते निर्विकल्पे समाधौ । शान्तावद्यं स्तिमितबहुलानन्दसन्दोहमन्तः ।

यत्तद्ब्रह्मस्फुरति यमिनां पूर्णषाड्गुण्यरूपं स मे नित्यं हृदि हयमुखी देवता सन्निधत्ताम् ॥

इति । एतावता "विद्या सहायवान्देव" इत्यादिनोपक्रान्तोऽर्थ उपसंहृतः ॥

०३ वेदादीनां नारायणपरत्वादि@

मूलम् ③

नारायणपरत्वादि @

नारायणपरा वेदा यज्ञा नारायणात्मकाः । तपो नारायणपरं नारायणपरा गतिः ॥ ८० ॥ नारायणपरं सत्यमृतं नारायणात्मकम् । नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥ ८१ ॥ प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः । नारायणात्मको गन्धो भूमेश्चेष्टतमस्स्मृतः ॥ ८२ ॥ अपाञ्चापि गुणा राजन् रसा नारायणात्मकाः । ज्योतिषाञ्च परं रूपं स्मृतं नारायणात्मकम् ॥ ८३ ॥ नारायणात्मकश्चापि स्पर्शो वायुगुणस्मृतः । नारायणात्मकश्चैव शब्द आकाशसम्भवः ॥ ८४ ॥ मनश्चापि ततो भूतमव्यक्तगुणलक्षणम् । नारायणपरः कालो ज्योतिषामयनञ्च य(त)त् ॥ ८५ ॥ नारायणपरा कीर्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च देवताः । नारायणपरं साङ्ख्यं योगो नारायणात्मकः ॥ ८६ ॥

तलवकार-श्रुत्य्-उपबृंहणता�

कारणं पुरुषो ह्येषां प्रधानञ्चापि कारणम् । स्वभावश्चैव कर्माणि दैवं येषाञ्च कारणम् ॥ ८७ ॥ अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम् । विविधा च तथा चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम् ॥ ८८ ॥ पञ्चकारणसंख्यातो (ता) निष्ठा सर्वत्र वै हरिः (रेः) ।

अथ "ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा" इत्यादिना उपक्रमे परतत्त्वस्वरूपं प्रदर्श्य हयशिरसस्तदवताररूपत्वेन परत्वप्रतिपादनमनुचितम् वेदेषु पुराणेषु च केषाञ्चिदन्यदेवताया अपि परत्वप्रतीतिसत्त्वात् किञ्च सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यस्यैव परतत्त्वरूपतायाश्श्रुतिभिर्निर्णयादिति शङ्कायाम्

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथाऽऽत्मानम्

"सर्वभूतस्थमेकं नारायणम्" "नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारमिमाः प्रजा जायन्ते दिव्यो देव एको नारायणः" "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यादिश्रुत्युक्तदिशा चिदचितोर्भगवत्प्रकारतया तद्विशिष्टः प्रकार्येकं तत्त्वं मुमुक्षुभिर्वेद्यं प्राप्यञ्चति उपसंहारे समाधास्यन्, मध्ये

ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदास्सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्

इति तलवकारादिश्रुतौ नारायण एव ब्रह्मेति सूचयन् तदुक्तानां ब्रह्मज्ञानौपयिकतपआदीनां नारायणसम्बन्धित्वमाह 'नारायणपरा वेदा' इत्यादिना अत्र तप आदिषु वेदानां प्राधान्यात्प्रथममुक्तिः वेदानां नारायणपरत्वं प्राधान्येनोपायप्राप्यभूतनारायणतात्पर्यकत्वं तच्च "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमम्पदम्" इति कठवल्लीसन्दर्भे व्यक्तम्, एवं "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम्, एकस्सन् बहुधा विचारः" "सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति" इति श्रीभागवते (११-२७) वासुदेवार्चने विनियुक्ते स्वर्णघर्मानुवाकेऽपि ।

नारायणस्य सर्ववेदतात्पर्यविषयत्वादि ③

गीतायामि "वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्यः" इत्युक्तम् । एतेन 'वेदैरनेकैरहमेव वेद्यः' (कै- उ) इति श्रुतिरपि 'परात्परं पुरुषं याति विद्वान्' इत्युपक्रमोक्तपरपुरुषभूतनारायणपरैवेति निर्णयेन नारायणस्यावरत्वभ्रमः केषाञ्चिद्भ्युदस्तः एवमेतेन देवीभागवतस्यापि नवमस्कन्धोक्तदिशा नारायणाभिन्नकृष्णस्यैव शक्तिविशिष्टस्य परमत्वे परमतात्पर्यं तच्छक्तौ त्ववान्तरतात्पर्यमेवेति निर्धारितम् । वेदपूर्वभागस्यापि नारायणपरत्वं दर्शयति 'यज्ञा नारायणात्मकाः' इति वेदपूर्वभागोक्ता यज्ञाः नारायण आत्मा स्वाराधनतया आदाता येषान्ते तथोक्ताः "यच्चाप्नोति यदादत्ते" इत्यात्मशब्दनिर्वचनात् । श्रूयते हि "इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भवनस्य नाभिः" "चतुर्होतारो यत्र सम्पदं गच्छन्ति देवैः" इत्यादि, एतेन 'ये च वेदविदः -सनातनम्' इति प्राक् (९) उदाहृतवचनैकरस्येन मीमांसाया ऐकशास्त्र्यं व्यञ्जितम् । तपः कृच्छुचान्द्रायणादिकम्" तप आदिषु नारायणपरत्वं नारायणाराधनरूपत्वं गतिः करणे क्तिन् भक्तिप्रपत्त्युपाय इत्यर्थः तथाच श्रुतिः "तमेव विदित्वा (श्वे-३-८) 'तमेवं विद्वान् (पु-सू) इत्यादि; श्रुतौ तच्छब्दार्थो महापुरुषो नारायण इति (९९पु) (१०५) पूर्वं निरूपितं सत्यमृतमिति (८१) "ऋतन्तु सूनृता वाणी सत्यन्तु समदर्शनम्" इति प्रमाणप्रतिपन्ने सत्यर्तेऽत्र ग्राह्ये, यद्वा सत्यं तथ्यम्, ऋतम् उञ्छशिलम्, नारायणात्मकमिति पूर्ववदर्थः, पुनरावृत्तिदुर्लभः यस्मिन्ननुष्ठिते पुनरावृत्तिः संसारगतिः दुर्लभा तादृशः निवृत्तिधर्मशब्देन व्यपदेश्यः, "वाहिताग्न्यादिषु" इति दुर्लभशब्दस्य परनिपातः, प्रवृत्तिलक्षणः (८२) प्रवृत्तिः संसारसम्बन्धः लक्षणं फलतया ज्ञापको यस्य सः, यज्ञानामेतच्छलोकोक्तधर्मद्वयान्तर्भावेऽपि पृथगुक्तिः (तै) नारायणीये "प्राजापत्यो

हारुणिः" इत्याद्यनुवाके सत्यतपोदमशमदानधर्मप्रजननाग्निहोत्रयज्ञमानससन्यासानां द्वादशानां मध्ये धर्मापेक्षया पृथग्यज्ञनिर्देशात्तदनुरुध्येति बोध्यम्, तेन श्रुत्युक्तानां द्वादशानां नारायणपरत्वं व्यञ्जितम् ।

नारायणस्य ब्रह्मशब्दार्थता ③

एतेन "ब्राह्मीं वावतउपनिषदमब्रूमेति तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदास्सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्" इति तलवकारिणां श्रुतौ ब्राह्मीमित्यत्र प्रकृतिभूतो ब्रह्मशब्दो नारायणे योगरूढ इति बोधितम्, तदुक्तं गारुडे पुराणे -

वेदे भूरिप्रयोगाच्च गुणयोगाच्च शार्ङ्गिणि । तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तो महामुने ॥

इत्यारभ्य -

यस्मिन् प्रयुज्यमाने तु गुणयोगस्सुपुष्कलः । तत्त्रैव मुख्यवृत्तोऽयमन्यत्र ह्युपचारतः ॥

इति 'तद्ब्रह्म स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः' (ना. १) इत्यत्र ब्रह्म नारायण एवेति 'नारायणस्य चाङ्गानि सर्वदैवानि भारत' (स. प. ४३) इत्यत्रोक्तमिति प्रागेव (७) निरूपितम् । सुबालोपनिषदि "नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारमिमाः प्रजा जायन्ते दिव्यो देव एको नारायणः" इति षष्ठखण्डादिभागस्य प्रथमद्वितीयखण्डोक्तसृष्टिप्रलयसङ्ग्रहतया प्रथममेव "भूतप्रलयमत्यन्तम्" इत्यादिना प्रलयसृष्टिकथनेन तदर्थ उक्तः अधुना "भूतान्तरात्मा" इत्युपक्रमोक्तमर्थं विशदयितुं सुबालोपनिषदि तदनन्तरं

चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च नारायणश्श्रोत्रञ्च श्रोतव्यञ्च नारायणः घ्राणञ्च घ्रातव्यञ्च नारायणः जिह्वा च रसयितव्यञ्च नारायणः त्वक्च स्पर्शयितव्यञ्च नारायणः मनश्च मन्तव्यञ्च नारायणः

इत्यादिश्रुत्यर्थमाह 'नारायणात्मको गन्ध' इत्यादिना, नारायण आत्मा यस्य सः नारायणात्मकः "अथैषो एवाकार आप्ततमार्थ आत्मन्येव नृसिंहे ब्रह्मणि वर्तते" इत्युत्तरतापनीयपञ्चमखण्डे, "यच्चाप्नोति यदादत्ते" इति स्मृतौ चोक्तदिशा आप्नोतीत्यात्मा, यद्वा आत्मन् शब्दः "अत सातत्यगमने" इत्यस्मात् "सातिभ्यां मनिन्मनिणौ" इत्यौणादिकप्रत्ययान्तः, आत्मा अपृथक्सिद्ध्यनुयोगीति यावत्, नारायणात्मक इत्यस्य नारायणापृथक्सिद्ध इत्यर्थः, अत्रात्मन्शब्दप्रयोगेण "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथाऽऽत्मानम्" इति

आश्रयाप्रत्यक्षत्वेऽपि गन्धादेरिव नारायणाश्रयजगतः प्रत्यक्षता®

श्रुतिप्रत्यभिज्ञापनमुखेन नारायणस्साक्षाद्वा परम्परया वा सर्वस्याधारो धारक इत्यर्थस्सिध्यतीति 'तमेवैकम्' इत्यत्रावधारणेन – पृथिव्येव ज्ञेया इत्यादौ गन्धादेरिव जगतो ज्ञेयत्वं न व्यवच्छिद्यत इति सूचितम् ॥ गन्धः अयं गुण एव विवक्षितः न तु तन्मात्रा, भूमेरिति षष्ठ्या तत्र पृथिवीभेदप्रतीतेः, "अपां गुणाः" इत्युत्तरत्र वचनाच्च, पृथिव्यपृथक्सिद्धतया प्रतीयमानोऽपि गन्धः भूमिः नारायणापृथक्सिद्धेति तद्वारा नारायणापृथक्सिद्ध इति भूमेरित्यस्य भावः, श्रेष्ठतमः पृथिव्यसाधारणः, यद्वा स्वाश्रयस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि स्वयं प्रत्यक्षविषयः, एतेन नारायणस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि तदपृथक्सिद्धस्य जगतः प्रत्यक्षत्वे न किञ्चिद्बाधकमिति पृथिवीगन्धादीनामिव जगदब्रह्मणोरपृथिक्सिद्धिसम्बन्धे नानुपपत्तिरिति सूचितम्, एतदर्थमेव सृष्टिक्रममनादृत्य लयक्रमानुसारेण गन्धस्य प्रथमत उपादानम् ॥ शब्द आकाशसम्भव इति (८४) एतेन भाट्टानां गन्धतुल्यस्य शब्दस्य विभुत्वद्रव्यत्ववादः प्रतिक्षिप्तः । मनश्चापीति (८५) मनोऽपि नारायणात्मकमित्यर्थः, चशब्दो बाह्येन्द्रियसमुच्चयार्थः, अपिर्भिन्नक्रमः अन्ते योजनया चेतनसमुच्चायकः सुबालोपनिषदि "मनश्च मन्तव्यञ्च नारायणः" इत्यनन्तरं "बुद्धिश्च बोद्धव्यञ्च नारायणोऽहङ्कारोऽहङ्कर्तव्यञ्च नारायणश्चित्तञ्च चेतयितव्यञ्च नारायणः" इत्यत्र मनसो वृत्तिभेदनिबन्धन एव "बुद्ध्यहङ्कारचित्तसंज्ञाभेदव्यपदेशः "कामस्सङ्कल्प" इत्यारभ्य "एतत्सर्वं मन एव" इति बृहदारण्यकश्रुतौ मनसः कामादिवृत्तीनां प्रतिपादनात्तस्यैकस्यैव वृत्तिभेदा अध्यवसायाभिमानचिन्ता इति निर्णयादिति भावः । ततः तदनन्तरम् । भूतसामान्यस्य मनोऽनन्तरत्वकथनेन मनसः भौतिकत्वं व्युदस्तम्, सङ्कल्पस्मरणादौ करणतया मनसः चक्षुरादीन्द्रियाणां मनसोऽपि सात्त्विकाहङ्कारकार्यत्वरूपमिन्द्रियत्वमिति भावः, भूतमव्यक्तगुणलक्षणमिति मनश्चापीत्यपिः भिन्नक्रमः अव्यक्तगुणलक्षणं भृतमपि नारायणात्मकमित्यर्थः अपिरनुक्तचेतनसमुच्चायकः इत्येव युक्तं श्रुतिषु जीवस्यापि परमात्मशरीरत्वप्रतिपादनात ।

गुणगुणिनोः प्रमाणप्रमेययोश्च भेदः ③

यत्किञ्चिदिह लोके वै देहबद्धं विशाम्पते । सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिजैः ।

इत्युपक्रमोक्तभूतपञ्चकं भूतशब्दार्थः, अव्यक्तस्य गुणास्सत्वरजस्तमोरूपास्ते लक्षणं यस्य तत्, एतेन अव्यक्तमहदहङ्कारादीनां "स्वच्छन्देनागमेन प्रकृतिमहदहङ्कारमात्राक्षसिद्धिर्नाध्यक्षेणाप्रतीतेः" इति तत्त्वमुक्ताकलापोक्तरीत्या अतीन्द्रियाणां विशिष्य सुबालोपनिषदि नारायणात्मकत्वाकथनेऽपि तत्रैव पूर्वं सृष्टिप्रलयप्रकरणयोर्विशिष्य पृथगुपादानोपादेयभावेनैक्यबोधनेन तेषामपि नारायणात्मकत्वसिद्धिरिति बोधितम् । अत्रायमाशयः "चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च नारायणः", इत्यादिश्रुत्या गुणगुणिनोः प्रमाणप्रमेययोश्च भेदस्साधितः, तत्राद्ये गुणिविषयिणी दृष्टमेव स्पृशामीत्यबाधितप्रत्यभिज्ञा मूलम्, द्वितीये च प्रमाणभूतानामिन्द्रियाणां विषयभूतानां पिथव्यादीनाञ्च प्रकृतिविकृतिभावविरहेण भेद इत्यादीति; एतेन बौद्धानां द्रव्याद्वैतपक्षः प्रतिक्षिप्तः, एवं प्रामाणिकानेव गन्धादीननृद्य तेषां नारायणात्मकत्वविधानेन ।

अविभागो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥

इत्यादितत्प्रलापोऽप्यपास्तः । नारायणपरः काल इति । नारायणः पर उत्कृष्टः यस्य स तथोक्तः नारायणात्मक इति यावत्, नारायणात्मक इत्यनुक्त्वा नारायणपर इति भिन्नशब्दप्रयोगेण नित्यविभूताविप विद्यमानस्य विभोरस्य न प्रकृतिवत्परिणाम इति सूचितम्, ज्योतिषामयनं यज्ज्योतिश्चक्रं तदिप नारायणपरम्,

> अर्यमा चन्द्रमा कला कविर्धाता ब्रह्म प्रजापतिर्मघवादिवसाश्चार्धदिवसाश्च कालाः कल्पाश्चोर्ध्वञ्च दिशश्च सर्वं नारायणः

इति सुबालोपनिषदि श्रवणात्, विष्णुपुराणे ।

सूर्याचन्द्रमसौ तारानक्षत्राणि ग्रहैस्सह । मुने वातमयैर्बन्धैर्धुवे बद्धानि तानि वै ॥ २ । ९ । ३ ॥

सांख्य-योगयोष्-षड्-विंशति-तत्त्व-प्रतिपादकता®

शिंशुमाराकृतिप्रोक्तं यद्रूपं ज्योतिषां दिवि । नारायणोऽयनं धाम्नां तस्याधारस्स्वयं हृदि ॥

इत्यादिस्मरणाच्चेति भावः ।

अथ "विद्यासहायवान् देवः" इत्यत्र सूचितं विद्यायाः पत्यपेक्षया निकर्षं विभूतिमुखेन द्रढयति नारायणपरा कीर्तिरित्यादिना (८६) देवता इत्यनेन देवस्य हरेः पत्न्य एता इति सूचितम् । नारायणपरं साङ्ख्यमित्यनेन साङ्ख्ययोगयोरपि नारायणपरत्वकथनेन ।

> एवमेकं साङ्ख्ययोगं वेदारण्यकमेव च । परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रन्तु कथ्यते ॥

इति वक्ष्यमाणवचने पञ्चरात्राधिकरणश्रीभाष्योक्त एवार्थे व्यासस्य तात्पर्यमिति सिद्धम् ॥ किपलासुरिसंवादादौ च षड्विंशतितत्त्वपरत्वं साङ्ख्यस्य स्पष्टमित्यादिकं प्राक् (९८) निरूपितं 'तत्त्वं जिज्ञासमाननाम्' इत्यस्य विवरणेऽपि निरूपिष्यते । "अव्यक्तमक्षरे लीयते" इत्यत्राक्षरावस्थायाञ्चेतनविवक्षायाः पूर्वमुपपादनेन "मनश्चापि ततो भूतमव्यक्तगुणलक्षणम्" इत्यत्र ततः अव्यक्तगुणलक्षणं भूतमपीति योजनया चेतनस्यापि नारायणात्मकत्वस्य विविक्षिततया चिदचितोर् नारायणापृथिक्सद्धत्वेन नारायणस्य सर्वत्रोपादानकारणत्वं सिद्धम् । अथ नारायणस्य तिन्नयामकत्वकथनेन "एष सर्वः" "एको नारायणः" इत्यादिश्रुत्यर्थं प्रकाशयन् चिदचिद्विशिष्टमेकं तत्त्वमिति व्यवस्थापनाय "किङ्कारणं ब्रह्म कुतस्म जाताः" "क्षरात्मानावीशते देव एकः" "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" इति श्वेताश्वतरश्रुत्यभिप्रेतं त्रयाणां कारणत्वमाह "कारणं पुरुषो ह्येषामित्यादिना (८७) पुरुषः

जीवः एषामव्यक्तादीनाम्" "प्रधानादिविशेषान्तं चेतनाचेतनात्मकम्" ॥ ६ । ७ । ५८॥ इति विष्णुपुराणाद्युक्तदिशाऽत्र चेतनस्यापि विव[[??]]वक्षाऽवसेया, प्रधानं चापि — इत्यत्र चः - उक्तसमुच्चायकः ; अपिरनुक्तनारायणसमुच्चायकः, एतदनन्तरं कपुस्तके एकत्रैव "स्वभावश्चैव कर्माणि दैवं येषाञ्च कारणम् ।" इत्यधिकः पाठो दृश्यते स च प्रकृतानुपयोगान्न हृदयङ्गमः, 'कारणम्' इति श्लोके प्रधानं शरीरेन्द्रियमुख्यप्राणरूपेण विशदीकृत्याह "अधिष्ठानं तथा कर्ता" इति श्लोकोक्तानि, निमित्तकारणानि तेषु सम्यक् प्रधाननिमित्तकारणतया ख्यातः, एतेन "अधिष्ठानम्" इति श्लोके दैवशब्दार्थो हरिरिति सूचितम् । सर्वत्र "कारणं पुरुषो ह्येषां प्रधानञ्चापि कारणम्" इत्युक्तउपादानद्वारकारणचिदचित्सामान्येऽपि, चिदचिदन्तर्यामिकारणमिति यावत्, वैशब्दोऽवधारणे हरिरेव प्रधानं कारणमित्यर्थः, अत्र -

यत्किञ्चिदिह लोके वै देहबद्धं विशांपते । सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिजैः ॥

"ईश्वरो हि" "भूतान्तरात्मा" इत्युपक्रमोक्तार्थः "नारायणात्मको गन्धः" इत्यादिना प्रतिष्ठापितः । एतच्च नारायणस्य सर्वशरीरकत्वम् "यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यादिना वाजसनेयिभिः "यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यादिना सौबालैश्च व्यवस्थापितम् । एतेन नारायणाख्याने "सर्वभूतात्मभूतो हि वासुदेवः" । ३८७। ३२॥ ३५ । उत्पन्न एव भवति शरीरं चेष्टयन् इत्युक्तार्थस्मारणमुखेन सर्वोपादानत्विनविहिका सर्वशरीरकत्वावस्थायोगित्वनिबन्धनकार्यताऽपि व्यञ्जिता, अत्र हरिशब्दप्रयोगेण 'सुवर्णं घर्मम्' इत्यनुवाकैकार्थ्यप्रत्यभिज्ञापनपूर्वकं 'अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम्' 'सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति' 'सर्वाः प्रजा यत्रैकं भवन्ति' इति श्रुतिमभिप्रेत्य चिदचितोः कारणत्वस्य परमात्मनि कारणत्वपर्यवसानकथनेन

भगवतस् सर्वान्तर्यामितयोपादानत्वम् ③

प्रकृत्यधिकरणे "परिणामात्" इति सूत्रे "िकङ्कारणं ब्रह्म, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" इत्यादिश्रुतितात्पर्यविषयस्सूक्ष्मचिदचिदपृथिक्सद्धं ब्रह्मकारणं स्थूलचिदचिदपृथिक्सद्धं ब्रह्मकार्यमिति यस्सिद्धान्तस्स प्रतिष्ठापितः, तदाह वाक्यकारः परिणामस्तु स्याद्दध्यादिवत्" इति, भास्करेण सूत्रभाष्ये उदाहृतमिदं वाक्यम् । अत्र दध्यादिवदिति दृष्टान्तकथनेन क्षीरत्वावस्थाप्रहाणपूर्वकं दिव्यावस्थाप्राप्तिवत्, सूक्ष्मचिदचिदन्तर्यामित्वावस्थाप्रहाणपूर्वकं स्थूलचिदचिदन्तर्यामित्वावस्थापरिणामो ब्रह्मण इति सिद्धम्, एवं वाक्यान्वयाधिकरणे "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इति सूत्रे जीवात्मशब्देन परमात्मप्रतिपादनाय स्वशरीरभूते जीवात्मन्यात्मतया परमात्मनोऽवस्थानमित्युक्तम्, मोक्षधर्मे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे "तत्स्थत्वादनुपश्यन्ति ह्येक एवति साधवः", इत्यत्र जीवपरयोरेकत्वेन निर्देशस्यापि यन्मूलमुक्तं तदचिद्ब्रह्मविषयेऽपि मूलमिति सूचितम् । पूर्वापरपरामर्शेन 'तत्स्थत्वात्' इति वचनार्थः अनन्तरश्लोकविवरणे विवेचयिष्यते । एतावता सुबालोपनिषदि

नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारमिमाः प्रजायन्ते दिव्यो देव एको नारायणः चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च नारायणः इति षष्ठखण्डोपक्रमवाक्ये प्रथमद्वितीयखण्डोक्तसृष्टिप्रलयसङ्ग्रहानुवादरूपे नारायणस्य तत्तद्वस्त्वैक्ये निदानं तत्तदुपादानत्वमेवेत्यभिप्रेतम्, एवं तत्रैव सप्तमखण्डे "अन्तश्शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यः; यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यारभ्य "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यन्तसन्दर्भे नारायणस्य सर्वभूतैक्यनिदानं सर्वभूतान्तरात्मत्वमेव विवक्षितामिति बोधितम् । अन्तर्यामिब्राह्मणेऽिष (बृ. आ. ५-७) 'वेत्थनुत्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयित' 'यो वै तत्काप्यसूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति सब्रह्मवित्सलोकवित्सवेदिवत्सभूतवित्स आत्मवित्स सर्ववित्' इत्य् उपक्रम्य पृथिव्यादिसर्वशरीकत्वमधाय 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्युपसंहारे सर्वलोकसर्वभूतान्तर्यामिवेद

०४ तत्त्वं जिज्ञासमानानाम्@

[[तत्त्वं जिज्ञासमानानाम्, इति श्लोकस्यानेकश्रुत्यर्थसङ्ग्रहता]]

प्रतिपाद्यब्रह्मात्मवेदितुरेव सर्वलोकादिवेत्तृत्वोक्त्या सर्वान्तर्यामिद्रष्ट्रन्तरनिषेधेन सर्वान्तर्याम्यैक्यमेव विवक्षितम् । तमेतमर्थं साधयित्वा 'नारायणपरा वेदाः' इति प्रागुक्तं वेदानां नारायणपरत्वं स्थापयति तत्त्वमित्यादि श्लोकेन -

तत्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिस्सर्वतो मुखैः ॥ ८९ ॥ तत्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः प्रभुः ।

तत्त्वम् - अनारोपितमबाध्यं वस्तु, जिज्ञासमानानां ज्ञातुमिच्छताम् । इमं श्लोकमुदाहृत्य हेतुभिः समन्वयलक्षणोक्तन्यायैः – सर्वतोमुखैः तत्तन्मुखभेदभिन्नैः इति सर्वव्याख्यानाधिकरणे व्यासार्यैर्विवृतम् - अयं च श्लोकः भगवच्छास्त्रे (हय-शिरः २३७) हंससहस्रनामाध्याये -

> तत्त्वं विज्ञातुकामानां प्रमाणैस्सर्वतोमुखैः । तत्त्वं स परमो हंस एक एव जनार्दनः ॥

इति वचनसच्छायतया प्रतीयते एतदनुसारेणायमर्थः हेतुभिः ज्ञापकहेतुभिः प्रमाणैरिति यावत्, सर्वतोमुखैः सर्वतः सर्वत्र सर्वशाखासु आदौ मध्येऽन्ते च, मुखानि तत्त्वावेदकत्वरूपप्रामाण्यव्यवस्थापनौपयिकानि तात्पर्यनिर्णायकलिङ्गानि उपक्रमोपसंहारादीनि तत्त्तदनुग्राहकतर्काश्च येषां तैः, एतेन श्रुत्यादिप्रमाणपरत्वं हेतुशब्दे दृढीकृतम् ।

अत्र वचनद्वये मूलभूताश्श्रुतयश्च 'चत्वारि वाक्' इत्यनन्तरं ऋग्वेदाथर्वणवेदसंहितयोः 'एकं सिद्धप्रा बहुधा वदन्ति' इति 'सुवर्णं घर्मम्' (तै. आ.) इत्यनुवाके 'एकस्सन् बहुधा विचारः' इति विश्वकर्मसूक्ते 'यो देवानां नामधा एक एव' इति 'अन्तश्शरीरे - अज एको नित्यः' 'दिव्यो देव एको नारायणः' (सु.उ.) 'एको ह वै नारायण आसीत्' (म. उ.) 'सर्वभूतस्थमेकं नारायणम्' (ना, उ.) इत्याद्याः महायोगी प्रभुः हरिर्नारायण एकं तत्त्विमिति योजना हरिनारायणशब्दौ योगरूढौ एतद्योगार्थावपि तत्त्वैक्यहेतुतया विवक्षितौ

महायोगी, इत्यादीनामर्थः नारायणशब्दनिर्वचनं च®

अतस्सर्वाणि महायोगित्वादीनि हेतुगर्भविशेषणानि तत्वैक्योपपादकानि हिरेनारायणशब्दघटितश्रुतिप्रघट्टकयोर्मूलप्रमाणताज्ञापनाय शब्दद्वयोपादानम् - महायोगीत्यत्र योगपदं ध्यानार्थकम्, अत्त[[त??]]श्च "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति" (तै. उ.) "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति" (छां. उ.) "प्रजापतिर्वा एकोऽग्रेऽतिष्ठत्स नारमतैकस्सोऽऽत्मानमिभ्ध्यात्वा बह्वीः प्रजा असृजत" (मै. उ.) "एको ह वै नारायण आसीत् - स एकाकी न रमेत तस्य ध्यानान्तस्थस्य" (म. उ.) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धबहुभवनसङ्कल्पवानित्यर्थः, हरिः 'हरिँ हरन्तमन्यन्ति देवाः - विश्वस्येशानं वृषभं मतीनाम्' (तै. आ.)

ब्रह्माणमिन्द्रमग्निञ्च यमं वरुणमेव च । प्रसह्य हरते यस्मातस्माद्भरिरिहोच्यते (प. सं.) ॥

इत्युक्तप्रकारेण सर्वसंहर्ता, प्रभुः स्वामी, नारायणः

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं ममताः पूर्वमतो नारायणोऽस्म्यहम् ॥ ३५० ॥ ४० ॥

इति नारायणाख्याने निरुक्तोऽयं शब्दः, अत्राप्शब्दस्सर्वतत्त्वोपलक्षक इति -

नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः । तान्येव चायनं यस्य तेन नारायणस्मृतः ॥ १८६ ॥ ७ ॥

इत्यानुशासनिकवचनेन सिद्धम् ।

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

इति श्रुतिरत्र मूलम् । "नाराणामयनं यस्मात्तस्मान्नारायणः स्थितः" इति शाङ्करविष्णुसहस्रनामभाष्योदाहृतब्रह्मवैवर्तवचनेन, "नाराणामयनत्वाच्च नारायण इति स्मृतः" इत्याचार्यपादोदाहृतवचनेन चावगतेऽर्थान्तरे "नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारम्" इत्यादि "निवासश्शरणं सुहद्गतिर्बन्धुर्नारायणः" इति श्रुतिर्मूलं, मूलत्वञ्च[[??]]स्याः -

तेषामयनभूतत्वान्नारायण इहोच्यते । तस्मान्नारायणं बन्धुं मातरं पितरं गुरुम् ।

तत्र्यैक्यं छान्दोग्योपनिषद्-अभिप्रेतम् ③

"निवासं शरणञ्चाहुर्वेदवेदान्तपारगाः" इत्याचार्यपादोदाहृतवचनेन सिद्धम् । अयनशब्दे अधिकरणल्युड्विवक्षायामाधारत्वं करणल्युड्विवक्षायां अन्तर्यामिब्राह्मणाद्युक्तं नियामकत्वमभिप्रेतमिति बोध्यम् वामनपुराणे च नारायणशब्दस्य श्रीपतिव्यतिरिक्ते न शक्तिरिति स्पष्टमुक्तम् ॥

> न तु नारायणादीनां नाम्नामन्यत्र सम्भवः । अन्यनाम्नां गतिर्विष्णुरेक एव प्रकीर्तितः ॥

इति, अनेनैवाशयेनात्र सर्वव्यापकसर्वाधारबोधकशब्दान्तरपरित्यागः, एवञ्च बहुभवनसङ्कल्पलयकारणत्वसर्वव्यापकत्वसर्वाधारत्वसर्वनियामकत्वसर्वस्वामित्वैः हरिर्नारायण एकं तत्त्वमिति उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गानुग्राहकतर्कसचिवश्रुतितात्पर्यं निर्णीतं भवति ॥ इदमत्र दिङ्गात्रमवधातव्यं सामवेदिनां छान्दोग्योपनिषदि

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैकम् आहरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतस्सज्जायत । कुतस्तु खलु सोम्येवँ स्यादिति होवाच कथमसतस्सज्जायेतेति । सत्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसुजत तस्माद्यत्र क्वचन शोचित स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदद्ध्यापो जायन्ते । ता आप ऐक्षन्त बह्व्यस्स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदद्ध्यन्नाद्यं जायते । ६ प्र । २५० ॥ तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति । सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति । तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत । तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा तु खलु सौम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्तिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति (६ प्र- ३ खं)

इति श्रूयते अत्र "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेव" इत्यत्रैकत्वं

तदेव महोपनिषन्मैत्रायणीयोपनिषदभिप्रेतम् ③

"तदैक्षत बहुस्याम्" इति वक्ष्यमाणबहुत्वप्रतिकोटिभूतम्, बहुत्वञ्च चिदचिन्नामरूपबहुत्वनिबन्धनमिति 'तत्तेजः' 'एषां खल्वेषाम्' इत्यचेतनं चेतनं चाभिधाय "सेयं देवतैक्षत - नामरूपे व्याकरवाणीत्याद्युक्त्या प्रतीयते अत एकत्वं नानानामरूपविभागानर्हत्वं धर्मिभेदाभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तरूपभेदान्नामभेदः नानारूपाणां लये नानानाम्नामप्यभावेनैकत्वमिति एवमुपक्रमेऽपि "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यत्रापि दृष्टान्ते कारणस्यैकत्वेऽपि

कार्यनानारूपनिबन्धननामभेदेन कार्यनामरूपबहुत्वमूलकं यत् बहुत्वं तत्प्रतिद्वन्द्विकारणैक्यमिति, यथोक्त एवार्थः प्रतीयते ॥ सामवेदिनां महोपनिषदि

> एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमास्स एकाकी न रमेत तस्य ध्यानान्तस्थस्य

इत्याद्युपक्रमवाक्येन सच्छब्दार्थो नारायणः, एकत्वं ब्रह्मेशानादि नामरूपभागिवस्त्वभावरूपमिति निर्धारणाच्च नामरूपविभागानर्हश्चिदचितोर्भगवतस्सम्बन्ध एवैकत्वम् । एतेन मैत्रायणीयोपनिषदि प्रजापितव्यं एकोऽग्रेऽतिष्ठत्स नारमतैकस्सोऽऽत्मानमभिध्यात्वा बह्वीः प्रजा असृजत,इत्यत्राप्येकत्वमुक्तरूपमिति बोध्यम् — अत्र उभयत्रापि सृष्टेर्दयामूलकत्वं विवक्षितमिति निरूपितं (जी. स. २५स. अ. सि.भा. प्र.) न च छान्दोग्ये "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यनेन दृष्टान्ते कारणस्यैव सत्यत्वकथनेन नामरूपविभक्तस्य कार्यस्यासत्यत्वमेव प्रतीयत इति वाच्यम् । मृत्तिकैव सत्यमित्यप्रयुज्य मृत्तिकेत्येव सत्यमिति प्रयोगः 'यथा सोम्यैकेन मृत्यिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्' इति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादनाय, एवञ्च इदं मृण्मयं घटशरावादिकं पूर्वाह्णे मृत्तिकैवासीदिति प्रतीत्या मृत्कार्यवर्गस्य मृत्तिकाभेदश्श्वेतकेतुना सुज्ञेय इति तात्पर्येण कार्यकारणयोरभेदस्य प्रामाणिकत्वबोधनाय वै प्रवृत्तं "मृतिकेत्येव सत्यम्" इति वाक्यं न तु मृत्तिकाया एव परमार्थत्ववोधनाय, एवकारः कार्यवर्गे मृत्तिकाया भेदं व्यवच्छिनति

बृहादारण्यकाभिप्रेतं तदेव ③

अत एव वाजसनेयिनां बृहदारण्यके तृतीयचतुर्थब्राह्मणोपक्रमे "आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधस्सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्" इति लयं प्रक्रम्य

> तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियतासौ नामायमिदँ रूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामायामिदँरूप इति स एष इहप्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितस्स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यत्यकृत्स्नो हि सः।

इत्यत्र "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इत्यनुरोधेन "अव्याकृत"मित्यत्र नामरूपविभागशून्यत्वम्, "स एष इहप्रविष्ट आनखाग्रेभ्य" इत्यादिना नामरूपविभागवच्चेतनाचेतनशरीरान्तःप्रवेशस्य वक्ष्यमाणतया तन्निबन्धनमेव "असौ नामायमिदँ रूप" इत्यत्र परमात्मनो नामरूपभाक्त्वम्, "तं न पश्यत्यकृत्स्नो हि सः" इत्यत्र चिदचिद्विशिष्टज्ञानशून्यस्यापूर्णत्वम्, "अकृत्स्नो ह्येष एकैकेन भवति" इत्यत्र एकैकेन विशेषणांशमात्रेण विशेष्यांशमात्रेण विशिष्टपदार्थस्यापूर्णत्वम्, "आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" इत्यनेन, "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानागूँ सर्वात्मा एकस्सन् बहुधा विचारः" इत्य् उपक्रम्य "सर्वाः प्रजा यत्रैकं भवन्ति" इति श्रुत्यन्तरोक्तदिशा विशिष्टे चिदचिदन्तरात्मनि विशेषणविशेष्ययोरन्तर्भावञ्चाभिधाय "तदेतत्र्येयःपुत्रात्य्रेयोमित्रात्य्रेयोवित्तात्य्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरो यदयमात्मा" इत्यनेन सर्वान्तरस्यात्मनः परमप्रियत्वकथनम्, तत्रैव षष्ठब्राह्मणस्यान्ते "प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं

ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः", इति नामरूपसत्यत्वकथनपूर्वकं 'स प्राणन्नेवप्राणो नाम भवति' (बृ. २–४) इत्युक्तदिशा प्राणशब्दवाच्यस्य परमात्मनो नामरूपभाक्त्वोपसंहारश्च सङ्गच्छते 'यथा नद्यः' तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः' (मु-उ) इत्यत्र देवमनुष्यादिनामरूपयोः विरह एव विवक्षितः न तु नामरूपसामान्यस्य दृष्टान्तानुसारात् अनन्तरं परात्परदिव्यपुरुषप्राप्तिकथनात् प्रश्लोपनिषदि नामरूपभेदोक्त्यनन्तरं 'समुद्र इत्येवं प्रोच्यते' पुरुष इत्येवं प्रोच्यते, इत्यभिधानाच्चेति 'नामरूपाद्विमुक्तः' इति नामरूपमिथ्यात्वं न साधयितुमलम्

तस्यैव ऐतरेयसुबालोपनिषदभिप्रेतता ③

एवम् "आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्" इति ऋग्वेदिनामैतरेयोपनिषद्वाक्येऽपि "मिष स्पर्धायाम्" इति धातुना निष्पन्नस्य मिषादित्यस्य स्पर्धमानार्थकतया आत्मना पूर्ववाक्यप्रतिपन्नोपादानभावेन स्पर्धमानस्यान्यस्य निमित्तस्य निषेधेपि, आत्मव्याप्ययोश्चिदचितोरनिषेधेन, "स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति स इमान् लोकानसृजताम्भोमरीचिर्मरमापः" इत्याद्युत्तरवाक्यानुरोधेन च, एकत्वं पूर्वोक्तमेवेति निश्चीयते ।

एवञ्चसुबालोपनिषदि "पृथिव्यप्सु प्रलीयते" इत्यारभ्य "तमः परदेव एकीभवति" इत्यन्तलयप्रकरणे एकीभावो नामरूपविभागविगमपूर्वकनीरन्ध्रसंश्लेष एवेति सिद्धम् । अतश्च लयकारणत्वबहुभवनसङ्कल्पाभ्यामुपादानो पादेयभावसिद्ध्या मृत्तिकैव इदं घटशरावादिकं पूर्वाह्णे एकमासीदितिवत्, 'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत्' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकम्" इत्यत्र सदेवेदमग्रे एकमासीदित्येकत्वव्यपदेशः अद्वितीयत्वमपि निमित्तान्तरशून्यत्वमेवेति नात्र ब्रह्मान्यमिथ्यात्वं परसम्मतं विवक्षितम् उपादानोपादेयभावश्च मृद्धटयोरिव परिणामनिबन्धन इति निश्चीयते । एवं बृहदारण्यके "आत्मनो वा अरेदर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदँ सर्वं विदितम्" इत्यत्र "स यथाऽऽर्द्रधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमानिश्चरन्ति" इति दृष्टान्तेन मुण्डकोपनिषदि "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति" इत्यत्र

यथोर्णनाभिस्सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयस्सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि

इत्यादिदृष्टान्तैश्च, पूर्वोक्त एवार्थो दृढीकृतः । सर्वव्यापकत्वसंवितानि सर्वाधारत्वसर्विनयामकत्वसर्वस्वामित्वानि "यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यादिश्रुत्युक्तसर्वशरीरत्वोपपादकानि, इत्थञ्च "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" "किङ्कारणं ब्रह्म" "सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" "परिणामात्" "परिणामस्तु स्याद्दध्यादिवत्" इत्यादिश्रुतिसूत्रवाक्यादिभिः निर्णीतो यस्सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं ब्रह्म कारणं स्थूलचिदचिच्छरीरकं ब्रह्म कार्यमित्यर्थस्स एव श्रीभाष्ये प्रतिष्ठापितः ।

विशेष्यविकारविरहेऽपि विशेषणे सत्वेन चिदचिद्विशिष्टस्योपादानता ®

वाक्ये मृत्तिकादृष्टान्तं विहाय दिधदृष्टान्तोपादानं यथा क्षीरस्य दिधभावेन परिणामोऽन्यनिरपेक्षः, आतञ्चनस्य शैघ्र्यरसविशेषमात्रफलकत्वात्, तथा सूक्ष्मचिदचिदन्तरात्मतां विहाय स्थूलचिदचिदन्तरात्मत्वरूपपरिणामोऽप्यन्यनिरपेक्ष एवेति बोधनाय, न च छान्दोग्यादौ मृत्तिकादिदृष्टान्तेषु स्वरूपपरिणामसत्त्वेन तस्यापि ब्रह्मणि स्वीकारापत्तिरिति शङ्क्यं, कारणतावच्छेदके विशेषणे स्वरूपपरिणामसत्त्वेन विशेष्ये तद्विरहेऽपि विशेषणान्तर्यामित्वमात्रेणैव तदुपपत्तेः । विशेष्ये तदंशतात्पर्यविरहश्च, "नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारमिमाः प्रजा जायन्ते" "अन्तश्शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यः" "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति सौबालश्रुतौ अज नित्य अपहतपाप्म नारायणशब्दादिभिर्बोधितः । एतद्ज्ञापनार्थमिप "हरिर्नारायणः प्रभुः" इत्यत्र नारायणशब्दः प्रयुक्तः । तदाहुः स्मृत्यधिकरणे "आसीदिदं तमो भूतम्" "तेन नारायणस्स्मृतः" इति मनुवचनविवरणावसरे व्यासार्याः

अत्र सुबालोपनिषदर्थो भगवता मनुनाऽनुसन्धीयते, अतस्सुबालोपनिषद्क्तप्रकारेणात्र प्रलय उच्यते

इत्य् उपक्रम्य "सुबालोपनिषदि "अज एको नित्यः" इति निर्विकारत्वं जगत्कारणत्वं जगदन्तर्यामित्वञ्चोक्त्वा नारायणशब्दोऽसकृदावर्तितः, अतो जगत्कारणत्वादिकं त्रितयमपि नारायणशब्दस्यावयवार्थ इति श्रुतेरभिप्राय इति मत्वा जगत्कारणत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तकं नारायणशब्दं परमकारणस्य वाचकत्वेनाह "आपो नारा" इति चित्संसृष्टान्यण्डकारणतत्त्वान्यापः, तासां नारत्वमुपपादयति "आपो वै नरसूसवः" इति "रीङ् क्षये" इत्यस्माद्धातोर्डप्रत्यये टिलोपे च कृते 'र' इति भवति; नरः - अक्षयः निर्विकार इत्यर्थः, "जह्नुर्नारायणो नरः" इति वचनान्नर इति भगवन्नाम तस्माज्जाता इत्यण्प्रत्यये कृते नारा इति भवति, नाराख्या आपोऽयनमस्येति नारायणः, एवं नरशब्देन निर्विकारत्वम्, नारशब्देन जगत्कारणत्वम्, अयनशब्देन जगदन्तरात्मत्वञ्चेत्यर्थत्रयमुक्तं भवतीत्यन्तम् ।

शरीरशरीरिभावस्यापृथक्सिद्धेश्च द्वैधा ऐक्यव्यपदेशनिमित्तता ③

अत्र ब्रह्मरूपविशेष्यांशे स्वरूपपिरणामविरहो विवक्षित इति व्यक्तमुपपादितम् । सुबालोपनिषदि षष्ठखण्डे "नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारिममाः प्रजा जायन्ते" इत्यादिनाऽऽधाराधेयभावस्य उपादानोपादेयभावमुखेनैक्योपपादकतामिभधाय, सप्तमखण्डे "अन्तरशरीरे निहितो गुहायामज एकः" इत्यारभ्य "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यन्तेन शरीरशरीरिभावस्य, उपादानोपादेयभावबहिर्भावेनाप्यैक्यव्यपदेशनिमित्तता प्रत्यपादि । एवं छान्दोग्येऽपि "सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वा प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः" इत्यत्र "सदायतनाः" इत्यनेन आधाराधेयभावमुखेन शरीरशरीरिभावस्य उपादानोपादेयभावोपपादकत्वं प्रदर्श्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इत्यत्र शरीरशरीरिभावस्य उपादानोपादेयभावानन्तर्भावेणाप्यभेदव्यपदेशनिमित्तता स्फुटीकृता, अतस्सर्वव्यापकत्वसर्वाधारत्वसर्वनियामकत्वसर्वस्वामित्वानि सर्वोपादनत्वानन्तर्भावेणापि

शरीरशरीरिभावमुखैनैक्यव्यवस्थापकानि । अत्र व्यापकत्वमपृथिक्सिद्धौ विश्राम्यति, एवञ्च तदपृथिक्सिद्धत्वे सित तदाधेयत्वं तिन्नयाम्यत्वं तच्छेषत्वं वा शरीरत्वमत्र विविक्षितम्, तदपृथिक्सिद्धत्वे सित तिन्नयाम्यत्वरूपं तच्छिरीरत्वञ्च "ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा" इत्यादाविप विविक्षितम् । अत्र च अपृथिक्सिद्धत्वं शरीरत्वान्तःपातितयाऽनन्तःपातितया च ऐक्यव्यपदेशिनिमत्तं भवित । "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम् - एकस्सन् बहुधा विचारः - शतँ शुक्राणि यत्रैकं भवन्ति - सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति" "अन्तःप्रविष्टश्शास्ता जनानाँ सर्वात्मा - सर्वाः प्रजा यत्रैकं भवन्ति" इत्यादौ च अपृथिक्सिद्धिघटितशरीरशरीरिभाव ऐक्यव्यपदेशिनदानमिति व्यक्तम् । अपृथिक्सिद्धेरिप "सर्वभूतस्थमेकं नारायणम्" इति नारायणोपनिषदि "तत्स्थत्वादनुपश्यन्ति ह्येक एवेति साधवः" इति जनकयाज्ञवल्क्यसंवादादौ च एकत्वव्यवहारमूलता स्फुटा ।

आधाराधेय-भाव-लय-कारणत्वादेर् ऐक्य-व्यवहार-निदानता®

एवं नृसिंहोत्तरतापनीयेऽपि "अथैषो एवाकार आप्ततमार्थ आत्मन्येव नृसिंहे ब्रह्मणि वर्तत एष ह्येवाप्ततम एष हि साक्ष्येष ईश्वरोऽतस्सर्वगतो न हीदं सर्वमेष हि व्याप्ततम इदं सर्वं यदयमात्मा" इति पञ्चमखण्डे, "सर्वं ह्ययमात्मा अयं हि सर्वान्तरो न हीदं सर्वं निरात्मकमात्मैवेदं सर्वम्" इति पप्तमखण्डे, "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" इति गीतादौ च पूर्वोक्तार्थोऽवसेयः । आधाराधेयभावस्य ऐक्यव्यवस्थापकता "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनस्सहप्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथात्मानम्" इत्याथर्वणश्रुतौ "अस्मिन् हि सर्वमयं सर्वात्मा अयं हि सर्वं नैवो तोऽद्वयः" इति नृसिंहोत्तरतापनीये, "धाता विधाता कर्ता विकर्तादिव्योदेव एक एव नारायणः" इति सुबालोपनिषदि, "यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यते" (म-भा) इत्यादौ च व्यक्तम् । लयकारणत्वादेश्च, ऐक्यव्यपदेशनिदानत्वं स्पष्टमाहाथर्वशिरश्श्रुतिः "अथ कस्मादुच्यत एक इति यत्सर्वान् लोकानुद्गृह्णाति सृजित विसृजित वासयित तस्मादुच्यत एक" इति, श्वेताश्वतराश्च 'संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः, "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः"

एतद्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातःपरं वेदनीयं हि किञ्चित् । भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

इति प्रथमाध्याये क्षराक्षरशब्दार्थाचेतनचेतनयोः नित्यपरमात्माधेयत्वानियाम्यत्वादिकमभिधाय चेतनाचेतनसर्वतत्वानां द्वितीयाध्याये

> यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

इति मोक्षसाधनज्ञानविषयतामामनन्ति । एतेन तत्रैव तृतीयाध्याये "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" इति श्रुतौ एवकारेण भगवद्व्यतिरिक्ततत्त्वानां पुरुषपदमितानां मोक्षसाधनज्ञानविषयता न व्यवच्छिद्यत इति ज्ञापितम् ।

श्वेताश्वतर--कठोपनिषदोर् अनेक-तत्त्व-परता ③

अत एव कठाः व्याप्यव्यापकतत्त्वद्वयं प्राहुः

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः । अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥

इति । अत्र

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको लिङ्ग एव च । यद्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वञ्च गच्छति ॥

इति पूर्वप्रस्तुतं सर्वव्यापकं सर्वशरीरिपरपुरुषतत्त्वं, तद्भ्याप्यमव्यक्ताद्यवरतत्त्वञ्चेत्युभयोरेकरूपपरमार्थत्वानुसन्धानेनैव सर्वव्यापकसर्वशरीरिपरपुरुषतत्त्वं स्वरूपान्यथाभावकर्मकृतस्वभावान्यथाभावरूपपरिणामशून्यत्वेन "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" इत्युक्तमिति विदुषां न तिरोहितम्, तदुक्तं शरीरे भावाधिकरणे व्यासार्यैः "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" इति श्रुतिस्तु जन्मादिभावविकारराहित्यविषया न तु सन्मात्रं ब्रह्मेत्येवं परा" इति, अनया सूक्त्या विष्णुपुराणे -

परः पराणां परमः परमात्माऽऽत्मसंस्थितः । रूपवर्णादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः ॥ १-२-१० ॥ अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामधिंजन्मभिः । वर्जितश्शक्यते वक्तुं यस्सदाऽस्तीति केवलम् ॥ ११ ॥ सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यतः । ततस्स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥ १२ ॥ तद्ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम् । एकस्वरूपं तु सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥ १३ ॥ तदेव सर्वमेवैतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत् । तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम् ॥ १४ ॥ परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः परमं द्विज । व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथापरम् ॥ १५ ॥ प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत् । पश्यन्ति सूरयश्शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १६ ॥

विष्णु-पुराणस्य कठोपनिषद्-उपबृंहणता ③

इत्याद्युपक्रमवचनानाम् -

न सन्ति यत्र सर्वेशे नामजात्यादिकल्पनाः । सत्तामात्रात्मके ज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे ॥ ६-४-३७॥ तद्ब्रह्म परमन्धाम परमात्मा स चेश्वरः । स विष्णुस्सर्वमेवेदं यतो नावर्तते यतिः ॥ ३८ ॥ प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी । पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ॥ ३९ ॥ परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः । विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥ ४० ॥

डति ।

स सर्वभूतप्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुने व्यतीतः । अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद्भुवनान्तराले ॥६-५,८३॥ समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः । इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ (यः) ॥ तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः । परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेशे ॥ ८५ ॥

इत्यारभ्य "तद्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्" इत्याद्युपसंहारवचनानाञ्च कठोपनिषदि, एतत्प्रकरणस्य "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमम्पपदम्" इति प्रकरणस्य चोपबृह्मणत्वं व्यञ्जितम् ॥ एवं वाजसनेयिनोऽपि चतुर्थे "द्वे वावब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च" तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथामाहारजनं वासः" इत्यनेन मूर्तमूर्तचिदचित्प्रपञ्चात्मकरूपद्वयं माहारजनादिसदृशदिव्यरूपञ्चाभिधाय "नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति" इति वाक्येन "द्वे वावे"त्यादिपूर्ववाक्यजनितं ब्रह्मणो रूपपरिच्छिन्नत्वभ्रमं निरस्य, अपरिच्छिन्नरूपवत्त्वञ्च व्यवस्थाप्य ब्रह्मणोऽन्यदुत्कृष्टं नास्तीति प्रतिपादयन्ति । अत्रान्यशब्दपरशब्दयोः प्रयोगेण ब्रह्मणोऽन्यन्नास्तीत्यर्थोत्प्रेक्षणस्य नावसरः, एवं षष्ठे "यद्वैतन्न पश्यति" इत्य उपक्रम्य

उपनिषत्सु ब्रह्मणोऽन्यस्योत्कृष्टस्य विभक्तस्य पृथग्-भूतस्यैव निषेधः®

"न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्" इत्यत्र अन्यशब्दविभक्तशब्दयोः प्रयोगेण ब्रह्मसंयुक्तस्य जगतस्सद्भावमेव स्थिरीकुर्वन्ति, तत्रैव "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यत्रापि "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" इति वक्ष्यमाणप्रकारविरुद्धनानात्वविशिष्टमेव वस्तु निषेधन्ति । कठा अपि "नेह नानास्ति किश्चन" इत्यत्र "एवं धर्मान् पृथक्पश्यन्" इति वक्ष्यमाणपृथक्त्वविशिष्टमेव वस्तुप्रतिषेधन्ति, तदेतत्सर्वम् "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" "प्रकृतैतावन्त्वं हि प्रतिषेधित ततो ब्रवीति च भूयः" अविभागेन दृष्टत्वात्" इत्यादिसूत्रेषु व्यासाभिप्रेतम् - अत्र 'नारायणपरा वेदाः' 'नारायणपरं साङ्ख्यम्' इत्य उपक्रम्य 'तत्त्वं जिज्ञासमानानाम्' इति श्लोके सङ्ग्रहेण प्रतिपादितमर्थं 'नित्यो नित्यानाम्' तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यम्, इत्यादिश्रुत्यर्थनिर्धारविषया

महाभारत एव पूर्वं करालजनकवसिष्ठसंवादजनकयाज्ञवल्क्यसंवादादौ विस्तरेण व्यासोऽपि व्यवस्थापयामास । तथा हि मोक्षधर्मे -

> प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम् । परं नारायणं देवं निर्द्वन्द्वं प्रकृतेः परम् ॥ ३०७-९६ ॥ विमुक्तस्सर्वपापेभ्यः प्रविष्टस्तमनामयम् । परमात्मानमगुणं न निवर्तति भारत ॥ ३०७-९७ ॥ एवमुक्तेन कौन्तेय युक्तज्ञानेन मोक्षिणा । साङ्ख्या राजन्महाप्राज्ञाः गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ ३०७-९९ ॥ ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते । अत्र ते संशयो मा भूत् ज्ञानं साङ्ख्यं परं मतम् ॥ ३०७-१०० ॥ अक्षरं ध्रुवमव्यक्तं पूर्णब्रह्म सनातनम् । अनादिमध्यनिधनं निर्द्वन्द्वं कर्तृ शाश्वतम् ॥ ३०७-१०१ ॥ कृटस्थं चैव नित्यं च यद्वदन्ति शमात्मकाः । यतस्सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ॥ ३०७-१०२ ॥ ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु साङ्ख्येषु तथैव योगे ।

पूर्ववचनानुसारेण क्षराक्षरप्रश्नाशयः ③

यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥ ३०७-१०८ ॥ कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मन्ना नारायणो धारयतेऽप्रमेयम् ॥ ३०७-११४ ॥ एतन्मयोक्तं नरदेव तत्त्वं नारायणो विश्वमिदं पुराणम् । स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥ ३०७ - ११५ ॥

संहृत्य सर्वं निजदेहसंस्थं कृत्वाप्सु शेते जगदन्तरात्मा । इति पूर्वमुक्तम् । अत्र 'प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य' इत्यतः प्राक्तनवचनेषु पूर्वं (पु. १०३) उदाहृतेषु (अ सा) आचार्यपादनिर्णीतदिशा अर्चिरादिगत्यविरुद्धगतिद्वारकपरमात्मप्राप्त्यपुनरावृत्योस्स्फुटतया 'प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य इत्यत्रापि प्रकृतिमण्डलादूर्ध्वदेशगमनार्थं प्रकृत्यतिक्रम एव विवक्षितः । अत एव जीवस्य परमात्मप्राप्तिस्सम्यगुपपद्यते । एतेन जीवपरभेदः प्रतीयते नारायणो विश्वमिदं पुराणम् । इत्यत्र नारायणे विश्वभिदः प्रतिपादितः कूटस्थनित्यताप्यक्षरब्रह्मण उक्ता ।

जनक-वसिष्ठ-संवादः ③

एतेन जीवेश्वरयोरभेदः प्रतीयते एवं च अक्षरं जीवाभिन्नं परं ब्रह्म विवक्षितम् उत जीवभिन्नम् ? द्वितीये जीवस्याक्षरत्वम् उत क्षरत्वम्? अक्षरत्वे उभयगतं तदेकरूपं उत न? क्षरत्वे अक्षरप्राप्तिः कथम्?

इत्यादि संशयेन युधिष्ठिरो भीष्मं पृच्छति -

किं तदक्षरमित्युक्तं यस्मान्नावर्तते पुनः । किं च तत्क्षरमित्युक्तं यस्मादावर्तते पुनः ॥

इत्यादिना ।

मूलम् 🐠

भीष्म उवाच -

अत्र ते वर्तियिष्यामि इतिहासं पुरातनम् । विसष्ठस्य च संवादं करालजनकस्य च ॥ विसष्ठं श्रेष्ठमासीनमृषणां भास्करद्युतिम् । पप्रच्छ जनको राजा ज्ञानं नैश्रेयसं परम् ॥ भगवन् श्रोतुमिच्छामि परं ब्रह्म सनातम् । यस्मान्न पुनरावृत्तिमाप्नुवन्ति मनीषिणः ॥ ३०८ । ११ ॥ यच्च तत्क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत् । यच्चाक्षरमिति प्रोक्तं शिवं क्षेम्यमनामयम् ॥ १२ ॥

इति करालजनकप्रश्नस्य वसिष्ठप्रतिवचने -

एषा तत्त्वचतुर्विंशी सर्वाकृतिषु वर्तते । यां ज्ञात्वा नाभिशोचिन्त ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥ २९ ॥ एतद्देहं समाख्यातं त्रैलोक्ये सर्वदेहिषु । वेदितव्यं नरश्रेष्ठ स देव नरदानवे ॥ ३० ॥ कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरतेऽव्यक्तसंज्ञितम् । अहन्यहिन भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः ॥ ३५ ॥ कथितन्ते महाराज यस्मान्नावर्तते पुनः ॥ ३७ ॥ पञ्चविंशतितमोविष्णुर्निस्तत्त्वसत्त्त्वसंज्ञितः । तत्त्वसंश्रयणादेतत्तत्वमाहुर्मनीषिणः ॥ ३८ ॥ यन्मर्त्यमसृजद्व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति । चतुर्विंशत्तमो व्यक्तो ह्यमूर्तः पञ्चविंशकः ॥ ३९ ॥ स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वात्माऽवितष्ठते । चेतयंश्चेतनान्नित्यं सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ॥ ४० ॥ एवमेष महानात्मा सर्गप्रलयकोविदः । विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ॥ ४२ ॥ तमस्सत्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु । लीयतेऽप्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ॥ ४३ ॥ सहवासनिवासात्मा नान्योऽहमिति मन्यते । योऽहं सोऽहमिति ह्यक्त्वा[[??]] गुणानेवानुवर्तते ॥ ४४ ॥ तमसा तामसान्भावान्विविधान् प्रतिपद्यते । रजसा राजसांश्चैव सात्विकान् सत्वसंश्रयात् ॥ ४५ ॥

डति ॥

बद्धजीवस्य क्षरत्वोक्त्या अक्षरपदार्थनारायणकार्यता @

जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे -

सात्विकस्योत्तमं स्थानं राजसस्येह मध्यमम् । तामसस्याधमं स्थानं प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥ ३१९-३ ॥ केवलेनेह पुण्येन गतिमूर्ध्वामवाप्नुयात् । पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मेणाप्यधोगतिम् ॥ ४ ॥ पुण्यपापविमुक्तानां स्थानमाहुर्महात्मनाम् । शाश्वतं चाव्ययं चैवमचलं चाक्षरं च ह ॥ ५ ॥

इति । अत्र करालजनक प्रश्ने 'प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य' इत्यादौ प्रागुक्तानामक्षयत्त्वापुनरावृत्त्यभिधानेन नारायण एव अक्षरम्; नाराणमयनमिति नारप्राप्यत्वं च नारायणपदार्थ इति विवक्षितम् । एतेन 'अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुं १-५-) इत्यत्र अक्षरपदार्थो नारायण इति स्थापितम् । भूतात्मा - बद्धजीवः, अत्र प्राक् (२४८ पु) उदाहृत (मै-३) श्रुतिरनुसन्धेया । भूतात्मनः क्षरत्त्वोक्त्या अचेतनवत् कार्यत्त्वं बोधितम् । तेन वस्तुत्तो जीवस्य पञ्चविंशत्त्वस्य वक्ष्यमाणत्त्वेऽपि अचित्सम्बद्धस्य कार्यतया चतुर्विंशतितत्त्वान्तर्भावमभिप्रेत्यैव अनुपदमेव विष्णोः पञ्चविंशतिमन्त्रोक्तिस्सङ्गच्छते । विष्णुशब्देन कठश्रुत्याद्यभिप्रेतं व्याप्यव्यापकतत्त्वद्वयं व्यञ्जितम् । निस्तत्त्वः - आधारभूततत्त्वशून्यः, 'तत्त्वसंश्रयणात्' इति वक्ष्यमाणानुसारात्, स्वतन्त्र इति यावत् । एतत् -क्षरम्, तत्त्वसंश्रयणात् - विष्णवधीनसत्तावत्त्वात्, एतेन क्षरस्य परतन्त्रतत्त्वरूप्तोक्ता भवति । एतदेव विशदयति 'यन्मर्त्यम्' इत्यादिना 'तत्तन्मूर्ति' इत्यत्र तत्, तन्मूर्ति, इति छेदः । यच्छब्दे वीप्साभावेन तच्छब्दे वीप्साविवक्षणानौचित्यात् । तत् - सृष्टं क्षरं चिदचिदात्मकम्, तन्मूर्ति-क्षरशरीरकं विष्णुतत्त्वम्, एतद्देहम्' इति पूर्वमभिधाय अत्र 'तन्मूर्ति' इत्युक्त्या भूतात्मनो लोकप्रसिद्धदेहवत् अचिद्भूतात्मनोरुभयोरिप विष्णुदेहत्त्वमिति बोधितम् ।

अभेद-व्यपदेशस्य शरीर-शरीरि-भाव-निबन्धनता @

एतन्मुलक एवाभेदव्यपदेश इति दर्शयति 'चतुर्विंशति[[??]]मोऽव्यक्त' इति 'अमुर्तः' 'अमूर्तिमान' इत्यत्र भूतात्मवत्कर्मकृतशरीरशुन्य इत्यर्थः । सर्वशरीरकृतवेन भुतात्मविलक्षणात्मत्त्वं विष्णोर्दर्शयति 'स एव', इत्यादिना । चेतयंश्चेतनान्नित्यम इत्येव पाठः प्राचीनलिखितकोशेषु बहुषु (वा. रामस्वामिशास्त्रिमुद्रितकोशेपि) दृश्यते । 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' तमात्मस्थम्' (कठउ ५-१३) 'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' (श्वेउ ६-१३) 'स एतासां प्रतिबोधनायाभ्यन्तरं विविशानीति' 'आत्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारम्" (मै उ ३ - २) इति (पु १४८) उदाहृतायाश्च श्रुतेरनुसारात् । आत्मस्थम्' इति 'व्याप्य नारायणस्स्थितः' (तैना) इति श्रुत्यनुसाराद्व्याप्तिपरम । प्रभृं कारयितारमिति स्वामित्त्वनियामकत्त्वे उक्ते । एतेन जीवस्य परमात्मशरीरत्वं दर्शितम् । 'नरसम्बन्धिनस्सर्वे चेतना-चेतनात्मकाः' (र-त्र) इति वचनार्थोऽपि संगृहीतः । एतावता शरीरशरीरिभावापन्नतत्त्वद्वयमिति देहे आत्मद्वयमिति च निर्णीतम । 'विकुर्वाण' इत्यादिभूतात्मनिरूपणपरम्' विकुर्वाण इति पूर्वोक्तक्षरशब्दार्थ उक्तः । 'प्रकृतिमानभिमन्यति' इत्यनेन 'तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' (श्वे उ) इति श्रृत्यर्थ उक्तः । श्रुतौ च 'मायया' इति संनिरुद्ध इत्यत्रैवान्वेति । तेन अन्यपदार्थभूतः मायास्वामीश्वरभेदः जीवगतस्स्वाभाविको न मायिक इति बोध्यते । अत्रपूर्वम् 'एतद्देहं - सर्वदेहिषु, इत्यत्र प्रकृतेर्देहरूपाया यस्संबन्ध उक्तस्स एव देहात्माभिमानस्य स्वतन्त्रात्माभिमानस्य च हेतुरित्याशयः । 'देहयोगाद्वासोऽपि' (शा सू ३-२-५) इति सूत्रेप्ययमर्थः स्फुटः । अत्र जीवस्य क्षरत्वोक्त्या नराज्जातत्वेन नारपदार्थत्वं दर्शितम । सहवासेति - सहवासः विष्णुना सह देहे वास एव निवासो यस्य सः सहवासनिवास इत्यर्थः । एतेन देहे जीवापथक्सिद्धिवत भूतात्मनो विष्ण्वपथक्सिद्धिरपि प्रदर्शिता । एतन्निबन्धनं मोहाकारमाह 'नान्य' इत्यादिना ।

प्रकृति-मण्डलाद् ऊर्ध्व-देशे परस्य मुक्तप्राप्यता 👁

'आत्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारियतारं नापश्यत्' (१४८ पृ) इत्याद्युदाहृतश्रुतेरर्थं एतेनोक्तः । जनकयाज्ञवल्क्यसंवादेऽप्ययमर्थो वक्ष्यते । "तमसा तामसान्" इत्यादेस्सात्विकान्सत्वसंश्रयात्, इत्यन्तस्यार्थस्य जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे विवरणमुखेन सात्विकस्योत्तमं स्थानं – पुण्यपापिवमुक्तानां स्थानमित्यादिना प्रकृतिञ्चाप्यतिक्रम्य । इत्यादिप्रागुदाहृतवचनेऽि प्रकृतिमण्डलादूर्ध्वस्थानं विविक्षितमिति निर्णीतं भवति । केवलेनेह पुण्येनेत्यत्र 'पुण्यस्त्रिषु मनोज्ञे स्यात् क्लीबं सुकृतधर्मयोः, इत्यादिमेदिनीकोशादात्मज्ञानरूपधर्मोऽिप पुण्यशब्दार्थः । "अधर्मेणाप्यधोगतिम्" इति समिभव्याहाराच्च । एतेन "यो ह वा वोपिरस्थः श्रूयते" (मै. उ २-४) इत्यादिश्रुतिसिद्धस्य ज्ञानिप्राप्यता दर्शिता । एतेन 'अथ परा या यतदक्षरमिथगम्यते, (मृ. उ.) इत्युपक्रमोक्ताक्षरप्राप्तिः, 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' । (मृ कठ-३-८) इत्युपसंहारे दिव्यपदेनाप्राकृतदेशे विविक्षता 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः' "तरित शोकं तरित पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति" इति पूर्वं परत्र "तदापीतेस्संसारव्यपदेशात्" (शा. सू. ४-२-८) इति सूत्रे च गतिमध्ये सूक्ष्मशरीरादिविगमानन्तरमेव मुक्तिप्रतिपादनेन प्रकृतिमण्डले मुक्त्यसम्भवादिति सिद्धम् । अत्र जीवपरयोः शरीरशरीरिभावोक्त्या एकत्वव्यपदेशोपपादनेनाभेदबुद्धेभ्रमत्वोक्त्या च जीवपरभेदः

सिद्धान्तितः । देहजीवयोरभेदबुद्धिवत् जीवपरयोरभेदबुद्धिरपि भ्रम एवेति उत्तरग्रन्थसन्दर्भेऽपि व्यक्तम् ।

पुरुषस्य स्त्रीसम्बन्धतुल्यतया प्रकृतिनित्यसङ्गस्य मोक्षानुपपत्तिप्रश्नः ④

मूलम् 🧐

(म. भा. शा. मो.)

अहमेतानि वै सर्वं मय्येतानीन्द्रियाणि ह । निरिन्द्रियो हि मन्येत व्रणवानस्मि निर्व्रणः ॥ ३०८-५०१ ॥ अक्षरः क्षरमात्मानमबुद्धिस्त्वभिमन्यते ॥ ३०९-५४ ॥ एवमप्रतिबुद्धत्त्वादबुद्धजनसेवनात् । सर्गकोटिसहस्राणि मरणान्तानि गच्छति ॥ ३१०-९ ॥ तदेव षोडशकलं देहमव्यक्तसंज्ञिकम् । ममायमिति मन्वानस्तत्रैव परिवर्तते ॥ ३१०-८ ॥ पञ्चविंशस्तथैवात्मा तस्यैवाप्रतिबोधनात् । विमलश्च विशुद्धश्च शुद्धामलनिषेवणात् ॥ ३१०-९ ॥ अशुद्ध एव शुद्धात्मा तादृग्भवति पार्थिव । अबुद्धसेवनाच्चापि बुद्धोऽप्यबुद्ध(ध)तां व्रजेत् ॥ ३१०-१० ॥

करालजनक उवाच -

अक्षरक्षरयोरेष द्वयोस्सम्बम्ध उच्यते । स्त्रीपुंसोश्चापि भगवन्सम्बन्धस्तद्वदुच्यते ॥ २१० - १२ ॥ एवमेवाभिसम्बद्धौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ । पश्यामि भगवंस्तस्मान्मोक्षधर्मो न विद्यते ॥ ३१०-१९ ॥ मोक्षकामा वयं चाऽपि काङ्क्षामो यदनामयम् । अदेहमजरं नित्यमतीन्द्रियमनीश्वरम् ॥ ३१०-२१ ॥

वसिष्ठ उवाच -

धार्यते हि त्वया ग्रन्थ उभयोर्वेदशास्त्रयोः । न च ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञो यथावत्त्वं नरेश्वर ॥ ३१०-२३ ॥ यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः । न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥ ३१०-२४ ॥ एकत्वमक्षरं प्राहुर्नानात्वं क्षरमुच्यते ॥ ३२०-४७ ॥ पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक्प्रचक्षते । एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम् ॥ ३१०-४८ ॥

जनक उवाच -

नानात्वैकत्विमत्युक्तं त्वयैतदृषिसत्तम । पश्यामि वाभिसन्दिग्धमेतयोर्वे निदर्शनम् ॥ ३११-१ ॥ तथाऽबुद्धप्रबुद्धाभ्यां बुध्यमानस्य चानघ । स्थूलबुद्ध्या न पश्यामि तत्वमेतन्न संशयः ॥ ३११-२ ॥ अक्षररक्षयोर्युक्तं त्वया यदिप कारणम् । तदप्यस्थिरबुद्धित्वात्प्रनष्टमिव मेऽनघ ॥ ३११-३ ॥ तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि नानात्वैकत्वदर्शनम् । प्रबुद्धमप्रबुद्धं च बुध्यमानं च तत्त्वतः ॥ ३११-४॥ विद्याविद्ये च भगवन्नक्षरं क्षरमेव च । सांख्यं योगं च कात्स्न्येन पृथक्चैवापृथक्च ह ॥ ३११-५॥

वसिष्ठ उवाच -

योगकृत्यं तु योगानां ध्यानमेव परं बलम् । तच्चापि द्विविधं ध्यानमाहुर्वेदविदो जनाः ॥ ३११-७ ॥ तदा तमनुपश्येत यस्मिन्दृष्टे तु कथ्यते । हृदयस्थोऽन्तरात्मेति ज्ञेयो ज्ञस्तातमद्विधैः ॥ ३११-१९ ॥ विधूम इव सप्तार्चिरादित्य इव रश्मिमान् । वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ॥ ३११-१२० ॥ सम्पश्यन्ति महात्मानो धृतिमन्तो मनीषिणः । ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ह्ययोनिममृतात्मकम् ॥ ३ - २१ ॥ तदेवाहुरणुभ्योऽणु तन्महद्भ्यो महत्तरम् । तत्तत्र सर्वभूतेषु ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥ ३११-२२ ॥ योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया । सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ॥ ३११-२६ ॥ सर्गप्रलय एतावान्प्रकृतेर्नुपसत्तम । एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदाऽसृजत् ॥ ३११-३३ ॥ एवमेव च राजेन्द्र विज्ञेयं ज्ञेयचिन्तकैः । अधिष्ठाता य इत्युक्तस्तस्याप्येतन्निदर्शनम् ॥ ३१२-३४ ॥ एकत्वं च बहुत्वं च प्रकृतेरनुतत्ववान् ।

एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्तनात् ॥ ३११-२५॥ बहुधात्मानमकरोत्प्रकृतिः प्रसवात्मिका । तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविंशोऽधितिष्ठति ॥ ३११-३६॥ अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्यते यतिसत्तमैः । पञ्चविंशोप्रबुद्धात्मा बुध्यमान इति स्मृतः । यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः ॥ ३११-४४ ॥ सम्यग्दर्शनमेतावद्भाषितं तव तत्त्वतः । एवमेतद्विजानन्तः साम्यतां प्रतियान्त्युत ॥ ३११-४५ ॥ नत्वेवं वर्तमानानामावृत्तिर्विद्यते पुनः । विद्यतेऽक्षरभावत्वं ये परात्परमव्ययम् ॥ ३११-४७॥ पश्येरन्नेकमतयो न सम्यक्तेषु दर्शनम् । तेऽव्यक्तं प्रतिपद्यन्ते पुनः पुनररिन्दम । ३११-४८ ॥

अर्थ:4)

इति देहाद्यात्मभ्रमं दर्शयति - अहमेतानीत्यादिना । अक्षरः ॥ ५४ ॥ स्वरूपपरिणामशून्य इत्यर्थः । एतेन अहमर्थस्य जीवस्य वस्तुतोऽक्षरत्वमेवेति सिध्यति परमात्मस्वामिके तद्भोगसाधने देहादौ स्वस्य स्वामित्वभोगसाधनत्वबुद्धिरूपममकारं दर्शयति - तदेवमित्यनेन । उक्त ममकार एव संसृतिहेतुरिति भावः । तस्यैवाप्रतिबोधनादिति 'ममायमिति मन्वान' इत्यत्रैवान्वेति । स्वभावतो विमलः विशुद्धः ममायमिति मन्वान इत्युक्तहेतोरशुद्ध एव शुद्धामलनिषेवणात् शुद्धात्मा तादृग्भवतीत्यन्वयः । शुद्धामलपदं परमात्मपरम् । तादृगित्यत्र परमसाम्यं विवक्षितम् । प्रकृतिसेवनया बद्धो जीवः परमात्मसेवनया मुक्तः परमात्मसमो भवतीत्यर्थः । नित्यप्रकृ"तिसम्बद्धस्य प्रकृतिमोक्षः कथम्? इति करालजनकप्रश्नः । 'अनामयम्' परमात्मपरम् । अनीश्वरमिति - न विद्यते ईश्वरो यस्येति विग्रहः । "पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्" "न तस्येशे कश्चन" इति श्रुत्यर्थोऽत्रानुसंहितः । एकत्विमिति ॥ ४८॥ सृष्टौ प्रकृतेः परिणामानन्त्येन देहाद्यात्मभ्रमसम्भवेन नानात्वम् ।

प्रलयकालिकम् एकत्वं सृष्टि-कालिकं बहुत्वम् इत्य् एक-श्रुति-सिद्धान्तः®

प्रलये च परिणामाभावेन एकत्वमित्यनुपदमेव स्फुटीभविष्यति । यदा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं तदा चतुर्विंशतितत्त्वातिरिक्तपञ्चविंशजीवस्वरूपैकत्वज्ञाने स्वदेहादिगतनानात्वभ्रमो यदा नास्ति तदा ज्ञायमानं तत्तज्जीवगतमेकत्वमेव दर्शनम् । तत्तज्जीवगतैकत्वज्ञानं सम्यग्दर्शनमिति यावत् । तत्तज्जीवेषु स्वस्वदेहाद्यात्मभ्रमदशायां नानात्वज्ञानं न सम्यग्दर्शनमिति च । प्रकृतिमोक्षहेतुभूतं योगकालिकं स्वात्मनि परमात्मदर्शनं कथयति तदेत्यादिना - एतेन स्वतन्त्रात्मभ्रमः जीवपराभेदभ्रमश्च व्युदस्तो भवति । आत्मनि - स्वात्मनि जीवे आत्मा-परमात्मा दृश्यत इत्यर्थः । 'विज्ञानात्मा पुरुषः सपरेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते' (प्र. ४ - ९) इत्युक्तेः परमात्मनि जीवात्मा इत्यर्थस्य सम्भवेऽपि "यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु" (मुण्ड २-२-२) इत्यादिश्रुत्यर्थस्य तदेवाहुः २२० ।

इत्यनेनोक्तेः । आत्मनि जीवे इत्यादिप्रागुक्तार्थ एवात्र विवक्षितः सर्वभूतेषु ध्रुवं तिष्ठत् - इत्युक्तेश्च प्रलये प्रकृतेरेकत्वेन तदिष्ठष्ठातुः परस्यैकत्वेन व्यवहारः । सृष्टौ प्रकृतेर्बहुत्वात्तदिष्ठष्ठातुः परस्याऽपि बहुनामरूपभाक्त्वेन बहुत्वेन व्यवहारोऽत्र विविक्षितः ॥ ३३-३४ ॥ 'तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविंशोऽधितिष्ठति' ॥ ३६ ॥ इत्यत्र परस्याप्यिष्ठष्ठातृत्वं विविक्षितम् । जीवस्याक्षरकौटौ कथनावसरे विष्णोः पञ्चविंशस्य 'यन्मर्त्यमसृजद्भ्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति । इत्यिष्ठष्ठातृत्वस्य पूर्वमिभधानात् जीवस्य स्वरूपज्ञानदशायामक्षरकोटौ निवेशेन परस्य च षड्विंशत्वेन जीवस्यैव पञ्चविंशत्वेनाप्येतत्प्रघट्टके व्यवहारादिति बोध्यम् । एतेन "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिश्रुतिषु प्रलयकालिकं नामरूपविभागाभावलक्षणमेकत्वं विविक्षितं नतु परसम्मतिमित निर्णीतं भवति ॥ ४४ ॥ आत्मानम् - दृश्यतेऽत्मा तथात्मिन ॥ २० ॥ इति पूर्वोक्तदिशा जीवात्मगतं परमात्मानिमत्यर्थः ।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः प्रकरोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

योगविषयभूतं याज्ञवल्क्यस्मृत्युक्तं परस्य जीवस्थत्वम्®

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

इति निर्गुणश्रुतिसमनन्तर(श्व - ६)श्रुत्यनुसारात् । एतेन -

ध्यानयोगेन संदृश्यस्सूक्ष्म आत्माऽऽत्मनि स्थितः । निस्सरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्ताः स्फुलिङ्गकाः । सकांशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि ॥ (याज्ञ. स्मृ. प्र. अ. ६७)

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान् । योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ (याज्ञ. स्मृ. प्र. अ. ११०)

अनन्यविषयंकृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् । ध्येय आत्मा स्थितो योसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥ (याज्ञ. स्मृ. प्र. अ. १११)

सिद्धे योगे त्यजन् देहममृतत्वाय कल्पते । (याज्ञ. स्मृ. प्र. अ. २०३)

इति याज्ञवल्क्यवचनानि व्याख्यातानि । एतेन पूर्वं "शुद्धामलनिषेवणात्" इत्यत्र निषेवणं योगरूपमिति बोधितम् । एवं पूर्वं तादृगित्यत्र परमात्मसाम्यमेव विवक्षितं तदपि

सर्वविषयकज्ञानवत्वेन ।

विज्ञानात्मा सहदेवैश्च सर्वैः प्राणा[[ण??]]भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञस्सर्वमेवाविवेशेति ॥ (प्रश्न उ. ४-११)

इति श्रुतेरित्याशयेनाह साम्यतामित्यादि साम्यताम् - साम्यमेव साम्यता । देवतेत्यादिवत्स्वार्थे तल्प्रत्ययः ॥ ४७ ॥ अक्षरभावत्वमिति स्वार्थे त्वप्रत्ययः । अक्षरभाव इत्यर्थः ।

अक्षरात्परतः परः इति (मुं) श्रुत्यर्थः®

जीवस्य स्वरूपपरिणामविरहस्य सार्विदकत्वे न धर्मभूतज्ञानगतसङ्कोचविकासात्मकपरिणामविरहः मुक्तिकालिक एवाक्षरभावः अत्र विविक्षितः । परमात्मसाम्यं च मुक्तस्यानेन धर्मेणेति चात्र विविक्षितम् । 'पश्येरन्नेकमतयः' इत्येव बहुषु कोशेषु (वा. रा. मु. कोशे च) पाठः । अयमेव पूर्वापरानुगुण्येन युक्तः । एकमतय इत्यत्र अक्षरपदार्थपरमात्मजीवाभेदज्ञानवन्त इत्यर्थः । अत्र 'परात्परमव्ययम्' इत्यनेन दिव्यो मूर्तः पुरुषः - 'अक्षरात्परतः परः' 'तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति च समानार्थकश्रुतिद्वयं प्रत्यभिज्ञाप्यते । तत्र च 'परतोऽक्षरात्पर' इति समानाधिकरणनिर्देशः । परतोऽक्षरान्मुक्तात्पर इति तदर्थः । एवं परात्परमित्यत्र नामरूपाद्विमुक्तात्परमित्यर्थः । "अथ परा यया तदक्षरमिथगम्येत"

> यथा सुदीप्तात्पावकाद्विष्फुलिङ्गास्सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधास्सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति

'अक्षरात्परतः परः' 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।" इति श्रुतयोऽत्रानुसंहिताः । अक्षरस्य परमात्मनः प्राप्यत्वं प्रकाशवदग्न्यादिदृष्टान्तेनाक्षरसरूपस्य ज्ञानविकासवतो जीवस्य जन्यत्वं परमात्मनः अक्षरात्परत्वं, मुक्तस्याक्षरसाम्यम् अक्षरपुरुषस्य नामरूपाद्विमुक्तात्परत्वं च जीवब्रह्मभेदाभ्युपगन्तॄणामेव पक्षे सङ्गच्छते नतु जीवपराभेदपक्ष इति भावः । एतत्प्रघट्टकमभिप्रेत्यैव वेदान्तसारे (१-२-२३) भगवता "अथवा सामानाधिकरण्येन परतोऽक्षरात्पञ्चविंशकात्पर इति भेदव्यपदेशः" इति 'अक्षरात्परतः पर' इति श्रुत्यर्थोऽभ्यधायि । पूर्वश्रुतावक्षरसरूपत्वेन प्रकाशवदग्न्यादिदृष्टान्तेन च ज्ञानवतां जीवानां जन्मोक्त्या अक्षरात्परत इत्यत्राक्षरशब्दः जीवपरः ।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ (मुं. उ. ३-१) इत्युत्तरश्रुतौ विद्वानित्यस्याभावेऽपि वाक्यार्थपूर्तिसम्भवे विद्वानिति पदेन मुक्तस्य ज्ञानसाम्यविवक्षासूचनपूर्वकं ज्ञानवतो जीवस्य परमात्मसाम्यं वक्ष्यते ।

मुण्डकश्रुत्यभिप्रेतं मुक्तस्य भगवता ज्ञानसाम्यम्®

तत्पूर्वश्रुतौ च 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः (मुं. उ. ३-२-२) इत्यत्र ईशजीवभेदम् ईशमहिमानं च पश्यन् जीवः प्रस्तुतः । महिमा च 'यस्सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमाभुवि' (मु. उ. २-२-७) पूर्वं सर्वज्ञस्य श्रुतः । एतत्पूर्वार्धेऽपि 'यदापश्यः' इति सगुणसाक्षात्कारवानेव विवक्षितः । अत्र कर्तारं ब्रह्मयोनिम् । इत्यनेन 'तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' (मुं. उ १-१-७) इति श्रुत्यर्थस्योपस्थापनेन तदुत्तरं 'यस्सर्वज्ञः सर्ववित्' इति सर्वज्ञत्वमप्युपस्थापितम् । एवं च 'विद्वान् साम्यमुपैति' इति वाक्ये ज्ञानवतस्सर्वज्ञत्वेनोपस्थितेन परमात्मना साम्यं ज्ञानसाम्य एव पर्यवस्यति । 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः' (गी. १४-३) 'स गुणान् समर्तात्यैतान्[[??]] ब्रह्मभूयाय कल्पते, (र्गा १४-२६) इति गीतायामुपक्रमोपसंहारयोः मुक्तस्य ब्रह्मणा साधर्म्यं ज्ञानसाम्यमेवेति एतच्छतितात्पर्यविषयीभृत एवार्थो निर्णीतः । सर्वज्ञत्वयोग्यस्य जीवस्य ज्ञानविकासप्रतिबन्धकपापसद्भावेन किञ्चित्पापनाशेन जन्मकालमारभ्य शरीरेन्द्रियद्वारकं किञ्चिज्ञानं ज्ञानप्रतिबन्धककतिपयपापविगमेन परमात्मज्ञानसमनन्तरं ततोऽतिशयितं ज्ञानं मुक्त्युपायभूतज्ञानपूर्त्या पुण्यपापसामान्यविधूनने सूक्ष्मशरीरस्य कर्मवासनायाश्च गतिमध्येऽपगमे प्रतिबन्धकसामान्यविगमेन सर्वज्ञत्वमिति बोधनाय 'तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यत्र विद्वान्, पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनः, परमम् इति पदान्युपात्तानि । उत्तरत्रापि चिदचितोः प्रलयेऽक्षरत्वैकत्वप्रदर्शनेन प्रलयकालिकमेवैकत्वमिति निर्धार्य जीवस्य परमात्मसाम्यं स्थिरीकियते ।

मूलम् 🐠

अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मिणीम् । सर्गप्रलयनिर्मुक्तो विद्यो वै पञ्चविंशकः ॥ ३१२-२ ॥ ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः । तथैव ज्ञानमव्यक्तं विज्ञाता पञ्चविंशकः ॥ ३१२-९ ॥ अक्षरञ्च क्षरञ्चैव यदुक्तं तन्निबोध मे ॥ ३१२-१० ॥

उभावेतौ क्षरावुक्तावुभावेतौ क्षराक्षरौ (नचाक्षरौ) । यदा तु गुणजालं तदव्यक्तात्मिन संक्षिपेत् । तदा सहगुणैस्तैस्तु पञ्चविंशो विलीयते ॥ १५ ॥ गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत् । क्षेत्रज्ञोऽपि यदा तात तत् क्षेत्रे सम्प्रलीयते ॥ १६ ॥

तदाक्षरत्वं प्रकृतिर्गच्छते गुणसंज्ञिता । निर्गुणत्वं च वैदेह गुणेष्वप्रतिवर्तनात् ॥ १७ ॥ एवमेव च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञानपरिक्षयात् । प्रकृत्या निर्गुणस्त्वेष इत्येवमनुशुश्रुम ॥ १८ ॥ क्षरो भवत्येष यदा तदा गुणवती मिथः। प्रकृतिं त्वभिजानाति निर्गुणत्वं तथाऽऽत्मनः ॥ १९ ॥ तदा विशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात् । अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुद्ध्यति बुद्धिमान् ॥ २० ॥ तदैषा त्वन्यतामेति न च मिश्रत्वतां व्रजेत्। प्रकृत्या चैव राजेन्द्र मिश्रो ह्यन्यश्च दृश्यते ॥ २१ ॥ अयमत्र भवेद्धन्धुरनेन सह मे क्षमम्। साम्यमेकत्वतां यातो यादशस्तादशस्त्वहम् ॥ २७ ॥ तुल्यतामिह पश्यामि सदृशोऽहमनेन वै। अयं हि विमलो व्यक्तमहमीदशकस्तथा ॥ २८ ॥ योऽहमज्ञानसंमोहादज्ञया सम्प्रवृत्तवान् । स सङ्गयाऽहं निस्सङ्गस्थितः कालिममं त्वहम् ॥ ३१२-२९ ॥ अनयाऽहं वशीभूतः कालमेतन्न बुद्धवान् । उच्चमध्यमनीचान्तां तामहं कथमावसे ॥ ३१२-३० ॥ सहवासं न यास्यामि कालमेतद्धि वञ्चनात् । वञ्चितोऽस्म्यनया यद्धि निर्विकारो विकारया ॥ ३१२-३२ ॥ न चायमपराधोऽस्या ह्यपराधो ह्ययं मम । योऽहमत्राभवं सक्तः पराङ्मुखमुपस्थितः ॥ ३१२-३३ ॥ न ममात्राऽनया कार्यमहङ्कारकृतात्मना ॥ ३१२-३६ ॥ आत्मानं बहुधा कृत्वा योऽयं भूयो युनक्ति माम् । इदानीमेष बुद्धोऽस्मि निर्ममो निरहङ्कृतः ॥ ३१२-३७ ॥ मम त्वमनया नित्यमहङ्कारकृतात्मकम् । अपेत्याहमिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् ॥ ३१२-३८ ॥ अनेन साम्यं यास्यामि नानयाऽहमचेतसा । क्षमं मम सहानेन नैकत्वमनया सह ॥ ३१२-३९ ॥ एवं परमसम्बोधात्पञ्चविंशोऽनुबुद्धवान् । अक्षरत्वं निगच्छेत त्यक्त्वाक्षरमनामयम् ॥३१२-४० ॥ निर्गुणं परमं दृष्ट्वा तादृग् भवति मैथिल ॥ ३१२-४१ ॥ सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात् । यदेव सांख्यशास्त्रोक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥ ४४ ॥ पृथक्चैव हि तच्छास्त्रमित्याहुः कुशला जनाः ॥ ४६ ॥ पञ्चविंशात्परं तत्त्वं (परत्वेन) न पश्यन्ति नराधिप । सांख्यानां तु परं तत्त्वं (तन्त्रं) यथावदनुवर्णितम् ॥ ४७ ॥ बुद्धमप्रतिबुद्धं च बुध्यमानं च तत्त्वतः ।

बुध्यमानं च बुद्धं च प्राहर्योगनिदर्शनम् ॥ ४८ ॥ अव्यक्तबोधनाच्चापि बुद्ध्यमानं वदन्त्युत । पञ्चविंशं महात्मानं नचासावपि बुद्ध्यते ॥ ३१३-६ ॥ षड्विंशं विमलं बुद्धमप्रमेयं सनातनम् । स तु तं पञ्चविंशञ्च चतुर्विंशञ्च बुद्ध्यते ॥ ३१३-७ ॥ अव्यक्तं तत्तु तद्ब्रह्म बुद्ध्यते तात केवलम् ॥ ३१२-८॥ केवलं पञ्चविंशश्च चतुर्विशञ्च पश्यति । बुध्यमानो यदात्मानमन्योऽहमिति मन्यते ॥ ३१३-९ ॥ तदा प्रकृतिमानेष भवत्यव्यक्तलोचनः । बुध्यते परमं बुद्धं विशुद्धमचपलोपमम् ॥ ३१३-१० ॥ षड्विंशं राजशार्दूल तदा बुद्धत्वमाव्रजेत् । ततस्त्यजित सोऽव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ॥ ३१३-११ ॥ निर्गुणः प्रकृतिं वेद गुणयुक्तामचेतनाम् । ततः केवलधर्माऽसौ भवत्यव्यक्तदर्शनात् ॥ ३१३-१२ ॥ केवलेन समागम्य विमुक्तोऽऽत्मानमाप्नुयात् । एतं वै तत्त्वमित्याहुर्निस्तत्त्वमजरामृतम् ॥ ३१३-१३ ॥ तत्त्वसंश्रयणादेव तत्त्ववान्न च मानद । पञ्चविंशतितत्त्वानि प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३१३-१४ ॥ न चैष तत्त्ववांस्तात निस्तत्त्वस्त्वेष बुद्धिमान् । एष मुञ्चति तत्त्वं हि क्षिप्रं बुद्धत्वलक्षणम् ॥ ३१३-१५ ॥ षड्विंशोऽहमिति प्राज्ञो गृह्यमाणोऽजरामरः । केवलेन बलेनैव समतां यात्यसंशयम् ॥ ३१३-१६ ॥ षड्विंशेन प्रबुद्धेन बुध्यमानो ह्यबुद्धिमान् । एवं नानात्वमित्युक्तं साङ्ख्यश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ३१३-१७ ॥ चेतनेन समेतस्य पञ्चविंशतिकस्य च । एकत्वं वै भवत्यस्य यदा बुद्ध्या न बुध्यते ॥ ३१३-१८ ॥ बुध्यमानोऽप्रबुद्धेन समतां याति मैथिल । सङ्गधर्मा भवत्येष निस्सङ्गात्मा नराधिप ॥ ३१३-१९ ॥ निस्सङ्गात्मानमासाद्य षड्विंशकमजं विभुम् । विभुस्त्यजित चाव्यक्तं यदा त्वेतद्विबुध्यते ॥ ३१३-२० ॥ चतुर्विंशमसारञ्च षड्विंशस्य प्रबोधनात् । एष ह्यप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ ॥ ३१३-२१ ॥ प्रोक्तो बुद्धश्च तत्त्वेन यथाश्रुति निदर्शनात् । नानात्वैकत्वमेतावदद्रष्टव्यं शास्त्रदृष्टिभिः ॥ ३१३-२२॥ मशकोदुम्बरे यद्वदन्यत्वं तद्वदेतयोः । मत्स्योदके यथा तद्वदन्यत्वमुपलभ्यते ॥ ३१३-२३ ॥ एवमेवावगन्तव्यं नानात्वैकत्वमेतयोः । एवद्धि[[??]]मोक्ष इत्युक्तमव्यक्तज्ञानसंज्ञितम् ॥ ३१३-२४ ॥ पञ्चविंशतिकस्यास्य योऽयं देहेषु वर्तते । एष मोक्षयितव्येति प्राहुरव्यक्तगोचरात् ॥ ३१३-२५ ॥ सोऽयमेवं विमुच्येत नान्यथेति विनिश्चयः । परेण परधर्मा च भवत्येष समेत्य वै ॥ ३१३-२६ ॥ विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान् । विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य पुरुषर्षभ ॥ ३१३-२७ ॥ वियोगधर्मिणा चैव वियोगात्मा भवत्यत । विमोक्षिणा विमोक्षश्च समेत्येह तथा भवेत् ॥ ३१३-२८ ॥ शुचिकर्मणा शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान् । विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥ ३१३-२९ ॥ केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै । स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते ॥ ३१३-३० ॥ एतावदेतत्कथितं मया ते तथ्यं महाराज यथार्थतत्त्वम् । अमत्सरस्त्वं प्रतिगृह्य चार्थं सनातनं ब्रह्म विशुद्धमाद्यम् ॥ ३१३-३१ ॥ कराल मा ते भयमस्तु किञ्चिदेतच्छूतं ब्रह्म परं त्वयाद्य । यथावदुक्तं परमं पवित्रं विशोकमत्यन्तमनादिमध्यम् ॥ ॥ ३१३-३८ ॥ अगाधजन्मामरणं च राजन्निरामयं वीतभयं (नित्यमजं) शिवं च । समीक्ष्य मोहं त्यज चाद्य सर्वं ज्ञानस्य तत्वार्थमिमं विदित्वा ॥ ३१३-३९ ॥

भीष्म उवाच

एतदुक्तं परं ब्रह्म यस्मान्नावर्तते पुनः । पञ्चिवंशो महाराज परमर्षिनिदर्शनात् ॥ ३१३-४२ ॥ पुनरावृत्तिमाप्नोति परं ज्ञानमवाप्य च । नावबुध्यति तत्वेन बुध्यमानोऽजरामरम् ॥ ४३ ॥ येन क्षराक्षरे वित्ते भयं तस्य न विद्यते । विद्यते तु भयं तस्य यो नैतद्वेत्ति पार्थिव ॥ ४४ ॥

इति ।

प्रकृतिजीवयोर् उभयोर् अप्य् अक्षर-शब्दार्थता ④

३१२-२ अत्र प्रकृतेः सर्गप्रलयधर्मित्वमभिधाय पञ्चविंशस्य सर्गप्रलयसम्बन्धविरहवतो मुक्तस्य ज्ञानवत्वमभिधीयते । विद्या अस्यास्तीति विद्यः, अर्श आद्यच् - ९ - ज्ञानमिति ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्, ज्ञानकरणमिति यावत् । भावप्रत्ययान्तत्वे मुख्यज्ञानत्वस्याऽव्यक्तेऽसम्भवात् प्रलये ज्ञानविकासशून्यस्य पुंसः सृष्टौ ज्ञानविकासहेतुत्वेन प्रकृतेर्ज्ञानकरणत्वसम्भवात् 'एतज् ज्ञानमिति प्रोक्तम्' (गी. १३) इत्यत्र ज्ञानशब्दवदयमपि करणप्रत्ययान्त एव ।

गुणानां महदादीनामुत्पद्यन्ते परम्पराः । अधिष्ठानं क्षेत्रमाहुरेतत्तत्पञ्चविंशकम्

इति पूर्वश्लोकोक्तमहदादय एव गुणजाल(१५)मित्यत्र गुणाः । महदादिभिस्सहजीवस्याऽव्यक्ते लयोऽत्र उक्तः । प्रकृतेः विषमपरिणामशून्यत्वेनाक्षरत्वमेकत्वमभिधाय "एवमेव च क्षेत्रज्ञः" इत्यत्र जीवस्य ज्ञानपरिणामशून्यत्वेनाक्षरत्वैकत्वे प्रतिपादिते । अतो'ऽव्यक्तमक्षरे लीयते' इति श्रुतावक्षरशब्दार्थत्वं प्रकृतेर्जीवानां च विविक्षितमिति श्रीभाष्यकृतां निर्णयो युक्त एव । श्रुतावव्यक्तस्यावस्थाभेदांशे परं विशेषः प्रतिपादितः । 'तदैषा त्वन्यतामेतीत्यस्य स्थाने (२१)' तदैष तत्वतामेति, इति नीलकण्ठसम्मतः पाठः । तत्पाठेऽपि पञ्चविंशतत्त्वतामित्यर्थः । 'अन्यतामेति' इति पाठे अन्यताज्ञाननिबन्धनम् अन्यत्वं ज्ञायमानमेव विविक्षतम् । अन्यतायास्सार्वदिकत्वादित्याह – प्रकृत्या चेत्युत्तरार्धेन ॥ ३२ ॥ अत्र "सहवासं न यास्यामि" इत्यनेन अहङ्कारममकारयोः प्रकृतिसहवास एव निदानमिति सूचितम् ॥ ३८ ॥

जीवस्य प्रलयकालिकाक्षरत्वापेक्षया मुक्तस्याक्षरत्वे विशेषः 👁

निरामयम् — उपक्रमे अनामयत्वेनोक्तं नारायणम् इत्यर्थः । 'इदानीमेष बुद्धोऽस्मि' ॥ ३७ ॥ इति पूर्वं, 'एवं परमसम्बोधात्पञ्चविंशोऽनुबुद्धवान्' ४० । इत्युत्तरत्र चोक्तेः । परमस्य षड्विंशकस्य सम्बोधादिति नीलकण्ठोऽपि व्याचख्यौ । बुद्धत्वं चोत्तरत्र

> बुद्ध्यते परमं बुद्धं विशुद्धमचलोपमम् । षड्विंशं राजशार्दूल तदा बुद्धत्वमाव्रजेत् ॥ ३१३-१० ॥

इति षड्विंशज्ञानवत एव वक्ष्यते । अत एव 'निर्गुणं परमं दृष्ट्वा तादृग्भवित मैथिल ॥ ३१२-४२ ॥ इत्युत्तरोक्तिस्सङ्गच्छते । अत्र परमशब्दप्रयोगः 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवित' (मुं. उ.) इति श्रुतिमभिप्रेत्य । श्रुतौ च परमशब्दः जीवब्रह्माभेदविवक्षां विघटयन् तयोस्साम्यविवक्षां द्रढयित । इति व्यासेन निर्धारितं भवित । ४२ क्षरं त्यक्त्वानामयमक्षरत्वं निगच्छेतेति पूर्वार्धे योजना । अनामयमित्यनेन प्रलयकालिकाक्षरत्वं पूर्वोक्तं व्युदस्तं भवित । प्रलयकालिकं च ज्ञानसङ्कोचिवकासावस्थाद्वयविरहेण ज्ञानातिसङ्कुचितावस्थारूपम् । तद्धि दुष्टमेव - मुक्तिकालिकं तु पूर्णज्ञानविकासावस्थारूपम्, निर्दुष्टम् । इदं च अक्षरत्वम् अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादौ परमात्मनिष्ठतया विवक्षितम् । तेन धर्मेण मुक्तस्य साम्यमेव 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवित' इति श्रुतौ विवक्षितमिति व्यासेन निर्णीतं भवित ॥ ४७ ॥ यदेव शास्त्रम् ४४ इति पूर्वोक्ता पृथक् पक्ष एव युक्त इत्याह - साङ्ख्यानामित षड्विंशानङ्गीकर्तृ पृथक् शास्त्रवादिमते 'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' 'तत्कारणं साङ्ख्यानामित षड्विंशानङ्गीकर्तृ पृथक् शास्त्रवादिमते 'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' 'तत्कारणं साङ्ख्यानामित षड्विंशस्सम्मत एव इति पूर्वोक्तसिद्धान्त एव युक्तः इति भावः । किपलासुरिसंवादादौ चायमेव सिद्धान्त इति स्फुटीभविष्यति ।

(क-आ-सं) ना-स- सं (सं-पं-सं) जीवब्रह्मभेदसाधनम् 🕄

'व्यतिरिक्तं नामासुरे पुरुषः पञ्चविंशकक्षेत्रज्ञः' इत्य् उपक्रम्य 'कूलमन्यो वृक्षोऽन्यः मशकोऽन्योऽन्य उदुम्बरोऽन्यामत्स्योऽन्यदुदकं मुञ्जमन्यदन्येषीकान्यदुदकमन्यत्पुष्करपर्णं तथान्यत् क्षेत्रं क्षेत्रज्ञोऽन्यः पुरुषः पञ्चविंशकः अन्यश्चास्मात् क्षेत्रज्ञ इति' (३०३ - वा. २५९ वा. रा. शा. मुद्रितकोशे) अत्र दृष्टान्तास्सर्वे क्षेत्रजीवभेदे, जीवपरभेदे चानुसन्धेयाः । 'द्रष्टा क्षेत्रज्ञो द्रष्टव्यमव्यक्तम्' इत्य् उपक्रम्य 'एवमेवासुरेऽन्यद्द्रष्टव्यमन्यः पुरुषः पञ्चविंशतितत्त्वमन्यदन्योऽस्मात् क्षेत्रज्ञ इति' कपिलासुरिसंवादे, एतेन पूर्वं (क. आ. सं.)

यदप्युक्तं किं परात्परमिति - अत्र ब्रूमः, परात्परं नामासुरे कर्मेन्द्रियेभ्यः परं बुद्धीन्द्रियमित्युपक्रम्य पर्वक्रमेण परात्परस्य निरूपणावसरे परमेतेभ्योऽन्यः क्षेत्रज्ञस्त्वसर्गप्रलयधर्मः

इत्याद्युक्तौ क्षेत्रज्ञः जीवः परमात्मा च । तत्र जीवापेक्षया परमात्मनोऽपि षड्विंशकस्य परत्वं विवक्षितमिति बोध्यम् -

> योगाश्च साङ्ख्याश्च वदन्ति सम्यक्न न पञ्चविंशात्परमस्ति किञ्चित् । अथान्यथा पश्यसि न त्वमेतं वयं तु पश्याम गुरोर्नियोगात् ॥ ३०४-१५९ ॥

इत्य् उपक्रम्य

प्रकृतिं क्षेत्रज्ञं च परः क्षेत्रज्ञः षड्विंशकोऽनुपश्यति । न तु पञ्चविंशः क्षेत्रज्ञः प्रकृतिर्वा परं क्षेत्रज्ञं पश्यति ।

इति नारदसनत्कुमारसंवादे, 'शुचिर्हि पञ्चिवंशकस्तथैव षड्विंशकतत्त्वमवबुध्यते यदा तदा शुचिर्भवेदिति (३०५ वा. १७८) इति संयमनपञ्चशिखसंवादे, च स्फुटम् (३१२-४८) तत्वतो बुद्ध्यमानस्य बुद्धत्वमत्र विविक्षितम्, अत्राप्युत्तरत्रायमेव पूर्वमुक्तोऽर्थः सिद्धान्तयिष्यते । ३१३-६ पञ्चिवंशं बुध्यमानं वदन्तीति पूर्वेणान्वयः असाविष - पञ्चिवंशोषि षड्विंशं न बुध्यत इत्यन्वयः । "बुध्यते परमं बुद्धम्, १०१ इत्यादिपाठ एव बहुषु कोशेषु (वा. रा. शा. मृ. कोशेऽिष) दृश्यते इत्ययमेव प्रामाणिकसम्मतः ॥ १५ ॥ षड्विंशोऽहिमिति गृह्यमाणो बुद्धत्वलक्षणं तत्वं मुञ्चतीत्यन्वयः । जीवब्रह्माभेदज्ञानवतो न बुद्धत्विमत्येतेनोक्तं भवित । अयमेवार्थः स्थिरीक्रियते — चेतनेने१८त्यादिना ।

बुध्यमानादिशब्दार्थः प्रकृत्यतिक्रमणानन्तरमेव मुक्तिश्च®

अत्र चेतनशब्दः 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इति श्रुतिघटकप्रथमान्तचेतनपदसमानार्थकः षड्विंशपरः । ॥ २० ॥ षड्विंशस्य प्रबोधनादिति त्यजतीति पूर्वेणान्वेति ॥ २१ ॥ अव्यक्तवेदिता अव्यक्तजीवस्वरूपवेदिता च बुध्यमान उक्तः, षड्विंशजीवभेदवेदिता बुद्धः । उक्तज्ञानशून्योऽप्रतिबुद्ध इति निष्कर्षः यथाश्रुतिनिदर्शनादित्यनेनोक्तार्थस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वं दर्शितम् । "नानात्वैकत्वमेतावत्" "नानात्वैकत्वमेतयोः" ॥ २४ ॥ इत्यत्र मशकोदुम्बरादिदृष्टान्तेन नानात्वं तात्विकमेकत्वं भ्रमनिबन्धनमिति विवेकः । 'एतयोः, इत्यस्य अव्यक्तपञ्चविंशयोः, पञ्चविंशषड्विंशयोश्चेत्यर्थः । 'एकत्वं वै भवत्यस्य' इति पूर्वोक्तयनुसारात् । "एतद्धि मोक्ष इत्युक्तमव्यक्तज्ञानसंज्ञितम्" । इत्यत्राव्यक्तज्ञानमपि पञ्चविंशषड्विंशभेदज्ञानकालिकं पञ्चत्रिंशषड्विंशभिन्नाव्यक्तज्ञानम् । न तु अव्यक्तपञ्चविंशभेदमात्रज्ञानम् । तावन्मात्रेणाव्यक्तत्यागरूपमोक्षस्य प्रागनभिधानात् । मोक्ष इत्यत्र करणे घञ, मोक्षसाधनमित्यर्थः ॥ २५ ॥ मोक्षयितव्य इति । अव्यक्तगोचरात इत्यत्र प्रकृतिसामान्यं विवक्षितम "ओमित्येवात्मानं ध्यायथ स्वास्तिवः पाराय तमसः परस्तात" (मृ. उ. २ - ६) इत्यत्र प्रकृतिदेशादूर्ध्वमेव मुक्त्यभिधानेन तदनुसारेण पूर्वं "प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम्" ॥ ३०७-१६ ॥ इत्युक्त्या अत्रापि तस्यैवार्थस्य विवक्षावश्यम्भावात् प्रकृतिदेशातिक्रमणाभावे मोक्ष एव न घटेतेत्याह – "सोऽयमेवं विमुच्येत नान्यथेति विनिश्चयः" इति 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यत्र प्रकृतिदेशातिक्रमणानन्तरं परमात्मधर्मवत्वमेव विवक्षितमिति स्थापयति 'परेण परधर्मा चे'त्यनेन २६ । अत्र परेण, समेत्य, इति पदद्वयेन 'सय' इत्याद्यव्यवहितपूर्वा "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति श्रुतिः प्रत्यभिज्ञाप्यते । पूर्वं "तादृग्भवति" विद्यतेऽक्षरभावत्वम्" "अनेन साम्यं यास्यामि" "अक्षरत्वं निगच्छेत" इत्यादिना "यथा सुदीप्तात्पावकात् तथा क्षराद्विविधास्सौम्यभावाः" अक्षरात्परतः परः "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति श्रुतितात्पर्यनिर्णयमुखेन

विद्यतेऽक्षरभावत्वं ये परात्परमव्ययम् । पश्येरन्नेकमतयो न सम्यक्तेषु दर्शनम् ।

इत्युक्तार्थस्साधितः ।

मुण्डकश्रुत्यभिप्रेतः 'परेण परधर्मा च इत्यादिमूलार्थः ③

तेन 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्युक्तानुभवो मुक्तिकालिकः जीवब्रह्माभेदवादिनां न घटत इत्यपि सूचितम् । पूर्वश्रुतौ जीवब्रह्माभेदविघटनेनात्र परमशब्दप्रयोगेण च जीवब्रह्माभेदो "ब्रह्मैव भवति" इत्यत्र न विविक्षितः । 'तथा विद्वान्नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति श्रुतौ दिव्यमुपैतीत्पत्र 'स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' इति प्राक्तनश्रुत्यनुसारेणाप्राकृतदेश एव ब्रह्मप्राप्तिर्विविक्षिता । तत्र च परात्परत्वं 'अक्षरात्परतः परः' इति प्राक्तनश्रुत्यर्थनिर्णयानुसारेण नामरूपाद्विमुक्तादिप परत्वरूपं विदितम् "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद" इत्यत्रापि नामरूपाद्विमुक्तात्पर एव परमशब्दार्थः । एवं च ब्रह्मैव भवतीत्यत्र – जीवे ब्रह्माभेदविवक्षा नैव घटते अतः "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।" इति श्रुत्यनुसारेण एवशब्दम्य इवार्थकत्वेन सादृश्यविवक्षा पूर्वोक्तैव साधीयसी । एवशब्दस्यावधारणार्थकत्वेऽपि भवतीत्यत्र भूधात्वर्थधर्मे 'घटो नीलो भवति, इत्यत्र 'नीलवृत्त्यसाधारणधर्माश्रयो घट' इति व्युत्पत्तिवादव्यवस्थापितप्रक्रियया, ब्रह्मवृत्तित्वान्वयविवक्षया 'ब्रह्मवृत्तिधर्माश्रयो ब्रह्मवेत्ता' इति बोधः । धर्मश्चाक्षरत्वादिरूपः । यद्यपि समानाधिकरणपदार्थयोरभेदस्थल एव भूधात्वर्थस्यासाधारणधर्मरूपात इति भेदस्थले

तथा निर्वाहो न घटते अतिप्रसङ्गात् । तथापि 'अथ परा यया तदक्षरमिधगम्यते, 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च' 'भेदव्यपदेशात्' 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च, इत्यादिश्रुतिसूत्रपर्यालोचनेन धर्मप्रकारकबोध एवात्र श्रुतेस्तात्पर्यमिति धर्मप्रकारकबोधाभ्युपगम एव युक्तः । न तु परसंमतनिधर्मकबोधः । अत एव 'गगनं द्रव्यं भवति' इत्यादौ भवत्यर्थे द्रव्यवर्तिताबोधस्य तान्त्रिकाभ्युपगतत्वस्योक्तः सिद्धान्तबिन्दुटीकायां ब्रह्मानन्दसरस्वतीनां सङ्गच्छते ।

मुण्डकश्रुत्यभिप्रेतः 'परेण परधर्मा च' इत्यादि मूलार्थः ③

एवं च 'ब्रह्मैव भवति' इत्यत्र जीवब्रह्माभेदविवक्षाया असम्भवेन मुक्तस्य ब्रह्मगतधर्मसम्बन्ध एव न तु ब्रह्माभेद इति व्यासेन निर्धारितं भवति । एतेन 'अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' (बृ उ ६-४-२९) इत्यत्रापि ब्रह्मसाधर्म्यमेव विवक्षितमिति सिद्धम् ।

विमलश्च विशुद्धश्च शुद्धामलनिषेवणात् । अशुद्ध एव शुद्धात्मा तादृग्भवति पार्थिव ॥ ३१०-३११ ॥

इति प्रागुक्तार्थः प्रकृतिमण्डलमतिक्रम्य मुक्तिकाले इति स्थापयति - विशुद्धधर्मेत्यादिना शुद्धेन समेत्य विशुद्धधर्मा भवतीति योजना । शुद्धेन - विद्याविरोधितया अविद्या शब्दवाच्यप्रकृतिसम्बन्धरहितेनेत्यर्थः । विशुद्धधर्मा विशुद्धत्वं विद्याविरोधिराहित्यम् । एतेन धर्मभूतज्ञानविकासप्रतिबन्धकविरह उक्तः । बुद्धेन - सर्वज्ञेन समेत्य बुद्धिमान् सर्वज्ञो भवति एतेन 'नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति पूर्वश्रुत्यर्थ उक्तः । अथ "तरति शोकं तरित पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवित" इति श्रुत्यर्थ उच्यते - विमुक्तधर्मेत्यादिना विमुक्तधर्मेत्यादित्रयं विमुक्त इत्यन्त श्रुत्यर्थः । 'स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' इति श्रुत्यैकरस्यानुसन्धानसिद्धम् अमृतो भवतीत्यस्य तात्पर्यमेव 'शुचिकर्मणा' इत्यादिना प्रदर्श्यते । "परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः" (छां उ-८-१२-३) इत्याद्यक्तमुक्तव्यापाराः कर्माऽमूलकत्वेन परिशुद्धा एवेति भावः । उक्तव्यापारार्थदेहसम्बन्धं "स एकधा भवति त्रिधा भवति" इति श्रुत्यभिप्रेतं दर्शयति विमलात्मेति । "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिस्स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म च" इति कोशादत्रात्मशब्दो वर्ष्मपरः । विमलत्वं च रजस्तमश्शून्यत्वरूपम् । सृष्टिस्थितिलयार्थानिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणरूपाणां शुद्धसृष्टिलयवन्नमुक्तविग्रहनियतलय इत्याह - केवलात्मेति "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इति श्रुत्युक्तगुणत्रयाधिष्ठानशून्यः सृष्ट्यादिव्यापारविरहवान् 'परास्यशक्तिः' इत्याद्युक्तज्ञानादिषाडुगुण्यपूर्णः केवलेनेत्यत्र केवलशब्दतापर्यविषयः परवासुदेवः । अयमेव 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यत्र विवक्षितः पुरुषः ।

(मुं-बृ-आ-कौ) श्रुत्यर्थस्याप्यत्र विवक्षा®

केवलात्मा नियतशुद्धसृष्ट्यादिव्यापारविरहवान् । पुनरावृत्तिप्रयोजककर्मभगवदिच्छाविरहमाह -स्वतन्त्रश्चेति ३१ उत्तरार्धस्य 'नावेदनिष्ठस्य जनस्य राजन् प्रदेयमेतत्परमं त्वया भवेत्' इत्यनेनान्वयः ॥ ४३ ॥ बुध्यमानस्य प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानवतोऽपि तत्वतः परमात्मज्ञानाभावेन पुनरावृत्तिरेवेति कथनेन नव्यसाङ्ख्यानां मते मोक्षो न घटत इति निर्णीतम् । पूर्वोक्तदिशा क्षराक्षरज्ञानवतो भयं न विद्यत इत्यनेन

> यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति ।

इत्यत्र जीवब्रह्माभेदो न विवक्षितः । इत्यादिकं सिद्धम् । एतावता श्रुतिषु लयप्रकरणे प्रदर्शितमेकत्वं लयकालिकमेव विवक्षितं बहुनामरूपविभागाभावरूपम्, मुक्तब्रह्मवाचिपदयोस्समानाधिकरणनिर्देशोऽपि मुक्तस्य परमात्मगताक्षरत्वादिसाधर्म्यनिबन्धनः न मुक्तब्रह्मस्वरूपैक्यनिबन्धनः इति श्रुतितात्पर्यं निर्णीतम् । ३१-३-३८ एतच्छ्रुतं ब्रह्मपरं त्वयाद्य ४२ 'एतदुक्तं परं ब्रह्म' इत्यत्र 'परेण परधर्मा च' इत्यादिपूर्वप्रघट्टकस्य परब्रह्मपरतायाः स्फुटमुक्त्या अपरब्रह्मविषयकत्वोत्प्रेक्षा न सम्भवति । 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' (मुण्ड) 'स वा एष महानज आत्मा अजरो अमृतो अभयः' (वृ उ) 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्दोऽजरोऽमृतः । (कौ. उ) इत्यादिश्रुत्यर्थोऽपि अत्र विवक्षित इति 'यथावदुक्तं परमं' ३८ इत्यादिश्लोके व्यक्तम् । एतेन 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः – तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुं उ) इत्युत्तरत्र 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (वृ. उ) 'मामेव विजानीहि मामुपास्व । (कौ उ) इति पूर्वश्रुत्योश्च परसम्मतजीवब्रह्मैक्यादिविवक्षा न युज्यत इति सिद्धम् ।

(ज-या-सं) मूलम् ③

युधिष्ठिर उवाच -

धर्माधर्मविमुक्तं यत् विमुक्तं सर्वसंश(सत्त्वसंश्र)यात् । जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं पुण्यपापयोः ।

यच्छिवं नित्यमभयं नित्यमक्षरमव्ययम् । शुचि नित्यमनायासं तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ३१५-२ ॥

भीष्म उवाच -

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् । याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत ॥ ३१५-३ ॥

जनक उवाच -

कतीन्द्रियाणि विप्रर्षे कति प्रकृतयः स्मृताः । किमव्यक्तं परं ब्रह्म तस्माच्च परतस्तु किम् ॥ ३१५-५ ॥ प्रभवं चाप्ययं चैव कालसंख्यां तथैव च । वक्तुमर्हसि विप्रेन्द्र त्वदनुग्रहकांक्षिणः ॥ ३१५-६ ॥ अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश ॥ ३१५ ॥

इत्यादि ।

चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुतिनिदर्शनम् ॥ ३१५-२५ ॥

इत्यन्तम् । याज्ञवल्क्य उवाच -

अव्यक्तस्थं परं यत्तत्पृष्टस्तेहं नराधिप । स एष प्रकृतिस्थो हि तत्स्थ इत्यभिधीयते ॥ ॥ ३१९-११ ॥ अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव । एतेनाधिष्ठिता चैव सृज्यते संहरत्यपि ॥ ३१९ - १२ ॥

जनक उवाच -

अनादिनिधनावेतावुभावेव महामते । अमूर्तिमन्तावचलावप्रकम्प्यगुणागुणौ ॥ ३९१-१३ ॥ अग्राह्यावृषिशार्दूल कथमेको ह्यचेतनः । चेतनावांस्तथा चैकः क्षेत्रज्ञ इति भाषितः ॥ ३१९-१४ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच -

गुणस्वभावस्त्वव्यक्तो गुणानेवाभिवर्तते । उपयुङ्क्ते च तानेव स[[??]]चैव ज्ञः स्वभावतः ॥ ३२० - ३ ॥

(ज-या-सं) मूलम् ③

अव्यक्तस् तु न जानीते पुरुषो ज्ञः स्वभावतः। न मत्त≍परमो ऽस्तीति नित्यम् एव अभिमन्यते ॥ ३२०-४ ॥

अनेन कारणेनैतद् अव्यक्तं स्याद् अचेतनम्। नित्यत्वाच् चाक्षरत्वाच् च क्षरत्वान् न तद् अन्यथा ॥ ३२०-५ ॥

यदा ऽज्ञानेन कुर्वीत गुण सर्गं पुन≍पुनः। यदा ऽऽत्मानं न जानीते तदा ऽऽत्मापि न मुच्यते ॥ ३२०-६ ॥

अव्यक्तैकत्वम् इत्य् आहुर् नानात्वं पुरुषे तथा। सर्व-भूत-दयावन्तः केवलं ज्ञानम् आस्थिताः ॥ ३२०-१३ ॥ अन्यः स पुरुषो ऽव्यक्तस् त्व् अध्रुवो ध्रुव-संज्ञकः। यथा मुञ्ज इषीकाणां तथैवैतद्धि जायते।

न चैव मुञ्ज-संयोगाद् इषीका तत्र बुध्यते ॥ ३२०-१४ ॥

एतेषां सहवासं च विवासं चैव नित्यशः। याथातथ्येन पश्यन्ति न नित्यं प्राकृता जनाः ॥ ३२०-१९ ॥

ये त्व् अन्यथैव पश्यन्ति न सम्यक् तेषु दर्शनम्। ते व्यक्तं निरयं घोरं प्रविशन्ति पुनः पुनः ॥ ३२०-२० ॥

अव्यक्तस्थं परं यतत् पृष्टस् ते ऽहं नराधिप। परं गुह्यम् इमं प्रश्नं शृणुष्वावहितो नृप ॥ ३१३-१ ॥

यथार्षेणेह विधिना चरतावमतेन ह। मया ऽऽदित्याद् अवाप्तानि यजूंषि मिथिला-धिप ॥ ३१३-२ ॥

तत≍प्रणम्य-शिरसा मयोक्तस् तपतां वरः। यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रम् इच्छामि वेदितुम् ॥ ३१३-५ ॥

ततो मां भगवान् आह वितरिष्यामि ते द्विज। सरस्वतीह वाग् भूत्वा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥ ३१३-६ ॥

ततो माम् आह भगवान् आस्यं स्वं विवृतं कुरु। विवृतं च ततो मे ऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥ ३१३-७ ॥

(ज-या-सं) मूलम् ③

प्रति-भास्यति ते वेदः स-खिलः सोत्तरो द्विज ॥ ३२३-१० ॥

॥ उ ३२३-११ ॥ (पू)

कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेष्यसि द्विजर्षभ ॥ ततः प्रवृत्तातिशुभा स्वर-व्यञ्जन-भूषिता ॥ ओंकारम् आदितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥ ३२३-१४ ॥

ततो ऽहम् अर्घ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदयम् । परं यत्नम् अवाप्यैव निषण्णस् तत् परायणः ॥ ३२३-१५ ॥

ततः शतपथं कृत्स्नं स-रहस्यं स संग्रहम् । चक्रे स-परिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥ ३२३-१६॥ किम् अत्र ब्रह्मण्य् अमृतं किं च वेद्यम् अनुत्तमम् । चिन्तयंस् तत्र च आगत्य गन्धर्वो माम् अपृच्छत ॥ ३१३-२३ ॥

विश्वावसुस् ततो राजन् वेदान्त-ज्ञान-कोविदः । चतुर्विंशास् ततो ऽपृच्छत् प्रश्नान् वेदस्य पार्थिव ॥ ३२३-२७ ॥

विश्वाविश्वं तथा ऽश्वा ऽश्वं मित्रं वरुणम् एव च । ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञो ऽज्ञः कस् तपा अतपास् तथा ॥ ३२३-२९ ॥ (पू)

वेद्यावेद्यं तथा राजन् अचलं चलम् एव च । अपूर्वम् अक्षयं क्षय्यम् एतत् प्रश्नम् अनुत्तमम् ॥ ३२३-३० ॥

मुहूर्तम् उष्यतां तावद् यावद् एनं विचिन्तये । ततो ऽनुचिन्तयम् अहं भूयो देवीं सरस्वतीम् । मनसा स च मे प्रश्नो दध्नो घृतम् इवोद्धतः ॥ ३२३-३३ ॥

तत्रोपनिषदं चैव परिशेषं च पार्थिव । मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा च आन्वीक्षिकीं पराम् ॥ ३२३-३३ ॥

विश्वम् अव्यक्तम् इत्य् उक्तम् अविश्वोनिष्कलस् तथा । अश्वश् चाश्वा च मिथुनम् एवम् एवानुदृश्यते ॥ अव्यक्तं प्रकृतिं प्राहुः पुरुषेति च निर्गुणम् । तथैव मित्रं पुरुषं वरुणं प्रकृतिं तथा ॥ ज्ञानं तु प्रकृतिं प्राहुर् ज्ञेयं पुरुषम् एव च । अज्ञम् अव्यक्तम् इत्य् उक्तं ज्ञस् तु निष्कल उच्यते ॥ ३२३-४० ॥

जनक-याज्ञवल्क्य-संवादावतरण-मूल-युधिष्ठिर-प्रश्नाशयः ③

तथैवावेद्यम् अव्यक्तं वेद्यः पुरुष उच्यते । चलाचलम् इति प्रोक्तं त्वया तद् अपि मे शृणु ॥ ३२३-४३ ॥

चलां तु प्रकृतिं प्राहुः कारणं क्षेप-सर्गयोः । अक्षेप-सर्गयोः कर्ता निश्चलः पुरुषः स्मृतः ॥ ३२३-४४ ॥

अज्ञाव् उभौ ध्रुवौ चैव अक्षयौ चाप्य् उभाव् अपि । अजौ नित्याव् उभौ प्राहुर् अध्यात्म-गति-निश्चयाः ॥ ३२३-४५ ॥

अक्षयत्वात् प्रजनने अजम् अत्राहुर् अव्ययम् । अक्षयं पुरुषं प्राहुः क्षयो ऽह्य अस्य न विद्यते ॥ ३२३-४६ ॥

गुण-क्षयत्वात् प्रकृतिः कर्तृत्वाद् अक्षयं बुधाः । एकान्त-दर्शना-वेदाः सर्वे विश्वावसो स्मृताः । जायन्ते च म्रियन्ते च यस्मिन् एते यतश् च्युताः । वेदार्थं ये न जानन्ति वेद्यं गन्धर्व-सत्तम ॥ ३२३-४९ ॥ (उ)

साङ्गोपाङ्गान् अपि यदि पञ्च-वेदान् अधीयते । वेद-वेद्यं न जानीते वेद-भारवहो हि सः ॥ ३२३-५० ॥

जनक-विसष्ठ-संवादे मुक्तौ जीवस्य पर-साधर्म्य-प्रतिपादनेन "द्वितीयाद् वै भयं भवित ।" (बृ. उ.) "उदरम् अन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवित ।" (तै. उ.) इत्य उक्त-दिशा-भय-संबन्धो दुस् त्यजः (३१८ पु.) प्राग् उक्त-कूटस्थ-नित्यतापि न घटते । एवं लय-मुक्ति-कालयोः ऐक्याभेद-निर्देशयोर् उपपत्ताव् अपि "ब्रह्मै वेदम् अमृतं पुरस्तात्," (मुं. उ.) 'तदात्मानम् एवावैत् अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. उ.) 'तं माम् आयुर् अमृतम् इत्य् उपास्व' (कौ. उ.) इत्यादौ सर्वत्र तन्-निर्देशो नोपपादित इति सर्वत्राभेद-निर्देशस्यानुगत-रूपेणोपपादनम् अन्तरा ऐक-रूप्येण नित्यानन्द-रूपता ऽपि न निश्चेतुं शक्यते इति नित्यानन्द-रूप-परमात्म-प्राप्ति-रूप-मोक्षः कथम्, इत्य् अभिप्रेत्य युधिष्ठिरः पप्रच्छ 'धर्माधर्म-विमुक्तम्', 'यच्-छिवम्' इत्य् आदिना 'एतच्-छुतं ब्रह्म-परं', 'एतद् उक्तं परं ब्रह्म' इति पूर्वोक्तम् अनुसृत्य अत्र पर-ब्रह्मण्य् एव प्रष्टुर् युधिष्ठिरस्याशय इति निश्चीयते ॥

जनकप्रश्नभावः याज्ञवल्क्यप्रतिवचनार्थश् च®

किम् अव्यक्तम् इति ॥ ३१५-५ ॥ अव्यक्तं किम्? तस्माच् च परतः परं ब्रह्म किम्? इत्य् अर्थः । जीव-ब्रह्मणोर् अभेदेन परं ब्रह्मैकम् ! उत जीव-भिन्नं जीवाद् अपि परं ब्रह्मैकं वा नित्यानन्द-रूपम् इति जनकस्याशयः । अव्यक्तस्थम् इति ॥ ३१९-११ ॥ अथ याज्ञवल्क्यः जीव-ब्रह्म-भेद-सिद्धान्त एव पर-ब्रह्म-स्वरूपम् उपदिदिक्षुः, जीव-परोभयाविशेषेणाव्यक्त-संबन्धं दर्शयति अव्यक्तस्थम् इति श्लोकेन । एतेन संबन्धस्य तात्विकत्त्वेन ब्रह्म-व्यतिरिक्तस्य सत्यता सूचिता । ब्रह्म-भिन्न-चेतनाचेतन-विभागः कथम् इत्य् आशयेन 'अनादि-निधनौ' ॥ ३१९-१३ ॥ इत्य् आदि, जनकप्रश्नः । सत्त्व-रजस्-तमोगुण-कृत-परिणामवद् अव्यक्तं, तादश-परिणाम-संपादनार्थं प्रवर्तते ऽनुभवति च स्वभावतो ज्ञानवान् जीवः इति 'गुण-स्वभावस् तु' (३२०-३) इत्य् अस्यार्थः । ज्ञानवत्त्व-तद् अभावाभ्यां चेतनाचेतन-विभागः । प्रकृति-संसर्गात् जीवस्य स्वस्माद् उत्कृष्टं परं ब्रह्म नास्तीति भ्रम इति 'अव्यक्तस् तु' (३२०-४) इत्य्-अत्र विवक्षितम् । अत्र जीव-ब्रह्माभेद-भ्रमो विवक्षितम् इति स्फुटम् । गुण-गत-परिणामार्थ-प्रवृत्ति-दशायाम् आत्म-स्वरूप-ज्ञानाभावेन जीवस्य न मुक्तिः इति 'आत्मानम् उच्यते' (३२०-६) इत्य् अस्यार्थः । 'अव्यक्तैकत्व' (१३) म् इत्य्-अत्र सर्व-भूत-दयावतां ज्ञानि-वर्याणां पुरुष-नानात्व-सिद्धान्त-कथनेन बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था ऽप्य् उपपादिता । एतेन जीव-ब्रह्मैक्ये मुक्तिः तद् अभावयोस् उभयोस् तात्विकत्वं न घटते इति सिद्धम् । (१४) अत्र मुञ्जादि-संयुक्तेषीकादि दृष्टान्त-कथनेन जीवे देहादि-संयोगः स्वात्विको नाध्यासिक इति बोधितम् । कपिलासुरि-संवादे "यथा मुञ्जाद् इषीका निष्कृष्टा न पुनर्-आविशति अन्यत्त्वात्, तथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञः" इत्य् उपक्रम्य मशकोदुम्बर-मुञ्जादि-दृष्टान्तेष्व् अन्यत्त्वम् अभिधाय "तथान्यत् क्षेत्रं क्षेत्रज्ञो ऽन्य≍ पुरुष≍ पञ्चविंशकः अन्यश् चास्मात् क्षेत्रज्ञ इति' इत्य्-अत्र देह-जीव-भेदः जीव-पर-भेदश् चोक्तः । 'सहवासं

नामासुरे यद् अयं सत्त्वम् अभिषजते विवासं नाम यद् अयं सत्त्वाद् अव्यक्ताच् च वासं प्रति समावर्तयते' इत्य् उपक्रम्य 'विवासं सहवासं च यो विद्वान् नावबुध्यते । सबद्धस् सत्त्व-संवासैस् संसारान् न प्रमुच्यते ॥ २०४ ॥ इति तत्रैव वक्ष्यते । तम् एतम् अर्थम् अत्रापि दर्शयति — एतेषां सहवासं चेति । नारद-सनत्कुमार-संवादे ऽपि

"मशकोदुम्बरयोर् विवास-सहवासम् अन्य एव स्वभावः एवम् एव ज्ञानाज्ञानयोर् विवास-सहवासः । पश्यति प्रकृतिं क्षेत्रज्ञः, न च प्रकृतिः क्षेत्रज्ञं पश्यति, एतद् विवास-सहवासम् इति एतन् नानात्त्व-दर्शनं पश्यन्ति दैवज्ञाः" इत्य् उपक्रम्य "प्रकृतिं क्षेत्रज्ञं च परः क्षेत्रज्ञः षड्विंशको ऽनुपश्यति न तु पञ्चविंशः क्षेत्रज्ञः प्रकृतिर् वा परं क्षेत्रज्ञं पश्यति" इति वक्ष्यते ।

हयशिरस आदित्यस्य तच्छक्तेस् सरस्वत्याश् चानुग्रहेण वेदलाभः ③

पूर्वं 'स एष प्रकृतिस्थो हि' इत्यादिना क्षेत्रज्ञो जीव एव निरूपितः । जीवस्य तु 'न मत्तः परमो ऽित्तं इत्य्-अत्र क्षेत्रज्ञाद् उत्कृष्टं वस्तु नास्तीति भ्रम उक्तः । तेनाव्यक्तात् परत्वं जीवमात्रस्यैवोक्तं भवति । तत्वतस् तु जीवाद् अपि परं षड्विंश-रूपं परं ब्रह्म तज् ज्ञानं च हयशिरसः, तच् छक्ति-रूप-सरस्वत्याश् चानुग्रहेणैव संपादनीयम् । एतद् अनुग्रह विधुराणां 'नमत्तः परमो ऽित्तं पूर्वोक्त-भ्रमः, न त्व् एतद् अनुग्रहवताम् । इति वक्तुम् उपक्रमते 'अव्यक्तस्थम्' (२२३-१) इत्यादिना —

२. आदित्यः — हयशिराः । ६-७. सरस्वती तच् छक्तिर् वाग् देवी बृहदारण्यक-तृतीयाध्यायादि-प्रतिपाद्या इति च पूर्वम् एव निरूपितम् ।

एतेन बृहदारण्यकाष्टमोपसंहारे

"अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विगतः समितिं गमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान् वेदान् अनुब्रवीत सर्वम् आयुरियाद् इति माँ सौदनं पाचियता" ॥ ८-४-१८ ॥

इत्यादिना कानिचित् कर्माण्य् अभिधाय पुत्र-जननोक्त्य् अनन्तरं 'अथास्य दक्षिणं कर्णम् अभिनिधाय वाग्-वाग् इति त्रिः' इत्य्-अत्र वाक् 'अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस् ते स्तनश् शशयः - सरस्वति तम् इह धातवे ऽकर् इति' । इत्य्-अत्र सरस्वती च हयशिरश्-शक्तिर् एव 'ओष्ठ-पिधाना' (ऐ. आ. उ. ३-२-५) इति प्राग्-उदाहृत-हयग्रीव-मन्त्रानुमन्त्रैकार्थ्यात् । 'अस्य वामस्य' (ऋसं. मं. १ सू. १६४)

(बृ-आ) अन्तोक्तावाके, सरस्वती-प्रागुक्तैव विश्वावसोर् वेद्य-प्रधान-प्रश्नाशयः®

अनन्या सा परा शक्तिर् विष्णोर् लक्ष्मीः सनातनी । गौरी सरस्वती धेनुर् वाच्या वाच्य-क्रमोज्झिता । (अ. सं. ५१-३७) इति प्रसिद्ध-गौरी-शब्द-घटितर्-'गौरीर् भिमाय' इत्यादि-हयग्रीव-मन्त्रानुमन्त्रस्य 'चत्वारि-वाक्' इति आश्वलायन-दशश्लोकी-मन्त्रस्य 'कृष्णं नियानम्' इति मन्त्रस्य चोत्तरं 'यस् ते स्तनः शशयः — सरस्वति तम् इह धातवे कः', इति मन्त्रे ऽपि सरस्वती हयशिरश्-शक्तिर् एवेति बोध्यम् ।

१०. वेद-शतपथादि-प्रतिभानं हयशिरस्-तच्-छक्त्य्-अनुग्रहेण इति स्फुटम् । १५. उक्त-सरस्वत्याराधनेन शतपथादि-लाभो ऽपि स्फुटः ।

२३. किम् अत्र ब्रह्मणि इति — जीव-ब्रह्मणोर् अभेदेन ब्रह्मण्य् एव मोक्षः, स च अत्रैव इति 'किम् अत्र ब्रह्मण्य् अमृतम्' इत्य् अस्यार्थः । कोट्य्-अन्तरं तु ब्रह्नां जीवानां परत्र मोक्ष इति । 'किं च वेद्यम् अनुत्तमम्' इत्य्-अत्र जीव-भिन्नं परं ब्रह्म-वेद्यम्; उत जीव-रूपं तत् इति विवक्षितम् । किं च वेद्यम् अनुत्तमम् — इत्य् अनेन वक्ष्यमाण-चतुर्विंशति-प्रश्लेषु वेद्य एव परम-तात्पर्यम् । उत्तरत्रापि "वेदार्थं ये न जानन्ति-वेद्यम्" इत्य्-अत्र वेद्ये वेदार्थत्व-विशेषणस्य पूर्वार्धे उत्पत्ति-लय-कारणत्वस्य च प्रतिपादनेन 'वेद-वेद्यं न जानीते' इत्य्-अत्र वेदेति विशेषणोक्त्या च वेद्य-विशेष एव प्रधान-तात्पर्यम् इति च विवक्षितम् । किम् अत्रेत्याद्य्-अर्थे ऽपि वेद्य-विशेष एव अन्तर्भूतः ।

अजस्रं जन्म-निधनं चिन्तयित्वा त्रयीम् इमाम् । परित्यज्य क्षयम् इह अक्षयं धर्मम् आस्थितः ॥ ३२३-५४ ॥

यदा ऽनुपश्यते ऽन्यन्तमहन्यहनि काश्यप । तदा स केवली-भूतः षड्विंशम् अनुपश्यति ॥ ३२३-५५ ॥

पूर्वप्रश्नस्य याज्ञवल्क्य-प्रतिवचनं पुनः प्रश्न-प्रतिवचने मूलम् ③

अन्यश् च शाश्वतो ऽव्यक्तस् तथाऽ अन्य≍ पञ्चविंशकः । तत्-स्थं समनुपश्यन्ति तम् एकम् इति साधवः ॥ ५६ ॥

तेनैतन् नाभिनन्दन्ति-पञ्चविंशकम् अच्युतम् । जन्म-मृत्यु-भयाद् योगास् साङ्ख्याश् च परमैषिणः ॥ ५७ ॥

विश्वावसुर् उवाच —

पञ्चविंशे यद् एतत् ते प्रोक्तं ब्राह्मण-सत्तम । तद् अहं न तथा वेद्मि तद् भवान् वक्तुम् अर्हति ॥ ३२३-५८ ॥

जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम् । पराशरस्य — 'इत्यादि' प्राप्तम् एतन् मया कृत्स्नं वेद्यं नित्यं वदन्त्य् उत ॥ ६३ ॥

तस्माद् तद् वै भवद्-बुद्ध्या श्रोतुम् इच्छामि ब्राह्मण ।

याज्ञवल्क्य उवाच—

- कृत्स्न-धारिणम् एव त्वां मन्ये गन्धर्व-सत्तम । जिज्ञाससे च मां राजन् तन् निबोध यथा-श्रुतम् ॥ ३२३-६९ ॥
- बुध्यमानो हि प्रकृतिं बुध्यते पञ्चविंशकः । न तु बुध्यति गन्धर्व-प्रकृति≍ पञ्चविंशकम् ॥ ७० ॥
- षड्विंशः पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति ॥ ३२३-७२ ॥
 - न तु पश्यति पश्यंस् तु यशैश् चैनम् अनुपश्यति । 'पञ्चविंशो ऽभिमन्येत न अन्यो ऽस्ति परतो मम ॥ ३२३-७३ ॥
- न चतुर्विंशको ग्राह्यो मनुजैर् ज्ञानदर्शिभिः । मत्स्यो वोदकम् अन्वेति प्रवर्तेत प्रवर्तनात् ॥ ३२३-७४ ॥
 - यथैव बुध्यते मत्स्यस् तथैषो ऽप्य् अनुबुध्यते । स स्नेहात् सहवासाच् च साभिमानाच् च नित्यशः ॥ ३२३-७५ ॥

प्रतिवचन-मूलम् तदाशयारम्भः ③

- स निमज्जित कालास्ये यदैकत्वेन बुध्यते । (न्या. र. म. पाठः) उन्मज्जित हि कालास्यान् ममत्वेनाभिसंवृतः ॥ ३२३-७६ ॥
- यदा तु मन्यते ऽअन्यो ऽहम् अन्य एष इति द्विज । तदा स केवली-भूतष् षड्विंशम् अनुपश्यति ॥ ७७ ॥
- अन्यश् च राजन् परमस् तथा ऽन्य≍ पञ्चविंशकः । तत्स्थत्वाद् अनुपश्यन्तिह्येक एवेति साधवः ॥ ७८ ॥
- तेनैतन् नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकम् अच्युतम् । जन्म-मृत्यु-भयाद् भीता-योगास् साङ्ख्याश् च काश्यप ॥ षड्विंशम् अनुपश्यन्तश् शुचयस् तत् परायणाः ॥ ७९ ॥
- यदा स केवली-भूतष् षड्विंशम् अनुपश्यति ॥ तदा स सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दति ॥ ८० ॥
 - एवम् अप्रतिबुद्धश् च बुध्यमानश् च ते ऽनघ ॥ बुद्धश् चोक्तो यथा तत्त्वं मया श्रुति-निदर्शनात् ॥ ८१ ॥
- पश्यापश्यं यो न पश्येत् क्षेम्यं तत्वं च काश्यप । केवलाकेवलं च अन्यत् पञ्चविंशात् परं च यत् ॥

विश्वावसुर् उवाच—

तथ्यं शुभं च एतद् उक्तं त्वया विभो । सम्यक् क्षेम्यं दैवताद्यं यथावत् ॥ ८३ ॥

किञ् च वेद्यम् अनुत्तमम् — इत्य्-अत्र अनुत्तम-शब्द-प्रयोगेण अवर-वेद्यम्, अनुत्तम-वेद्यं चेति वेद्य-द्वयं प्रतीयते, तत्र च अवर-वेद्यो जीवः । जीवे प्रकृति-विवेक-ज्ञानं वेद-पूर्व-भागोक्त-कर्मानुष्ठातुर् अप्य् अपेक्षितम् । तावन्-मात्रं च मुक्त्य्-उपायानुष्ठातुर् नालम् । इत्य् अनुत्तम-वेद्य-ज्ञानम् आवश्यकम् इति अनुत्तम-वेद्यम् एव विश्वावसु-चिन्ता-विषयः । तद् एव 'वेद-वेद्यम्' 'वेदार्थम्' इति प्राक्तन-याज्ञवल्क्य-प्रतिवचन-श्लोकेषु विवक्षितम् । स च षड्-विंश एव ।

(कै-उ-गीता-मुं-उ) अनुसारेणवेद्यतात्पर्यम् — "यदानुपश्यते," इत्य् अस्यार्थः ।®

'यथा ऽचिरात् सर्व-पापं व्यपोह्य परात् परं पुरुषं याति विद्वान्' (कै. उ. १) इत्य्-उपक्रमोक्तः परात्-परः पुरुषः 'वेदैर् अनेकैर् अहम् एव वेद्यो वेदान्तकृद्-वेदविद्-एव चाहम्' (कै. उ. २२) इत्य्-अत्रानेक-वेद-वेद्यः इत्य्-उक्तेः । गीतायां सप्तमे (गी. ७-६, ७) जीवात् परत्वेनोपनिषदुक्त-परात् परत्वं पुरुषस्योपपाद्य पञ्चदशे 'वेदैश् च सर्वैर् अहम् एव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम्' (गी. १५-१६) इत्य-अत्रानेक-वेदवेद्यत्वम् उपनिषद् उक्तं वासुदेवस्येति निर्धार्य "द्वाव् इमौ पुरुषौ लोके (गी. १५-१६)", "यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्त्य्-अव्यय ईश्वरः (गी. १५-१७), यस्मात् क्षरम् अतीतो ऽहम् अक्षराद् अपि चोत्तमः । अतो ऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" (गी. १५-१८) इत्य-अत्र 'अक्षरात् परतः परः' "नाम-रूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषम् उपैति" इति मुण्डक-श्रुति-पर्यालोचनया परात् परम् इत्य्-अत्र मुक्तात् परत्वम् अपि विवक्षित मुक्तस्य अपि व्यापकत्व-धारकत्व-नियन्तृत्वादेः पर-पुरुषे सत्त्वात्, इति निर्णयात् । इत्य् अभिप्रेत्य मुक्त्य् उपायानुष्ठातुर् अवश्यानुसन्धेयं षड्विंशे पञ्च-विंश-भेदं प्रतिपादयितुम् उपक्रमते, अजस्रम् इत्यादिना । त्रयीम् इमाम् इत्य् एतद् अपि चिन्तयित्वेत्य् अत्रान्वेति । क्षयत्वाक्षयत्वे फल-द्वारके । अक्षय-फलकः धर्मानुष्ठातुः प्रकृति-पुरुष-विवेकोपयोग-प्रकारं दर्शयति 'यदानुपश्यते' । ५५ । इति तं - विश्वाविश्वेत्यादाव् उक्तं पुरुषं प्रकृतेर् अन्यम् इत्य् अर्थः । अहन्य् अहनि - इत्य् अनेन दर्शनं योग-कालिकम् इति बोधितम् । केवलीभूतः देवत्त्व-मनुष्यत्वादि-रूप-प्रकृति-संसृष्टाकार-विनिर्मुक्तः ज्ञानानन्द-स्वरूपः इत्य्-अर्थः । ज्ञानानन्द-स्वरूपस्य सार्वदिकत्वे ऽपि तत् साक्षात्काराभिप्रायेण 'तदा स केवलीभूत' इत्य् उक्तिः । षड्विंशम् अनुपश्यति इति अप्रतिबुद्ध-दशायां जीवस्य देव-मनुष्यादि-शरीराभेद-ज्ञानेन सजातीय-प्राकृत-वस्तुष्व् एव भोग्यता-बुद्धिः । यदा तु जीवस्य ज्ञानानन्द-स्वरूपता साक्षात्कृता तदा तत् सजातीय-परमात्मनि भोग्यता-बुध्या तद् अनुबुभूषया प्रवृत्तिः इति जनक-वसिष्ठ-संवादे स्फुटम् । गीता-प्रथम-षट्क-भाष्य-तात्पर्य-चन्द्रिकाद्यं उक्त-दिशा पञ्चविंशक-जीवात्म-दर्शनस्य षड्विंश-परमात्म-दर्शनोपयोगो ऽप्य अत्रानुसन्धेयः । प्रकृति-पुरुषयोर् भेद एव इत्यू आह्, "अन्यश् च । ५६ । इति प्रकृति-पुरुषयोर् भेदे पुमान् एक इत्यादिकम् उपपादयति 'तस्थम्' इति ।

देह-स्थत्वेन जीवं पुमानेक इति पश्यतां साधूनां जीव-ब्रह्मैक्यं न मतम्®

जीवे पुंस्त्वाभावे ऽपि पुंस्त्वाश्रय-देह-वर्तित्वेन 'पुमान् एक' इत्यू आद्यू उपपद्यते । "नैव स्त्री न पुमान् एष न चैव च नपुंसकः । यद् यच् छरीरम् आदत्ते तेन तेन स युज्यते" (श्वे. उ. ५-१०) इत्यू आदिश्रतेः । श्रुतौ 'तेन तेन स युज्यते' इत्य्-अत्र शरीर-सम्बन्धस् तात्विक एव विवक्षितः, न त्व् आध्यासिकः । तत्र च 'ग्णान्वयो यः फल-कर्म-कर्ता प्राणाधिपस् सञ्चरति स्व-कर्मभिः' (श्वे. उ. ५-७) इति प्राग-उक्त-कर्मैव मुलम इति भावः । साधवः – पराशरादयः । 'साधुकारी साधुर भवति' (बृ. आ. ६-४-५) इति श्रुत्य् उक्त दिशा साधु-कर्मणा साधु-शरीर-युक्ता इत्यु अर्थः, 'पुमान् स्त्री – देहेषु लोक-संज्ञेयं विज्ञेया कर्म-हेतुषु । (वि. पु. २-१३-९३) पुमान् न देवो न नरः, शरीराकृति-भेदास् तु भूपैते कर्मयोनयः', ९४ । इत्य-आदौ पुम् आदि देह-वर्त्य्-अहम् अर्थस्यात्मत्वं स्फुटम् । साधव इत्य् अनेनासाधूनाम् अप्रतिबुद्धानां देहात्मैक्य-ज्ञानं भ्रमः, साधूनां तत्-स्थत्वेनैक्य-ज्ञानं तु प्रमा, इति बोधितम् । ५७ तेनेति । तेन – तत् स्थत्वेनैक्य-दर्शनेन । एतं पञ्चविंशकम् अच्युतं नाभिनन्दन्तीत्य्-अन्वयः । एतम् - प्रकृति-भिन्नत्वेन निश्चितम् । अच्युतम् -अच्युतेन स्वरूपैक्यवन्तं, नाभिनन्दन्ति - प्रकृति-पञ्चविंशकैक्य-ज्ञानवत् पञ्चविंशक-षड्विंश-स्वरूपैक्य-ज्ञानम् अपि भ्रमः । पञ्चविंशस्थत्वेन षड्विंशस्यैक्य-ज्ञानं प्रमेति निश्चयाद् इत्य् अर्थः । अच्युत-शब्दस्य 'आश्रित-रक्षण-व्यवसाय-रूप-सत्त्वान् न च्युत-पूर्वम् इति' 'सत्त्वान् न च्युत-पूर्वो ऽहम' इति निरुक्ति-वल्लभ्यार्थः स्तोत्र-भाष्ये दर्शितः । एतेन रक्ष्यस्य पञ्चविंशकस्य तद रक्षण-व्यवसाय-वतः षड्-विंशस्य च स्वरूपैक्यं कदापि न सम्भवति इति सूच्यते । अच्युत-शब्द-रूढ्या च षड्विंशो नारायण इति निर्णीतम् । योगास् साङ्ख्याश् चेत्य्-अत्र च-कारः साधु-समुच्चायकः । जन्म-मृत्यु-भयान् नाभिनन्दन्तीत्य्-उक्त्या 'द्वितीयाद् वै भयं भवति — उदरम् अन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति', इत्य्-अत्र जीव-ब्रह्म-स्वरूपैक्यवादि सम्मतार्थो न विवक्षित इति स्फुटम् । अत्र पञ्चविंशे केवलत्वस्य प्रकृति-भेदक-धर्मस्य चानिर्णयेन तत्र प्रकृतिस्थत्वस्योक्तिवत् षड्विंशे पञ्चविंश-स्थत्वस्य स्फुटम् अनभिधानेन तद् अनुपपादनेन चोक्तार्थानिर्णयेन तद विशदीकरणार्थं विश्वावसः पुनः पुच्छति ५८ 'पञ्चविंश' इत्य आदिना ।

७०-७२ "यं पृथिवीं न वेद", "यमात्मानं वेद" इति (बृ. श्रुत्य्-अर्थः)®

'जैगीषव्यस्यासितस्य' इत्य्-आदौ असित-देवल-पराशर-शुक-गौतम-नारद-सनत्कुमाराद्यास् साधवः, किपलासुरि-पञ्चशिखादयस् सांख्याद्याचार्याश् चोक्ताः । वेद्यं नित्यं वदन्त्य् उत इत्य् अनेन कूटस्थ-नित्य-वेद्यस्य गन्धर्व-प्रश्न-प्रधान-तात्पर्य-विषयत्वं व्यक्तम् । अथ "यः आत्मनि तिष्ठन्न् आत्मनो उन्तरो यम् आत्मा न वेद," इत्य् आदिश्रुत्य् उक्त-दिशा पञ्चविंश-षड्विंशैक्यं सिषाधियेषुः प्रकृति-पुरुष-दृष्टान्तेन पञ्चविंश-षड्विंशयोर् भेदं साधियतुम् उपक्रमते - ७० बुध्यमानो ऽहीति । प्रकृति-वेत्तुर् जीवस्य प्रकृत्य्-अवेद्यत्ववत् ७२ षड्विंशः पञ्चविंशश् चेत्य्-अत्र पञ्चविंश-साक्षात्कार-कर्तुः षड्विंशस्य पञ्च-विंशावेद्यत्व-कथनेन 'य आत्मनितिष्ठान्न् आत्मनो उन्तरोयम् आत्मा न वेद' (बृ. उ. ५-७-२२ मा) इति श्रुताव् आत्मावेद्यत्वं विशदीकृतम् । एतेन 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद' इत्य्-अत्र वेदन-प्रसङ्ग-रहित-

पृथिव्य्-अवेद्यत्वोक्तिः दृष्टान्तत्वाभिप्रायेणेति निर्धारितं भवति । ७३ पञ्च-विंशो ऽभिमन्येत, इत्य्-अत्राप्रबुद्धो बुध्यमानश् च विवक्षितः । न चतुर्विंशको ग्राह्यः, ज्ञानदर्शिभिः - ज्ञानानन्द-स्वरूप-पञ्चविंश-साक्षात्कारवद्भिर् इत्य्-अर्थः एतेन ज्ञानानन्द-स्वरूपत्वेन पञ्चविंशकस्य जड-चतुर्विंशक-भेदं मनुजा जानन्ति इत्य् अर्थः । एतेन 'यदा तु मन्यते उन्यो उहम्' इति वक्ष्यमाण-श्लोके केवलत्वं निर्धारितं भवति । ७६ 'स निमज्जित कालास्ये,' इत्य्-अत्र चतुर्विंशैक्य ज्ञानवतो उनिष्टं फलं 'उन्मज्जित हि' इत्य्-अत्र परमात्मिन स्वामित्व् आदेः सत्त्वे ऽपि जीवे पर-सङ्कल्पेन द्वार-स्वातन्त्र्यानुषङ्गिक-फल-भोगादेः सत्त्वेन चतुर्विंशे स्व-स्वत्व-स्वभोग-साधनत्व-ज्ञानवतश् च नानिष्ठम्, इति प्रतिपादितम् ।

'तटस्थत्वात्' इत्यनेन परस्यात्मस्थत्वादिबोधक-श्रुत्य्-अर्थ-निर्णयः®

एतद् उभयम् अपि पञ्चविंश-षड्विंशयोर् ऐक्य-ज्ञानवतः पञ्चविंशे षड्-विंश-तत्त्व-ज्ञानवतश् च क्रमेण विवक्षितम्, चतुर्विंश-पञ्चविंशवत् पञ्चविंश-षड्विंश-भेदादि-निर्धारण-प्रकरणात । ममत्वस्योभयत्र तत् स्थत्व-निबन्धनत्वाविशेषात्, देहादौ ममता-बुद्धेर् बहुत्र निन्दितत्वात्, जीवे परमात्म-स्वामिकत्व-ज्ञानस्यैव कालास्याद् उन्मज्जन-हेतुतायाः बहु-प्रमाण-सिद्धत्वाच् चेति बोध्यम् । ७७ । 'यदा तु मन्यते' इति अहं-प्रत्यक्त्व-विशिष्टः, अन्य एषः, एषः – पराक् इत्य अर्थः । एतेन प्रत्यक्त्व-पराक्त्वाभ्यां चतुर्विंश-पञ्चविंशयोर् भेदः इत्य् उक्तं भवति । एतेन पञ्चविंशस्य ज्ञानानन्द-स्वरूपत्ववत् प्रत्यवस्वरूपत्वम् अपि 'तदा स केवलीभूत' इत्य्-अत्र साक्षात् कृतं विवक्षितम् । षड्विंशस्यापि ज्ञानानन्द-स्वरूपत्वेनेवाहंत्व-रूप-प्रत्यक्त्वेनापि पञ्चविंश-सजातीयतया तत् साक्षात्कारेच्छया प्रवृत्या तत् साक्षात्कार इति भावः । ७८ 'अन्यश् च राजन् स पर' इत्यु एव बहुषु लिखित-कोशेषु, न्याय-रक्षामणौ, वा. रा. मुद्रित-कोशे च पाठः । 'किम् अव्यक्तं परं ब्रह्म' इति जनक-प्रश्ने 'अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्टः' इति याज्ञवल्क्य-वचने च पर-शब्द-प्रयोगेण तद् ऐकरूप्यात् 'परात् परं' (कै. उ, मुं. उ.) इति श्रुत्य् आनुगुण्याच् च । सः - परात् परत्वेन, जीवात्मस्थत्वेन नित्य-बहु-जीव-नियामकत्वेन नित्यत्वेन निरितशयानन्द-रूपत्वेन ब्रह्मत्वेन वेदार्थत्वेन च श्रुति-प्रसिद्ध इत्य् अर्थः । 'तत् स्थत्वात्' इत्य् आदि एतेन परस्य आत्मस्थत्वादि-प्रतिपादक-श्रुत्य्-अर्थो निर्धारितः । तथा हि 'अङ्गष्ठ-मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूत-भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते' (कठ. ४-१२) इत्य्-अत्रात्मन्-शब्दः जीव-वाची 'महान्तं विभुम् आत्मानम्' (कठ ४-४) इत्य् अनन्तरं 'य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवम् अन्तिकात् । ईशानं भूत-भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।' (कठ ४-५) इत्य् उपक्रमे आत्मनो जीवत्वस्य, भूत-भव्येशानस्य पूर्व-मन्त्रोक्त-महा-विभु-परमात्मनः जीव-समीप-वर्तितायाश् च स्फुटम् अभिधानात् । उपक्रम-श्रुताव् अन्तिकाद् इत्य् अनेनात्र जीवस्थत्वं जीव-व्यापकत्वं 'व्याप्य नारायणः स्थितः' इति श्रुत्य अन्तर-प्रतिपन्नं विवक्षितम् इति प्रतीयते । उत्तरत्र 'एको वशी - सर्व-भूतान्तरात्मा' 'तम् आत्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति' (कठ ५-१२) इत्य्-अत्र परस्य जीवव्याप्तिरः जीव-परतन्त्री-करणार्थेति जीवस्य-पारतन्त्र्य-ज्ञानवताम् एव शाश्वत-सुखम् इति च स्फुटम् । 'एको वशी निष्क्रियाणां बहुनां' (श्वे. उ. ६-१२) इत्य आदि समानानुपूर्वीक-श्वेताश्वतर-श्रुताव अप्य-अयम् अर्थः स्फूटः 'नित्यो नित्यानां चेतनश् चेतनानां', 'तम् आत्मस्थम्' इत्य् अनन्तरं कठ-श्रुतौ नित्य-बहु-चेतन-व्यापकत्वं परस्य, 'तद् एतद् इति मन्यन्ते ऽनिर्देश्यं परमं

सुखं' इति तद् अनन्तर श्रुतौ परतन्त्र-नित्य-बहु-चेतन-व्यापक-स्वतन्त्र-परमात्मनो निरतिशयानन्द-रूपत्वं च प्रतिपादितम् ।

अन्तर्यामि-ब्राह्मणार्थः मूलस्थ-साधु-पदार्थश् च®

वाजसनेयके 'यो वै तत् काप्यं सूत्रं विद्यात् तं चान्तर्यामिणम्' (बृ. ३-५-६-९) इति 'स ब्रह्म-वित् स लोक-वित् स देव-वित् स वेद-वित् स भूत-वित् स आत्म-वित् स सर्व-वित्' इत्य-अत्रान्तर्यामि-वेदितः ब्रह्म-वित त्वोक्त्यान्तर्यामिणो ?? ब्रह्मत्वं तद वेदितः लोक-देव-भृत-जीवात्मादीनां तद् अन्तर्यामिकाणां वेदितृत्वं वेदार्थ-वेत्तृत्वं च सिद्ध्यति तद् उत्तरं याज्ञवल्क्योक्तौ 'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानाद् अन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानँ शरीरं यो विज्ञानम् अन्तरो यमयति' (बृ. का. ५-७-२२) इत्य्-अत्र 'य आत्मनि तिष्ठन्न्' इत्यादि आत्म-शब्द-घटित-माध्यन्दिन-श्रुतौ च ज्ञान-स्वरूप-जीवात्म-स्थितेर् नियमनार्थत्वं शरीरत्व-पर्यवसानार्थत्वं च स्फुटम् । एतेन शरीर-वाचक-देव-मनुष्यादि-शब्दाः यथा शरीरि-जीव-बोधकासः तथा शरीरित्व-पर्यवसायि-जीवस्थत्व-विशिष्टं परं ब्रह्मापि बोधयन्ति इति सिध्यति । वाजसनेयके याज्ञवल्क्योक्त-रीत्यैवात्र जनक-याज्ञवल्क्य-संवादे 'अन्यश च राजन स परः' इत्यादि याज्ञवल्क्योक्ताव अप्य अर्थो विवक्षितः नान्यथा । अत एव 'आत्मस्थं प्रभुं कारयितारं नापश्यत्' इत्यादि १४८७ प्राग् उदाहृत-मैत्रायणीय-श्रुतिर् अपि सङ्गच्छते । 'तत्-स्थत्वाद् अनुपश्यन्ति ह्य एक एवेति साधवः' साधवः - 'तम् आत्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीराः' इत्य्-अत्र धीराः' इति श्रुत्य् उक्त-धीराः 'अजायमानो बहुधा विजायते । तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्' (पु. सू.) इत्य् आदि श्रुत्य् उक्त-दिशा परस्य कर्माद्य् अहेतुकाश्रित-परित्राणार्थावतार-ज्ञानवन्तः 'परित्राणाय साधूनाम्' (गी. ४-८) इति गीतोक्त-दिशा येषां परित्राणार्थं कृष्णः अवतीर्णः त एव कृष्ण-रक्ष्यत्व-निश्चयवन्तः, न तु कृष्ण-जीवाभेद-ज्ञानवन्तः । इमम् अर्थं '७९ तेनैतम्' इत्य् आदिना षड्विंशम् अनुपश्यन्तश् शुचयस् तत् परायणाः, इत्य् अन्तेन स्फटयति । अन्तर्यामि ब्राह्मणे-प्रतिपर्यायं (सत आत्मा अन्तर्याम्य्-अमृतः । मा. पा.) एष त आत्मान्तर्याम्य् अमृतः, (का. पा.) इत्य-अत्र अन्तर्यामी (स) एष त आत्मा अमृतः इति योजनया अन्तर्यामिण एवात्म-शब्दार्थत्वं नित्यत्वं च प्रतिपादितम् इति 'भेदाद् इति चेन् न प्रत्येक-मतद्-वचनात्' (शा. सू. ३-२-११) इति सूत्रोक्त-दिशा पूर्व-श्लोके तत्-स्थत्वेनोक्तस्यात्राच्युत-शब्द-योगार्थ-नित्यत्वम् अपि विवक्षितम ।

अन्तर्यामिणो नित्यत्वं निर्गुण-श्रुत्य्-अर्थश् च®

जीवे अच्युत-शब्द-योगार्थो न सम्भवित, जीवस्य स्वभावान्यथा-भाव-राहित्य-रूप-नित्यत्वस्यैवासम्भवात्' अच्युत-शब्द-रूढ्य्-अर्थाभेदस् तु सुतरां न सम्भवित । एतेन सुबालोपनिषदि सप्तमे "अन्तश् शरीरे निहितो गुहायाम् अजः एको नित्यः एष सर्व-भूतान्तरात्मा अपहत-पाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्य्-अत्र जीवान्तर्यामिणो नित्यत्वैकत्वे विवक्षित इति स्थापनेन 'अन्तः शरीरे निहितो गुहायां शुद्धः सो ऽयमात्मा' इत्यादि 'निहितं गुहायाम् अमृतं विभ्राजमानमानन्दं तं पश्यन्ति - विद्वांसः' इत्य् अन्त तद् उत्तर-खण्ड-श्रुतौ जीवान्तर्यामिणः शुद्धत्वानन्दत्वे प्रतिपादित इति निर्धारितम् । योगानां साङ्ख्यानां साधूनां च षड्-विंश- दर्शनोक्त्या 'एको देवः... केवलो निर्गुणश् च' (श्वे. उ. ६–११) इत्य् अनन्तरं 'एकोवशी-निष्क्रियाणां बहूनां ... तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीराः (श्वे. उ. ६-१२) । 'नित्यो नित्यानां चेतनश् चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान् । तत् कारणं साङ्ख्य-योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व-पाशैः' (श्वे. उ, ६-१३) इत्य्-अत्र एक-देवः आत्म-स्थत्वेनोपादान-कारणं षड्-विंश एव सो ऽपि नारायण एव ।

गुणैर् हि गुणवान् एव निर्गुणश् चागुणस् तथा । प्राहुर् एवं महात्मानो मुनयस् तत्त्व-दर्शिनः ॥ ३२०-२ ॥

इति अत्रैव पूर्वं तत्त्व-दर्शिभिर् जीव-स्वरूप-निर्धारणेन तद् रीत्या 'केवलो निर्गुणः' इत्य्-अत्र "देवात्म-शक्तिं स्व-गुणैर् निगूढाम्" (श्वे. उ. १-३) इत्य् उपक्रमे 'गुणान्वयो यः फल-कर्म-कर्ता' (श्वे. उ. ५-९) इत्य्-अत्र च गुण-पदार्थ-भूत-सत्त्वादि-गुण-शून्य इत्य् अर्थः न तु एतच् छ्रुतेः पूर्वं परत्र च 'ज्ञः काल-कालो गुणी सर्व-विद्यः' (श्वे. उ. ६-२) इत्य् उक्त-प्रशस्त-गुण-विरहवान् ।

जीवात्मस्थ एवोपनिषदः पुरुषः "तदात्मानम् एवावैत्" इत्य् अत्रात्मा ऽपि स एव®

'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च' (श्वे. उ. ६-८) इत्य-अत्रैव पूर्वं ज्ञानादीनां स्वाभाविकत्वोक्तेर् इति बोध्यम् । 'षड्-विंशम् अनुपश्यन्तः' इत्य्-अत्र 'तां योगम् इति मन्यन्ते' (कठ २-६-११) 'त्रिर् उन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे. २-८) इत्य्-आदौ च प्रतिपादितं योग-कालिकं दर्शनं विवक्षितम् । 'तत् परायणा' इति 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म रातिर् दातुः परायणम् । तिष्ठमानस्य तद् विदः ।' (बृह. ५-१-२८) इति श्रुति-घटक-परायण-शब्दार्थ उक्तः । अत्र पूर्वं तत्-स्थत्वाद् अनुपश्यन्ति, इत्य-अत्र सर्व-शरीरिणः उपनिषद्-एक-गम्यत्व-प्रतिपादन-परा 'तं त्व् औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ ५-१-२६) इति श्रुतिर् अभिप्रेता तत्रोक्तौपनिषद-पुरुष एव ब्रह्म । पुरुष-शब्दश् च 'स वा अयं सर्वासु पूरुषु पुरि-शयः' (बृ. ४-५-१८) 'स यत् पूर्वो ऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् । तस्मात् पुरुषः ।' (बृ. ३-४-१) इति पूर्वं बृहदारण्यक एव निरुक्तः । अतश् च सर्व-जगत्-कारणं सर्व-शरीरि निरतिशयानन्द-रूपं ब्रह्म प्रापकं प्राप्यम् इत्य् अर्थः सिद्धः ॥ एतेन 'तद् आत्मानम् एवावैत्' 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. ३-४-१०) इति श्रुत्य् अर्थो ऽपि निर्धारितः । श्रुतौ जीव-ब्रह्म-स्वरूपैक्य-भ्रान्ति-व्युदासायैव 'आत्मानम्' इति प्रयुक्तम् । 'आत्मैवेदम् अग्रे आसीत् पुरुष-विधः' इति तद् ब्राह्मणोपक्रम-वाक्ये आत्मनः पुरुष-विधत्वम् उक्तम् इति पुरुष-शब्द-समानार्थक एवात्म-शब्दः । तद् अनन्तरं 'सो ऽनुवीक्ष्य नान्यद् आत्मनो ऽपश्यत्' सो ऽहम् अस्मीत्य् अग्रे व्याहरत् । ततो ऽहं नामा ऽभवत् ।' (बृ. ३-४-१) इत्य्-अत्र 'एको ह वै नारायण आसीन् न ब्रह्मा नेशानः' (महोपनिषत्) 'प्रजापतिर् वा एको ऽग्रे ऽतिष्ठत् स नारमतैकः' (मैत्रा. २-६) इत्य्-आदौ प्रजापति-नारायण-शब्दार्थ-विशेषण-विरह-विवक्षाया अयोगवत् 'आत्मन्-शब्दार्थ-विशेषण-विरह-विवक्षाया अप्य् असंभवेन ब्रह्मादि-नाम-रूप-विभाग-विभक्त-वस्तु-दर्शन-विरहो विवक्षितः । 'सो ऽबिभेत् तस्माद् एकाकी बिभेति' इत्य् आदि श्रुत्य् अर्थः (२५२ प्) पूर्वम् एवाभिहितः । अत्र 'अहङ्कारस् ततो जातो ब्रह्मा शुभ-चतुर्

मुखः ।' इत्य् आद्य् एतद् उपाख्यान-वचनैर् एतच् छुत्य् अर्थस्य व्यासेन निर्णीततया स एवार्थ एतच् छुतौ विवक्षितः ।

'अहं ब्रह्मास्मि' इत्य् अत्र स एवात्मा ऽहमर्थः 🕄

'आत्मैवेदम् अग्रः आसीत् पुरुष-विधः' इति प्रथम-वाक्य-विरुद्धार्थस्य 'सो ऽनुवीक्ष्य नान्यद् आत्मनो ऽपश्यत्' इत्य्-अत्र यथा न विवक्षा तथैव 'सो ऽबिभेत् तस्माद् एकाकी बिभेति सहायम् ईक्षाञ्चक्रे' इति भय-तद् अभाव-हेतु-भूतासहायत्व-सहाय-दर्शनार्थ-द्वयस्य स्फुट-प्रतिपादक-प्रथम-वाक्य-विरुद्धार्थस्य 'यन् मद् अन्यं नास्ति कस्मान् न् बिभेमीति — 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' इति वाक्य-द्वये परेषां विवक्षण-कथनम् अपि न घटते इत्य्-एतेन सिद्धम् । 'तद् यद् इदम् आहर् अमुं यजामुं यजेति एकैकं देवम् एतस्यैव सा विसृष्टिर् एष उ ह्य एव सर्वे देवाः' (ब उ ३-४-६) इत्य्-अत्रैतस्योपक्रमोक्तात्मैव 'विसृष्टिः' इति सर्व-देव-स्रष्ट्रत्व-प्रतिपादनेन सर्व-देव-जनकः एक एव सर्व-देवान्तर्यामी विवक्षितः 'तद् धेदं तर्ह्य अव्याकृतम् आसीत् तन् नाम-रूपाभ्यां व्याक्रियत' इत्य्-आद्य्-उत्तर-श्रुतौ नाम-रूप-विभाग-श्रून्यावस्था नाम-रूप-विभागो विभक्त-पदार्थ-प्रवेशो व्याप्ति-पर्यवसितश् च प्रतिपादितः । अनन्तरं 'स यो है त एकैकम् उपास्ते' इत्य्-आदौ व्याप्य-व्यापक-वस्तुषु एकैकोपासन-निन्दा-पूर्वकं 'आत्मेत्य्-एवोपासीत अत्र ह्य-एते सर्व एकं भवन्ति' । इत्य् आदिना सर्व-व्यापक-तत्त्वे विशिष्टे व्याप्य-तत्त्वानाम् अपि विशेषणानाम् अन्तर्भावं 'तद् एतत् प्रेयः' इत्य् आदिना सर्व-व्यापकात्म-तत्त्वस्यैव निरतिशयानन्दत्वं प्रतिपादितम् । अतः 'तदात्मानम् एवावैत्', इत्य्-अत्र 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाँ सर्वात्मा' (तै. आ. ३-११-२) 'एष त आत्मान्तर्याम्य्-अमृतः' (बृ. ५-७-३) इत्य्-उक्त-दिशा आत्मानम् इत्य् अस्यान्तः प्रविश्य सर्व-नियन्तारम् इत्य्-अर्थः । इत्थं च अन्तः प्रविश्य नियन्तुरः 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्य्-अत्र ब्रह्मैक्यं विवक्षितम् इति सिद्धम् । षष्ठे 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्य्-आत्मनस् तु कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (ब्. उ. ६-५-६) इत्य-अत्रात्म-शब्दो ऽपि अन्तः प्रविश्य नियन्तृ-वचनम् एव; तृतीयैकार्थ्यात् । अयम् अर्थः 'अवस्थितेर् इति काशकृत्स्नः' (शा. स्. १-४-२२) इति सूत्रे विवक्षितः । स्थितेर् इत्य्-उक्तौ 'स्थित्य्-अदनाभ्यां च' (शा. सू. १-३-६) इति सूत्रम् इव स्थिति-मात्रं प्रतीयते । न तु 'अनवस्थितेर् असम्भवाच् च नेतरः' (शा. सू. १-२-१८) इति सूत्र इव स्थिति-विशेषः । 'स्थानादि-व्यपदेशाच् च' (शा. सू. १-२-१४) इति पूर्व-सूत्रे आदि-पदार्थ-संचलिता या स्थितिः सैवानवस्थितेर् इत्य्-अत्र नञ्-अर्थ-प्रतियोगितया विवक्षिता । सा च नियमनादि-पर्यवसितैव स्थितिर् इति 'अन्तर्याम्य्-अधिदैवाधिलोकादिषु तद्-धर्म-व्यपदेशात्' (शा. सु. १-२-१९) इति तद् अनन्तराधिकरण-सुत्रे निर्धारितम इत्य-अभिप्रेत्य 'अवस्थितेः' (शा. सू. १-४-२२) इति सूत्रितम् ॥

'तत्स्थत्वात्' अवस्थितेः (१-४-२१ शा. सू) इत्य् उभयोर् ऐकार्थ्यम्®

एतेन 'तं माम् आयुर् अमृतम् इत्य्-उपास्व' (कौ. उ. ३-२) इति ऋग्वेदान्तर्गत-कौषीतकी-ब्राह्मणे ऽपि 'स म आत्मेति विद्यात्' इत्य्-उपसंहार-पर्यालोचनया इन्द्रान्तर्यामी विवक्षित इति 'स एष प्रज्ञात्मा आनन्दो ऽजरो अमरः' इत्य्-अन्तर्यामिण एवानन्दत्वं नित्यत्वं च विवक्षितम् इति सिद्धम्

। 'स म आत्मेति विद्यात्' इत्य्-अत्र आत्म-शब्दः अन्तः प्रविश्य नियन्तृ-वचनः । 'न वक्तुर् आत्मोपदेशाद् इति चेद् अध्यात्म-सम्बन्ध-भूमा ह्य् अस्मिन्' (शा. सू. १-१-३०) इति सूत्रे 'वक्तुर् उपदेशात्' इत्य्-आदिक्रमं परित्यज्य अन्यथा-निर्देशेन 'स म आत्मेति विद्यात्' इति श्रुतिः पूर्व-पक्षे विविक्षितेति प्रतीयते । तत्र च 'माम् एव विजानीिह' इत्य् आद्य् उपक्रमानुसारेण आत्मन्शब्दस्य न व्यापक-चेतनार्थकता, लोके प्रयुक्तेन 'मम आत्मा' इत्य्-एतेन तुल्यतया प्रयुक्तस्य 'म आत्मा' इत्य् अस्य अहम् इत्य् एवार्थः । स इत्य् अस्य 'एष लोक-पाल एष लोकािधपितर् एष सर्वेश्वर' इत्य्-अन्त-पूर्व-वाक्य-प्रतिपन्न एवार्थः इति प्रतीयते । अतः 'स म आत्मेति विद्यात्' इत्य्-अत्रात्मन्-शब्दार्थो ऽपीन्द्र एवेति 'माम् एव' इत्य्-अत्र इन्द्र एव विविक्षितः पूर्व-पक्षे, सिद्धान्ते 'अध्यात्म-सम्बन्ध-भूमा' इत्य्-अत्र आत्मन्-शब्दः 'एवम् एवैता भूत-मात्राः प्रज्ञा-मात्रास्य अर्पिताः, प्रज्ञा-मात्राः प्राणे ऽर्पिता एष प्राण एवात्मा आनन्दः', इत्य् आदि 'एष सर्वेश्वर' इत्य्-अन्त-पूर्व-वाक्य-प्रतिपन्नं 'स म आत्मेति विद्यात्', इत्य्-अत्र आत्मन्-शब्दः 'मे' इत्य्-अत्र संबन्ध एव षष्ठ्य्-अर्थः पूर्वं सर्वेश्वरात्मनः तद्-अन्येषां संबन्धानां बहूनाम् अत्र प्रतिपादनाद् इति तात्पर्येण प्रयुक्तः । अतश् च 'स म आत्मेति विद्यात्' इत्य-अत्र आत्मन-शब्दस्य व्यापक-चेतनार्थकतया इन्द्रान्तर्याम्य एव विविक्षितः ।

"सम आत्मा" (कौ-ब्रा) "एषम आत्मा" ३ (छां) "एषत् आत्मा" २२ बृ. इत्य् एषामर्थः®

अयमर्थः ' शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (शा. सू. १-१-३१) इत्य्-अनन्तरसूत्रे स्थाप्यते । ' तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर् वामदेवः प्रतिपेदे ऽहंमनुरभवम्' इत्यादौ तदात्मानमेवावैत्' इति पूर्ववाक्ये आत्मन् शब्दस्य वैय्यर्थ्यान्यथानुपपत्या पूर्वोपपादितरीत्यैवार्थो निर्णेय इति वामेदवस्यात्मैव अनुसन्धान-विषयतया विवक्षितः । अत एव तद्त्तरसूत्रे परस्य त्रिविधोपासनं विवक्षितम् इति वृत्तिकारसम्मत एवार्थो व्यास-तात्पर्य-विषयः । अतः 'सम आत्मेति विद्यात्' (ऋ. कौ.) इत्य्-अत्र इन्द्रान्तर्याम्य् एव विवक्षितः । अयमर्थं उत्तरत्रापि स्थिरीक्रियते । सर्वत्र प्रसिध्द्य् अधिकरणे ' शब्द-विशेषात् ' (शा. सू. १-२-५) इत्य्-अत्र 'एष म आत्मान्तर् हृदये' इति त्रेधा अभ्यस्तसामवेदान्तर्गत छान्दोग्यश्रुतौ 'म' इति भेदसंबन्ध एव विवक्षितः । अन्तर्याम्य् अधिकरणे 'उभये ऽपि हि भेदेनैनम् अधीयते ।' (शा. सू. १-३-३१) इत्य् अत्र 'य आत्मनि तिष्ठन्' 'स त आत्मान्तर्याम्य अमृतः' (मा. पा.) 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' 'एष त आत्मान्तर्याम्य् अमृतः (का. पा.) इति द्वाविंशतिवारमभ्यस्त शुक्लयजुर्वेदान्तर्गत बृहदारण्यक-श्रुताव् अपि त — इत्य्-अत्र भेदसम्बन्ध एव विवक्षित इति व्यवस्थापनात् । एतेन 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ' (शा. स्. ४-१-३) इति सूत्रे शब्दान्तरं विहाय आत्मन्-शब्दप्रयोगेण 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्य्-अत्र ' तदात्मानम् एवावैत्' इत्य्-अत्रात्मन्-शब्दस्य प्राग् उक्त तात्पर्यानुसारेण अस्मद् अर्थो ऽन्तर्याम्येव विवक्षित इति व्यासस्याशयः । एतेन 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा' इति श्रुत्य्-अर्थस्यापि निर्धारणेन 'तत्वम् असि, इत्य् अत्रापि अन्तर्याम्य् अभेद एव विवक्षित इति सिद्धम् । तदेतत् सर्वम् अभिप्रेत्योक्तम् 'अवस्थितेर् इति काश-कृत्स्नः' (शा. सू. १-४-३३) इति सूत्रे अधिकरण-सारावल्याम्-आचार्यपादैः 'तत्स्थत्वात् काश-कृत्स्नो यदिह निरवहत्-साङ्ख्य-सिद्धान्तः एषः' इति । व्यासार्यैरपि जनक-याज्ञवल्क्यसंवादे पूर्वापर-परामर्श-पूर्वकं 'तत्स्थत्वाद् अनुपश्यन्ति ह्य-एक एव' इत्य्-उक्तार्थ एव सूत्रे विवक्षित इति निर्णीतः ।

युधिष्ठिर-प्रश्न-प्रतिवचनैकरस्योपपादनेन (ज. या. सं.), अर्थोपसंहारः ®

एतेन न्याय-रक्षामणौ आचार्य-पाद-व्यासार्थ-सिद्धान्तितार्थस्य पूर्वापर-परामर्श-विकलैर उत्प्रेक्षितत्त्वोक्तिः निरवकाशा । 'जन्म-मृत्यु-भयाद् भीताः', 'षड्विंशम् अनुपश्यन्तः' इत्य्-उक्त्या 'उदरम् अन्तरं कुरुते – अथ तस्य भयं भवति' (तै, उ. ३-३-७) इति श्रुताव् अपि 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचन' इत्य्-अत्र ब्रह्म-संबन्ध्य्-आनन्द-ज्ञानस्यैव भय-निवर्तकत्वस्य 'एष ह्य-एवानन्दयाति' इत्य्-अत्र ब्रह्मणश् चेतनानाम् आनन्दयितृत्वस्य चोक्त्या पर-सम्मतार्थो न विवक्षितः किन्तु पञ्चविंश-जीवस्य षड्विंश-दर्शनस्य विच्छेदाभाव एव विवक्षित इति निर्णीतं भवति । अयम् अर्थः श्रीभाष्ये स्फुटः । अत्र अच्युत-शब्देन, परायण-शब्देन च सग्णात्म-वादे सङ्कोच-विसात्मक-स्वरूप-परिणाम-शून्यत्वेन सगुणस्य कूटस्थ-नित्यता, सगुणस्यैवानन्द-रूपत्वेन प्राप्यता, प्रापकता च सम्भवति इति 'यच् छिवं नित्यम्' इति युधिष्ठिरेण पृष्टो ऽर्थः सम्यग् उत्तरितो भवति । बहुनां षड्विंश-दर्शनस्य पञ्चविंश-षड्विंशैक्य-ज्ञान-विरहस्य च प्रतिपादनेन 'तम् आत्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीरास् तेषां सुखं शाश्वतं न एतरेषाम्' इति निर्गुण-श्रुति-समनन्तर-श्रुतौ निर्गुण-श्रुतेर् निर्विशेष-परता-वादि-मते बहुनां नित्य-सुख-लाभोक्तिः, 'योगाः सांख्याश् च' इत्य्-उक्त्या 'नित्यो नित्यानाम्', 'तत् कारणं साङ्ख्य-योगाधिगम्यम्' इत्य्-अत्र बह्-चेतनानां मोक्ष-पर्यन्त-काम-विधातृत्वस्योक्तिर् अपि न घटते इति बोधितम् । 'यदा स केवलीभूतः न पुनर् जन्म विन्दते' (८०) इत्य्-अत्र मुक्ति-फलकत्वम् उक्तम् । एवञ्च 'नित्यो नित्यानाम्', 'तत् कारणं सांख्य-योगाधिगम्यम्' इत्य्-आदिश्रुत्य्-अर्थ-निर्धारण-मुखेन जनक-वसिष्ठ-संवाद-जनक-याज्ञवल्क्य-संवादयोर् विस्तरेण प्राक्-सिद्धान्तितार्थः 'नारायण-परा वेदाः', 'नारायण-परं सांख्यम्' इत्य्-आद्य्-उत्तरं 'तत्त्वं जिज्ञासमानानाम्' इति श्लोके संगृहीत इति बोध्यम । एवं च नारायणस्य सर्व-वेद-तात्पर्य-विषयत्वं परत्वं चाप्रकम्प्यम इति तस्यैव चतुर्मुख-प्रार्थनया वेदाद्य् आहरणार्थम् अवतीर्णस्य हयशिरसो ऽपि परत्वं सिद्धम् ।

नारायणोपनिषदः हयशिरः परत्व-व्यास-सम्मतम् ③

अत्र महाभारते उपक्रम-प्रभृति-नारायणस्य जगत्-स्रष्टृत्वादि-रूप-परत्वम् अभिधाय जनक-याज्ञवल्क्य-संवादे तत्-स्थत्वेनैक्यं प्रतिपाद्य अस्मिन् हयशिरूपाख्याने 'तत्त्वं जिज्ञासमानानाम्' इति श्लोके सङ्ग्रहेण तस्यार्थस्याभिधानेन 'अथ पुरुषो ह वै नारायणो ऽकामयत' इत्य्-आदिना सृष्ट्य्-आदिकम् अभिधाय 'ब्रह्मण्यो देवकी-पुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनम् । सर्व-भूतस्थम् एकं नारायणम् । कारण-रूपम् अकार-पर-ब्रह्मोम्' । इत्य्-अन्ते हयशिरो ऽवतारम् अप्य्-अभिप्रेयतो नारायणोपनिषद्-वाक्यस्यार्थः व्यासेन निर्धारितो भवति ।

यद्य्-अपि देवीभागवते प्रथम-स्कन्धे पञ्चमाध्याये "कदाचिद् विष्णुर् दश-वर्ष-सहस्राणि युद्धं कृत्वा परिश्रान्तः सन् कुत्रचित् पद्मासने स्थित्वा धरा-स्थितं सज्यं धनुः कण्ठ-देशे अवलम्ब्य धनुष्-कोट्यां भारं दत्त्वा निद्राम् आप । तदा ब्रह्मादयो देवा यज्ञं कर्तुम् उद्युक्ता अभवन् । एतस्मिन्न् अवसरे 'भगवतो निद्रा-भङ्गोपायं चिन्तयत' इति देवान् प्रतीन्द्रः प्राह । शङ्करश् च 'हे देवाः निद्रा-भङ्गे ऽस्ति महद्-दूषणम् । अकृते च निद्रा-भङ्गे यज्ञो न निर्वर्तेत । सेयम् उभयतः-

पाशा रज्जुः ।' इत्य्-अवोचत् । चतुर्मुखस् तु वम्रीम् उत्पाद्य तां प्रति 'धनुर् अग्रं भक्षय' इत्य् आदिशे । सा तु 'निद्रा-भङ्गो ब्रह्म-हत्या-सदृशः । यद्यपि स्वार्थ-परो लोकः पापं कुरुते । न चात्र किञ्चित् स्वार्थं पश्यामि । अतः किञ्चिद् अपि स्वार्थम् उपलभ्येत चेद् धनुष्-कोटिं भक्षयामि' इत्य्-अवोचत् । चतुर्मुखस् तु 'होम-कर्मणि कुण्डाद् बहिः पार्श्व-भागे हिवर्-दानाद् यत् पित्रप्यति तत् ते भागं कल्पयामि । प्रकृत-कार्यं कृत्वा विष्णुं बोधय' इत्य्-अवोचत् । ततो वम्री भूमौ स्थितं धनुष्-कोटिं चखाद । धनुःसूत्रं ज्या विमुक्ता ऽभूत् । प्रत्यञ्चायां विमुक्तायाम् उत्तरा कोटिर् अपि विमुक्ता ऽभूत् । तदा घोरः शब्दो ऽभवत् । तेन देवास् तत्रसुः । ब्रह्माण्डं क्षुभितम् । वसुधा कम्पिता । समुद्राश् च समुद्विग्नाः । जल-जन्तवस् तत्रसुः । उग्रा वाता ववुः । पर्वताश् चकम्पिरे । दुःख-शंसिनो महोत्पाता बभूवुः । घोरतरा दिश आसन् । सूर्यश् चास्तं गतो ऽभवत् । दुर्दिने ऽस्मिन् किं वा भवेद् इति देवाश् चिन्ताम् अवापुः । एतस्मिन्न् अन्तरे सकुण्डलं समकुटं च विष्णोः शिरः क्वापि तिरोदधे । तद् एतद् दृष्ट्वा देवाः शोक-कर्शिता अभवन् । रुरुदुश् च भृशं 'हे नाथ त्वम् अदाहाः, अभेद्यः, अच्छेद्यश् चासि । कस्य वेयं माया यया ते शिरो हृतम् ।

देवीभागवते (५ अ) हयग्रीव-चरितानुवादः ③

त्वयि चैवं गते देवता मरिष्यन्ति हि । अयं च विघ्नो न दैव-कृतः नापि राक्षस-कृतः । अस्माभिर् एवायं विघ्नः कृतः । पराधीनाः सर्वे किं कुर्मः? क वा व्रजामः? मूढ-चेतसाम् अस्माकं शरणं नैवास्ति । हे मायेश ! जगद्-गुरोः शिरश्-छेदिनीयं माया न सात्त्विकी नापि राजसी । महद् इदं दुःखम् अस्माकम् उपस्थितम्' इति । क्रन्दमानांश् च तान् दृष्ट्वा 'हे देवाः क्रन्दनेन किं प्रयोजनम? यथा बुद्धयुपायो ऽत्र विधेयः । दैव-पुरुषकाराव उभाव अपि देवेश-सदशौ । अनुष्ठितः सर्वो ऽप्य्-उपायो दैवाद् एव फलति हि' इति बृहस्पतिर् उवाच । इन्द्रस् तु बृहस्पति-मतं खण्डयन् आह 'यत् सुरेषु पश्यत्स्व-एव विष्णोर् अपि शिरश् छिन्नम् अतः पौरुषं निरर्थकं, दैव-बलम् एव वरिष्ठम्' इति । चतुर्मुखस् त्व-एवम् आह 'सर्वो ऽपि सुख-दुःखयोर् उपभोक्ता भवति । सुखम् एव वा दुःखम् एव वा दैवम् अतिक्रमितुं कः प्रभवेत्? अतो यथा-कालं दैवाद् आगतं शुभम् अशुभं वा भोक्तव्यम् एवावश्यम् । यथा ममापि शिरः शम्भुना कदाचित् कृत्तम् । शाप-वशाल् लिङ्गस्यापि पात आसीत् । इन्द्रस्य स्वर्गाद्-भ्रंशादयो ऽभवन् । संसारे ऽस्मिन् केन वा दुःखं न भुज्यते? अतो यूयं धैर्यम् अवलम्ब्य सनातनीं मायां चिन्तयत । सा च नः कार्यं विधास्यति' इति । एतच् छ्रृत्वा देवा मायां बहुधा तुष्टुवुः । प्रसन्ना च माया अशरीरिणी आकाशस्था सती 'हे देवाः मा चिन्तयत । अहं परितुष्टास्मि । न हि कारणं विना कार्यम् उदेति । विष्णोः शिरसो ऽपगमे ह्य-अस्ति कारण-युगलम् । १. कदाचिन् महा-विष्णुः स्व-समीपे स्थिताया महालक्ष्म्या वदनं वीक्ष्य जहास । लक्ष्मीर् अपि 'कारणम् अन्तरा कथं हास्यस्य सम्भवः? निश्चयेनायं सपत्नीकः स्यात्" इति निश्चित्य तामस-शक्त्य्-आवेशेन सपत्नी-जनित-दुःखाद् अपि स्व-वैधव्यम् एव वरं मन्यमाना कोपातिरेकेण 'शिरस ते पतत्' इति विष्णुं शशाप । अतो विष्णोः शिरो लवण-सागरे निमग्नम अभृत।

(दे. भा.) व्याख्याकृता एतच् चरिते शतपथ-ब्राह्मणस्य मूलत्वस्योक्तिः ®

२. अन्यच् च पुरा हयग्रीवो नामासुरः मामकम् एकाक्षरं जपन् निराहारो ऽितदारुणं तपश् चक्रे । तदा प्रसन्नाहं सिंहोपिर स्थिता सती वरं वरयेत्य्-अवोचम् । सो ऽप्य-असुरो मदीयं रूपं दृष्ट्वा हर्षाश्रु-पूर्ण-नयनो मां बहुधा स्तुत्वा 'हे मातः, जरा-मरणादि-रिहतः सुरासुरैर् अजेयश् च यथा भवेयं तथा माम् अनुगृहाण' इत्य्-अवोचत् । मया चोक्तम् – "असुर! जातस्य मृत्युर् ध्रुवः । ध्रुवं जन्म मृतस्य च । इयं च लोक-मर्यादा न केनाप्य्-अितक्रिमितुं शक्या । अतः स्व-मरणम् अवश्यं-भावीति निश्चित्यान्यं वरं वरयेति । तदा सुरो 'हयग्रीवाद् एव मे मृत्युर् भविता नान्यस्माद्' इत्य्-अवृणोत् । मया तथैव वरं दत्तम् । एवं वर-दिर्पितः सो ऽसुरः सम्प्रति मुनीन् देवांश् च पीडयित । भुवन-त्रये ऽपि हन्ता तस्य न को ऽप्य्-अस्ति । सम्प्रति त्वष्टा विष्णोः शरीरे मनोहरं हय-शिरो योजयित । भगवांश् च हयग्रीवः पापिष्ठं हयग्रीवासुरं हिनष्यित' इत्य्-अभिधायान्तर्दधे शक्तिः । श्रुत्वा चैतत् देवा अचोदयन् देव-शिल्पिनम् अश्व-शिरो-योजनाय । त्वष्टा वाजि-शिरः खड्गेन संछिद्य युयोज विष्णोश् शरीरे । एवं माया-प्रसादतो हयग्रीवो हिर्र् जातः" इति प्रतिपादितम् । एतद्-अध्यायारम्भे व्याख्यायाम् 'इयं चाख्यायिका शतपथ-ब्राह्मणे प्रवर्ग्यारम्भे ऽभिहिता' इति नीलकण्ठेनोक्तम् ।

तथापि शतपथ-ब्राह्मणे उक्तार्थो न दृश्यते । तथा हि – काण्व-शाखायां प्रवर्ग्यारम्भे

देवा ह वै सत्रं निषेदुर् अग्निर् इन्द्रस् सोमो मखो विष्णुर् विश्वेदेवा अन्यत्रैवाश्विभ्यां तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनम् आस तस्माद् आहुः 'कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्' इति तस्माद् यत्र क्वच कुरुक्षेत्रस्य निगच्छति तद् एव मन्यत 'इदं देवयजनम्' इति तद् धि देवानां देवयजनम् ॥ १ ॥

त आसत श्रियं गच्छेम यशःस्यामान्नादाः स्यामेति तथो एवेमे सत्रम् आसते श्रियं गच्छेम यशःस्यामान्नादाः स्यामेति ॥ २ ॥

ते होचुर् यो नः श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाहुतिभिर् यज्ञस्योहर्चं पूर्वो ऽवगच्छात् स नः श्रेष्ठो ऽसत् तद् उ नस् सर्वेषाँ सहेति तथेति तद् विष्णुः प्रथमः प्राप स देवानाँ श्रेष्ठो ऽभवत् तस्माद् आहुर् विष्णुर् देवानाँ श्रेष्ठ इति स यः स विष्णुर् यज्ञः स यस् स यज्ञो ऽसौ स आदित्यस् तद् धेदं यशो विष्णुर् न शशाक संयन्तुं तद् इदम् अप्य्-एतर्हि नैव सर्व इव यशः शक्नोति संयन्तुम् ॥ ३ ॥

शतपथब्राह्मण-मूलम् ③

स तिसृधन्वम् आदायापचक्राम स धनुर् आत्न्या शिरो ऽपष्टभ्य तस्थौ तं देवा अनभिधृष्णुवन्तः समन्तं तुरिण्यविशन्त ता ह वम्र्य उतर् इमा वै वम्र्यो यद् उपदीका यो ऽस्य ज्याम् अप्यद्यात् किम् अस्मै प्रयच्छेतेत्य्-अन्नाद्यम् अस्मै प्रयच्छेमापि धन्वन् अपो ऽधिगच्छेत् तथास्मै सर्वम् अन्नाद्यं प्रयच्छेमेति तथेति तस्योपपरासृत्य ज्याम् अपि जक्षुस् तस्यां छिन्नायां धनुरात्न्यौं विस्फुरन्त्यौ विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः ॥ ४ ॥ तद् धृङ्ङ् इति पपात तत् पतित्वासाव् आदित्यो ऽभवद् अथेतरः प्राङ् एव प्रावृज्यत तद् यद् धृङ् ङित्य्-अपतत् तस्माद् धर्मो ऽथ यत् प्रावृज्यत तस्मात् प्रवर्ग्यः ॥ ५ ॥

ते देवा अब्रुवन् महान् बत नो वीरो ऽपादीति तस्मान् महा-वीरस् तस्य यो रसो व्यक्षरत् पाणिभिस् सममृजुस् तस्मात् संराट् ॥ ६ ॥

तं देवा अभ्यसृज्यन्त यथा वित्तिं वेत्स्यमाना एवं तम् इन्द्रः प्रथमः प्राप तम् अन्वङ्गम् अन्युन्यपद्यत तं पर्यगृह्णात् तं परिगृह्येदं यशो ऽभवद् यद् इदम् इन्द्रो यशो यशो ह भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

स उ एव मखः स विष्णुस् तत इन्द्रो मखवान् अभवन् मखवान् ह वै तं मखवान् इत्य्-आचक्षते परोक्षं परोक्ष-कामा हि देवास् ताभ्यो वम्रीभ्यो ऽन्नाद्यं प्रायच्छन् आपौ ह वै सर्वम् अन्नं ताभिर् हीदम् अभिक्नूयम् इवादन्ति यद् इदं किं वदन्ति ॥ ८ ॥

अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त वसवः प्रातस्-सवनँ रुद्रा माध्यन्दिनँ सवनम् आदित्यास् तृतीय-सवनम् अग्निः प्रातस्-सवनं त्रिष्टुब् माध्यन्दिनँ जगती तृतीय-सवनं तेनार्वशीर्ष्णा यज्ञेन देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश् चेरुः ॥ ९ ॥

दध्यङ् ह वा आथर्वण एतँ शुक्रम् एतं यज्ञं विदाञ्चकार यथा यथैतद् यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवति सहेन्द्रेणोक्त आसै तं चेद् अन्यस्मा अनुब्रूयास् तत एव ते शिरश् छिन्द्याम् इति तद् उ हाश्विनोर् अनुश्रुतम् आस ॥ १० ॥

दध्यङ् ह वा आथर्वण एतँ शुक्रम् एतं यज्ञं वेद यथा यथैतद् यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवतीति तौ हेत्यूचतुर् उप त्वा यावेति किम् अनुवक्ष्यमाणाव् इत्य्-एतँ शुक्रम् एतं यज्ञं यथा-यथैतद् यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते तथैष कृत्स्नो यज्ञो भवतीति ॥ १२ ॥

शतपथ-ब्राह्मणे (दे. भा.) चरित्रस्य लेशतो ऽप्य् अप्रतीतिः ③

स होवाचेन्द्रेण वा उक्तो ऽस्म्य्-एतं चेद् अन्यस्मा ऽनुब्रूयास् तत एव ते शिरश् छिन्द्याम् इति तस्माद् वै बिभेमि यद् वै मे स शिरो न छिन्द्यान् न वा मपनेष्य इति तौ होचतुर् आवां त्वा तस्मात् त्रास्यावहे इति कथं मा त्रास्येथे इति यदा न उपनेष्यसे ऽथ ते शिरश् छित्त्वा ऽन्यत्रापनिधास्यावो ऽथाश्वस्य शिर आहृत्य तत् ते प्रतिधास्यावस् तेन नाव्-अनुवक्ष्यिसे स यदा नाव्-अनुवक्ष्यस्यथ ते तद् इन्द्रः शिरश् छेत्स्यत्यथ ते स्वगँ शिर आहृत्य तत् ते प्रतिधास्याव इति तथेति तौ होपनिन्ये तौ यदापिन्न्ये ऽथास्य शिरश् छित्त्वा न्यत्राप निदधतुर रथाश्वस्य शिर आहृत्य तद् धास्य प्रतिदधतुस् तेन हाभ्याम् अनूवाच स यदाभ्याम् अनूवाचाथास्य तद् इन्द्रः शिरश् चिच्छेदाथास्य स्वगँ शिर आहृत्य तद् धास्य प्रतिदधतुः ॥ २२ ॥ तस्माद् अप्य्-एतद् ऋषिणाभ्यनूक्तं दध्यङ् ह यन् मध्व्-आथर्वणो वाम् अश्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीम् उवाचेत्य्-अथ तद् उवाचेति है वै तद् उक्तम् ॥ १३ ॥"

इति श्रूयते ॥

अत्र शक्तेस् तत्-प्रार्थनायास् तद्-अनुग्रहस्य च लेशतो ऽपि प्रतीतिर् नास्ति । विष्णोर् अश्व-शिरः-सन्धान-कथैव नास्ति । दध्यङ्-ऋषेः खल्व्-अश्व-शिरस्-सन्धानम् अत्र प्रतिपाद्यते । दीक्षणीयार्थवादे तैत्तिरीय-प्रवर्ग्यार्थवादे ऽपि विष्णु-शब्दस्य यजमान-परतायाः, सायण-भाष्य-निर्णीत-दिशा अत्रापि प्रवर्ग्यार्थवादे विष्णु-शब्दः यजमान-परः । हरिवंशाद्य्-उक्त-दिशा गौण-प्रादुर्भाव-परो वा इति पूर्वम् एव निरूपितम् । हयशिरुपाख्याने चात्र नारायण-शब्देनोपक्रम्य 'विद्या-सहायवान् देवः' इत्याद्य्-उक्त्या सर्व-विद्याधिदेव्या वाण्याः पतिर् नारायणः प्रतिपादित इति स्फुटं विदुषाम् । तेन च ब्रह्मवैवर्त-वचनैकार्थ्य-बोधनेन ब्रह्मवैवर्ते च नारायणाभिन्नस्य कृष्णस्यैव विभूतित्वं शक्तेः प्रतिपादितम् इति तद्-अनुग्रहेण विष्णोर् अश्व-शिरो लाभो न कथञ्चिद् अप्य्-उत्प्रेक्षा-पदम् अर्हति इति व्यासेनैव निर्धारितं भवति । मत्स्यावतार-वृत्तान्तो बहुषु पुराणेषु अनेकरूप एव दृश्यते ।

(ना. आ.) व्यासोक्तिर् इत्यैव शङ्कराचार्यैः हयग्रीव-वृत्तस्य (वि. स. भा.) उक्तिः®

तत्र क्वचिच् छेष-पूरणेन तद्-असम्भवे कल्प-भेदेन वा व्यवस्था कार्या । देवीभागवत-व्यितिरक्तार्ष-प्रबन्धेषु सर्वत्र हयशिरो ऽवतारो वेदाहरणार्थं भगवता परिकल्पित इति प्रतिपादनेन देवीभागवत-मात्रे देव्युपासनर्या फल-लाभार्थं प्रयतमानानां प्ररोचनार्थम् एव हयशिरो-वृत्तान्त-भेदः । देवीभागवते एव नवम-स्कन्धे ब्रह्मवैवर्त-सिद्धान्तस्यैव प्रतिष्ठापनेन शक्ति-विशिष्ट-नारायणाभिन्न-कृष्णस्य परत्व एव परमं तात्पर्यम् । पूर्वोक्त-हयशिरो-वृत्तान्त-पर-पञ्चमाध्यायस् तु शक्ति-प्रशंसार्थो ऽर्थवाद इति न तत्र तात्पर्यम् इति सुधीभिर् विभावनीयम् । अत एव शङ्कराचार्येर् विष्णु-सहस्रनाम-भाष्ये तीर्थ-कर-नाम-विवरणे 'हयग्रीव-रूपेण मधु-कैटभौ हत्वा विरिञ्चाय सर्गादौ सर्वाः श्रुतीर् अन्याश् च विद्या उपदिशन्' इत्य-अनेन अत्र हयशिरुपाख्याने व्यासेन प्रदर्शितो हयशिरो ऽवतार-वृत्तान्तः प्रकाशितः । देवीभागवतोक्तः हयशिरो-वृत्तान्तस् तु न क्वापि शङ्कराचार्यादिभिः प्राचीनैः प्रामाणिकैर् विद्वद्भिर् आदृतः । अत एव रसगङ्गाधर-कृता पाण्डित्य-वीरो यथा –

अपि वक्ति गिरां पतिस् स्वयं यदि तासाम् अधिदेवतापि वा । अयम् अस्मि पुरा हयानन-स्मरणोल्लङ्घित-वाङ्मयाम्बुधिः ॥ इति ॥

हयग्रीवस्य सर्व-विद्याधिदेव-श्रेष्ठत्व-प्रतिपादनेन वेदाहरणाद्य्-अर्थम् अवतार इत्य्-अर्थस्य बहु-प्रमाण-सिद्धस्यैव प्रख्यापनं कृतम् । अत एव च लोके हयग्रीवस्य विद्याधिदेव-श्रेष्ठत्व-निश्चयेनैव सर्वत्र बहुभिः पुरुषैर् आराधानादिकम् अनुष्ठीयते । तेन च (वि. ध. उ. १ खं – १६ अ.) भारतोक्त-दिशा हयग्रीवावतार-चरितम् अभिधाय 'विद्या-कामो ऽश्व-शिरसम्' (वि. ध. उ. ३– १२१ अ.) इत्य्-आद्य्-उक्त-दिशा फलम् अप्य्-अनुभूयते इत्य्-औपनिषद-हयग्रीव-मन्त्रानुमन्त्र-निष्ठानाम् अनुभव-सिद्धो ऽयम् अर्थ इति नात्र कस्यचिद् विवादस्यावसरः ।

व्यासोक्तौ प्रमाण-संप्रदाय-सिद्धार्थ-संग्रहः ③

अत्रायं प्रमाणं सम्प्रदाय-सिद्धार्थ-सङ्ग्रहस् सुधीभिर् अवसेयः । हय-शिरो-निरूपणावसरे व्यासेन 'विद्या-सहायवान् देवः' (ह. उ. १८), 'एको विद्या-सहायस् त्वम्' (ह. वं ३-७२), 'अन्तस्थं सर्व-भूतेषु चरन्तं विद्यया सह' (ह. वं ३-१८-२७) इत्य आदिना विद्या-सहाय एव हय-शिरा मध्-कैटभ-हन्ता ब्रह्मणे वेद-प्रदाता चेत्य्-उक्तम् । एवम् एव 'विद्या-सहायवन्तं माम् आदित्यस्थम्' (ना. आ. ६-६१) इत्य्-आदित्यस्थो ऽपि विद्या-सहायो वासुदेव इत्य्-अभिहितम् । 'नमस् सवित्रे' (वि. प्. ३-५-१५), 'ध्येयाय विष्णु-रूपाय' (१७), 'इत्य्-एवम् आदिभिस् तेन स्तूयमानस् स वै रविः । वाजि-रूप-धरः प्राह व्रीयताम् इति वाञ्छितम् ।' (वि. पु. ६-४-२५) 'यजूंषि यैर् अधीतानि तानि विप्रैर् द्विजोत्तमः । वाजिनस् ते समाख्यातास् सूर्यो ऽप्य्-अश्वो ऽभवद् यतः' (वि. पू. ३-५-२८) 'शाखा-भेदास् तु तेषां वै दश पञ्च च वाजिनाम् । काण्वाद्यास् सुमहाभागा याज्ञवल्क्याः प्रकीर्तिताः ॥' (२९) इति पराशरेण 'स इद् अग्निः कण्वतमः कण्व-संखा' (ऋ. वे. १०-११५-५) 'वाजिन्तमाया' (६) इति ऋग्वेदे कण्व-प्राचार्यस्य 'घर्मा समन्तात त्रिवृतं व्यापतुः' (ऋ. वे. १०-११४-१) 'यावद् ब्रह्म विष्टितं तावती वाक्' (ऋ. वे. १०-११४-८) इत्य्-अव्यवहित-पूर्व-सूक्ते वाग्-देवी-ब्रह्म-रूप-घर्म-शब्दार्थ-प्रतीत्य्-अनुसार्यतिशयित-वाजित्व-तात्पर्य-वर्णन-पूर्वकम् 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (बृ. ८-५-३) इति बृहदारण्यक-श्रुति-तात्पर्यं निर्णीतम् । एतेन 'आदिद् गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः' (तै. सं. वा. सं वि. सू.) इत्य्-उदाहृत-श्रुतौ वाजसनेयक-काण्व-संहिता-भाष्ये सायणाचार्यैर गोः-वाचः धारियता इति गन्धर्व-शब्दार्थ-विवरणेन गन्धर्व-शब्दार्थः 'वाचस्पतिं विश्व-कर्माणम' (तै. सं. वा. सं वि. सू.) इति अव्यवहित-सूक्तोक्त-वाचस्पतिर् एवेति पूर्वोक्तार्थस् सुस्थः ।

मत्स्य-कूर्म-वराहाश्च-सिंह-रूपादिभिः स्थितिम् । चकार जगतो यो ऽजस् सो ऽद्य माम् आलयिष्यति ॥ (वि. पु. ५-१७-१०)

गन्धर्वः आदित्यः हंसः हयशिरा एवेति साधनम् ③

इत्य्-अत्र नृसिंह-पर-सिंह-शब्द-समिभव्याहारेण अश्वः अश्व-शिराः विविक्षित इति बोधयतः पराशरस्य याज्ञवल्क्याय शुक्ल-यजुर्वेदोपदेष्टा अश्वो ऽपि अश्व-शिरा इत्य्-आशयः स्फुटो निर्मत्सराणां विदुषाम् । श्री-भागवते ऽपि 'मत्स्याश्व-कच्छप-वराह-नृसिंह-हंस-राजन्य-विप्र-विबुधेषु कृतावतारः (१०-९-४३) इत्य्-अत्राश्वः 'विष्णुश् शिवाय जगतां कलयावतीर्णस् तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये' (११-४-१७) इति वक्ष्यमाणो हयास्य एवेति बोध्यम् । 'पुनश् च पद्मा-सम्भूताह्य् आदित्यो ऽभूद् यदा रविः' (वि. पु. १-९-१४३) इत्य्-आदित्यस्य लक्ष्मी-पितत्वं पराशरेणोक्तम् । तेन च लक्ष्मी-पितर् एवाश्वो ऽत्र विविक्षितः । 'हृषीकेशस् स भगवान् पद्मया सह विद्यया । अपस्व-एव शयनं चक्रे योग-निद्राम् उपागतः ॥' (ल. तं. ५-३०) 'विद्या-सहायवन्तं माम् आदित्य-स्थम्' (ना. आ.) इति लक्ष्मी-तन्त्राद्य्-अनुसारेण पद्मा विद्यैवेति विद्या-शब्दित-

वाग्-देवी-पतिर् एव शुक्ल-यजुर्वेदोपदेष्टा अत्रापि विविधतः । 'विवस्वते ऽश्वशिरसे चतुर्-मूर्ति-धृते नमः' (ना. आ. ८-१०४) इति व्यासः आदित्यो हय-शिरा इति स्फुटं प्रतिपादयित । 'सर्व-विद्याधिदेवी या तस्यै वाण्यै नमो नमः ।' (ब्र. वै. २) 'महा-विद्या महा-वाणी भारती वाक् सरस्वती' (ल. तं. ४-६७) इति ब्रह्मवैवर्त-लक्ष्मी-तन्त्रोक्त-दिशा 'विद्या-सहाय' इत्य्-आदौ विद्या-शब्देन वाग्-देव्या बोधनेन ब्रह्मणो वेदानाम् उपदेष्टा याज्ञवल्क्यस्य शुक्ल-यजुर्वेदानाम् उपदेष्टा च वाग्-देवी-पतिर् हय-शिरा इति व्यासस्याशयः प्रतीयते ।

अमर-सुधोदाहत-मेदिनी-कोशे हंस-शब्दस्य विष्ण्व्-अर्क-तुरङ्गमप्रभेदार्थकतायाः स्फुटम् उक्त्या 'एको हँसो भुवनस्य मध्ये स एवाग्निस् सिलले सिन्निविष्टः' (श्वे. उ. ६-१५) इति श्रुतौ उभाव् उपदेष्टारौ विविक्षितौ । तद्-उत्तरं 'ज्ञः काल-कालो गुणी सर्व-विद्यः', 'यो ब्रह्माणं विदधातिपूर्वं यो वै वेदांश् च प्रहिणोति तस्मै' इत्य्-आद्य्-उक्तेः । 'अहं हय-शिरा भूत्वा' इत्य्-उत्तरं दशावतारान् निरूप्य 'हंसः कूर्मश् च मत्स्यश् च' इत्य्-आदिना (ना. आ.) हंस-घटित-दशावतार-निगमने हंसः हय-शिरा इति बोधितम् । तद्वत् 'एको हँसः' इत्य्-अत्रापि हंसः हय-शिरा एव । स एव सिलले-सिन्निविष्टो ऽग्निः विविक्षितः प्राक् (२६० पुटे) उदाहृत-वचनानुसारात् । 'महिदासामिधो जज्ञे इतरायास् तपो-बलात् ।

श्वेताश्वतरेत्य् अत्र श्वेताश्वेन तरतीति व्युत्पत्ति-वर्णनम् ③

साक्षात् स भगवान् विष्णुर् यस् तन्त्र वैष्णवं व्यधात् ।' (आ. सू. भा. १-१-३१) इति ब्रह्माण्डोक्त्या वैष्णव-तन्त्र-प्रवर्तक-महिदास-प्रवर्तिते 'ऋग्वेद-पाठ-पठितं व्रतम एतत सुदश्चरम' (शा. मो. ३५८-२२) इति सात्वत-धर्म-परत्वेन निर्णीत-ऋग्वेदान्तर्गते शौनकोक्त-ऋग-विधान-विष्णु-धर्मोत्तरयोर वाग्मित्व-संपादने विनियुक्तस्य जगत-स्रष्टत्वादि-निरवधिक-महिम-वाग-देवी-प्रतिपादकस्य 'अहं रुद्रेभिः' (ऋ. १०-१२५) इत्याद्य-अष्टर्च-वाक्-सूक्तस्याव्यवहित-पूर्व-सूक्ते 'बीभत्सूनां सयुजं हंसम् आहर् अपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम् । अनुष्टुभम् अनुचञ्चूर्यमाणम् इन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा' इति मन्त्रं प्रस्तुत्य 'वाचि वै तद् ऐन्द्रं प्राणं न्यचाय्यन् इत्य्-एतद् उक्तं भवति' इत्य्-ऐतरेय-द्वितीयारण्यके उक्त्या वाग्-देवी-संश्लिष्टः प्राणः हंसो हय-शिरा हयग्रीवानुष्ट्रप्-प्रतिपाद्यस् तत्र विवक्षित इति निर्णय-सम्भवात् । शुक्ल-यजुर्वेदोपदेष्टुः सूर्यस्य प्राक् (४०) सात्वत-प्रवर्तकत्वस्य, तद्-उक्त-विधिना उपरिचरवसोर् धर्मानुष्ठानस्य सात्वतापर-पर्याय-पञ्चरात्र-प्रामाण्यस्य च निरूपणानन्तरं रहस्याम्नायादौ प्रसिद्ध-विद्या-शब्द-निर्देश-पूर्वकं हय-शिरो-वृत्तान्त-वर्णनेन पञ्चरात्र-प्रसिद्ध्य-अनुसारेणार्थ-निर्णयस्यैव स्व-संमतत्व-सूचनेन 'अथ हंस-मनुं वक्ष्ये' इत्य् उपक्रम्य 'हयग्रीवम् अहं वन्दे सरस्वत्या समन्वितम्' (वि, ति.) इति ध्यानोक्त्या 'हंसो हय-शिरा हरिः । वेदोपदेश-समये मां विबोध्योपदिष्टवान् । अङ्केनोदूह्य वाग्-देवीम् आचार्यकम् उपाश्रितः ।' (पं. रा, सं, हं, स, स. न. अ) इत्य्-उक्त्या च तद्-अनुसारेण हंस-शब्दार्थस्य व्यास-संमतत्व-निश्चयात् । तद्-उत्तरं 'तपः-प्रभावाद् देव-प्रसादाच् च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरो ऽथ विद्वान्' (श्वे, उ.) इत्य्-अत्र 'मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः' (श्वे, उ. २-४), 'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः' (श्वे, उ, २-५), 'ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि' (श्वे, उ, २-८) इति पूर्वोपदर्शित-दिशा श्वेताश्वेन वाग्-देवी-संश्लिष्टेन ब्रह्मणा उडपेन भयावहानि

स्रोतांसि तरतीति श्वेताश्वतर इति शब्दस्यार्थ इति निर्मत्सराणां स्फुटं प्रतीतेश् चेति व्यासस्याशयः ।

(बृ. उ. ६-४-१८) हयशिरश्-शक्तिः (३-४-१) हयशिराः इत्य् उभयं विवक्षितम्®

बृहदारण्यकोपसंहारे 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितः' (बृ, उ. ६-४ - १८) इत्य् आदिना पण्डित-पुत्रार्थ-कर्म-निरूपणावसरे 'अथास्य दक्षिणं कर्णम् अभिनिधाय वाग् वाग् इति त्रिः' (२५) इत्य-अत्र 'यस् ते स्तनश् शशयः - सरस्वति तम् इह धातवे कर् इति' (२७) इत्य्-अत्र वाचः सरस्वत्याश् च पाण्डित्य-संपादकत्वस्य स्फुटतया 'नैवेह किञ्चिद् अग्रे आसीत्' इत्याद्य्-उपक्रमे अनिरुद्धान्त-सृष्टेर् व्यासार्य-विवरणम् अनुसृत्यैव प्राक् (२५० पु.) उपपादित-दिशा विवक्षिततया 'स एषो ऽप्सु प्रतिष्ठितः' इत्य्-उक्तस्याप्सु प्रतिष्ठितस्यैव 'स तया वाचा तेनात्मना इदँ सर्वम् असुजत यद् इदं किञ्च ऋचो यजूँषि सामानि छन्दाँसि यज्ञान् प्रजाः पशून्' (ब्र, ३-२-५) इत्य-अत्र सर्व-स्रष्ट्रत्वोक्तौ वाक् अनिरुद्ध-शक्तिः सर्व-विद्याधिदेवी विवक्षितेति 'ततो भूयो जगत्-सृष्टिं करिष्यामीह विद्यया' (ना, आ, ६-७३) इति वचन-सन्दर्भे स्फुटं व्यासेन प्रतिपादितम् । 'सो ऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेय' इत्य्-अनन्तर-श्रुतौ हय-शिरो⁻देवताको यज्ञो विवक्षित इति प्राक् (२५२ पुटे) निरूपितम् । तद्-उत्तरम् 'आत्मैवेदम् अग्रः आसीत् पुरुष-विधः सो ऽनुवीक्ष्य नान्यद आत्मनो ऽपश्यत् सो ऽहम् अस्मीत्य्-अग्रे व्याहरत् ततो ऽहं नामा ऽभवत् ।' (बृ, ३-४-१) 'सो ऽबिभेत् तस्माद् एकाकी बिभेति सहायम् ईक्षाञ्चक्रे यन् मद्-अन्यन् नास्ति कस्मान् न् बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय' (२) । इत्य्-अत्र 'ततो ऽहं नामा ऽभवत्' इत्य्-अन्त-वाक्यस्य प्राक् (२५१ पुटे.) उदाहृत-व्यासार्य-सूक्तिम् अनुसृत्य हय-शिरो ऽवतारो विवक्षितः । श्रुताव् अयम् एवार्थो ऽभिप्रेत इति एतद्-उपाख्याने 'अहङ्कार-कृतं चैव नाम पर्याय-वाचकम्' इत्यादिना व्यासो निरधारयत् । अत्र एकाकित्वम् – असहायत्वम् तद् एव भय-हेतुः । 'सहायम् ईक्षाञ्चक्रे' इत्य्-अत्र सहाय-साक्षात्कारो भय-निवृत्तौ हेतुतया विवक्षित इति व्यासस्याशयः । अत एतच्-छ्रति-सन्दर्भो हय-शिरो ऽवतार-पर एव । एवं चतुर्थे शिशु-ब्राह्मणम् (२) अपि । अत्र शिशु-शब्दो ऽनिरुद्ध-परः।

> अहं नारायणो नाम शङ्ख-चक्र-गदाधरः । अशिशुश् शिशु-रूपेण यावद् ब्रह्मा न बुध्यते ॥ (म. भा. वन. १९२-४१६)

(बृ. उ. ४-२-७) शिशु-ब्राह्मणस्य हयशिरः परता③

इति मार्कण्डेयं प्रति भगवद्-उक्तेः —

पश्यामि जल-मध्यस्थं विपुले वट-पादपम् । पर्यङ्के तत्र पश्यामि बालं कमल-लोचनम् ॥ (वि. ध. १-७८-११) पूर्णे युग-सहस्रे ऽपि तम् एवाहं तदा शिशुम् । संप्राप्तश् शरणं राजन्न् अहं भाव्य्-अर्थ-चोदितः ॥ (२२) कल्प-क्षये व्यतीते तु तं तु देवं पितामहम् । अनिरुद्धं विजानामि पितरं ते जगत्-पतिम् ॥ (७९—३)

इति मार्कण्डेयेन वज्रं प्रत्युक्तेश् च । एवं मार्कण्डेयेन 'एकार्णवे पुरा लोके' (१-१५-५) इत्य् आदिना वेदाहरणार्थं हय-शिरो-ऽवतारम् अभिधाय 'तथा ऽश्वशिरसं देवं विद्या-कामस् तु पूजयेत् ।' (वि. ध. ३-१९८-५) इति तस्य कामार्चनीयत्वम् अप्य् उक्तम् । एवं च शिशु-शब्दस्य अनिरुद्ध-परतया 'यथेदं तच् छिरः' इत्य् अत्र हय-शिरो विवक्षितम् । एतद् एवाभिप्रेत्य भट्टार्यैः 'तच्छिरः' इत्य्-अस्य हय-शिरः-परत्वोक्तिर् इति पूर्वम् एव (२८८ पुटे) निरूपितम् । 'वागष्टमी ब्रह्मणा' इत्य्-अत्र ब्रह्म-शब्दार्थः हयशिरो-रूप-धारी अनिरुद्धः । वाक्-शब्दार्थस् तच् छक्तिर् वाग्-देवी । हय-शिरो-ऽनुग्रहेण 'सप्त ह द्विषतो भ्रतृत्यान् अवरुणद्धि' इत्य् अत्र शत्रु-भूत-सप्तेन्द्रिय-जयो विवक्षितः । पूर्व-ब्राह्मणान्ते 'य एष विज्ञान-मयः पुरुषस् तद् एषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय' (बृ. ४-१-१७) इत्य् उपक्रम्य 'स यथा महाराजो जन-पदान् गृहीत्वा स्वे जन-पदे यथा-कामं परिवर्तेत, एवम् एव एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथा-कामं परिवर्तेत' (बृ. ४-१-१८) इत्य्-अत्र महाराजवत् इन्द्रियेषु स्वातन्त्र्यं जीवस्योक्तम् । सुषुप्तेः प्राग् इव 'एतस्माद् आत्मनस् सर्वे प्राणा व्युच्चरन्ति' (२०) इत्य्-उक्त-प्रबोधे ऽपि इन्द्रियेषु जीवस्य स्वातन्त्र्यं प्राप्तम् । तच्चानुभव-विरुद्धम् बहूनाम् इन्द्रियाणां प्रतिकूलत्वात् ।

शिशु मधु ब्राह्मणद्वयैकरस्यम् ③

इति शङ्कापनोदनाय शिशु-ब्राह्मणम् आरब्धम् । चतुर्मखस्य वेदाहरणादिना इन्द्रियानुकूल्यं सम्पाद्य तत्-सृष्टौ पूर्ववत् प्रवर्तयतः हय-शिरो-रूप-धारिणो ऽनिरुद्धस्यानुग्रहेण इन्द्रिय-जयेनानुकूल-ज्ञानं मनुजानाम् अपीति शिशु-ब्राह्मणेन प्रकाशितं भवति । मधु-ब्राह्मणे च 'स वा अयम् आत्मा सर्वेषां भूतानाम् अधिपतिस् सर्वेषां भूतानां राजा तद् यथा रथ-नाभौ च रथनेमौ चारास् सर्वे समर्पिता एवम् एतस्मिन्न् आत्मिन सर्वाणि भूतानि सर्वे देवास् सर्वे लोकास् सर्वे प्राणास् सर्व एत आत्मनस् समर्पिताः' (बृ. ४-५-१५) इत्य्-अत्र 'एवम् एतस्माद् आत्मनः – व्युच्चरन्ति' इत्य्-अत्र व्युच्चरणाविधित्वेन प्राग्-उक्तस्य महाराजत्वं तत्रैव व्युच्चरण-कर्तृत्वेन प्राग्-उक्तानां सर्वेषां प्राण-देव-लोक-भूतात्मनां समर्पितत्वं चाभिधाय जीवानां तत्-पारतन्त्रयं स्थिरीकृतम् । व्युच्चरण-समर्पण-श्रुत्योर् अनयोर् ऐकरस्यं पर्यालोच्यैव 'एवम् एतस्माद् आत्मनः' इत्य्-अत्र द्रमिड-भाष्य-कार-प्रदर्शित-राज-कुमार-नयस् सम्प्रदाय-विद्धिर् उक्तः । अयम् अर्थः शङ्कर-भाष्ये स्फुटः । राजत्वं परमात्मनो यत्रोक्तं तत्रैव परमात्मिन सर्व-जीवानां समर्पितत्वोक्त्या जीव-परयोर् भेद एव श्रौत-सिद्धान्त इति द्रमिडाचार्याशयः स्फुटो निर्मत्सराणां विदुषाम् । एतद्-अनन्तरं परमात्मनः पुरु-रूपत्वं सर्वानुभव-विषयत्वं चोक्तम् । तेन च परस्य रूपानन्त्यं भक्तानुग्रहार्थम् इति सिद्ध्या प्राग्-उक्त-हय-शिरो-रूपस्यापि इन्द्रिय-जयार्थि-भक्तानुग्रहार्थत्वं स्थापितं भवति । षष्ठान्ते मैत्रेयी-ब्राह्मणे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः', इत्य्

उपक्रम्य 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदस् सामवेदः' इत्याद्य्-उक्तौ सर्व-स्रष्टृत्वम् आत्मनः 'स तया वाचा तेनात्मना इदँ सर्वम् असृजत' इति तृतीय-श्रुत्य्-उक्त-दिशा वाग्-देवी-सहितस्यैव विवक्षितम् इति बोध्यम् ।

ऐतरेयतृतीयारण्यकोपान्त्यखण्डे हयशिरश्-शक्तेर् अन्त्यखण्डे हयशिरसश् च विवक्षा®

एवम् एवैतरेयारण्यकोपनिषद् अपि हय-शिरश्-शक्तेर् वाग्-देव्या हय-शिरसश् चानुग्रहेण भक्तानां फलं प्रतिपादयति । तथाहि – तृतीयारण्यकोपान्त्य-खण्डे 'अथ खल्व्-इयं सर्वस्यै वाच उपनिषत् सर्वा ह्य-एवेमा सर्वस्या वाच उपनिषद इमं त्व्-एवाचक्षते' इत्य् उपक्रम्य 'अथ खल्व्-इयं दैवी वीणा भवति तद्-अनुकृतिर् असौ मानुषी वीणा इत्य्-आदिना 'स यो हैतां देवीं वीणां वेद । श्रुत-वदनो भवति । भूमि-प्रास्य कीर्तिर् भवति यत्र क्व चार्या वाचो भाषन्ते विदुर् एनं तत्र' इत्य्-अन्तेन वाग्-देवी-वीनोपासनस्य सर्व-जन-श्रोत्र-प्रियोक्तिः, भुवं पूरियत्री कीर्तिः, पण्डितानां भाषणावसरे मान्यता चेति फलम् अभिधाय 'अथातो वाग्-रसः यस्यां संसद्य धीयमानो वा भाषमाणो वा न विरुरुचुषेत तत्रैताम् ऋचं जपेत् । 'ओष्ठापिधाना न कूली दन्तैः परिवृता पविः । सर्वस्यै वाच ईशाना चारु माम् इह वादयेद् इति वाग्-रसः ।' इत्य्-अत्र "ओष्ठापिधाना" इत्य्-आदि हयग्रीव-मन्त्रानुमन्त्र-जपस्य विद्वत्-सदिस सर्व-रञ्जक-वाक्-सिद्धि-रूपं फलम् अप्य-अभिहितम् । तद्-अनन्तर-खण्डे 'अथ हा स्मा एतत् कृष्ण-हारीतो वाग्-ब्राह्मणम् इवोपोदाहरति प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा व्यस्रंसत संवत्सरः स छन्दोभिर् आत्मानं समद्धाद् यच् छन्दोभिर् आत्मानं समदधात् तस्मात् संहितेति तस्यै वा एतस्यै संहितायै ण-कारो बलं ष-कारः प्राण आत्मा । स यो हैतौ ण-कार-ष-काराव् अनुसंहितम् ऋचो वेद स-बलां स-प्राणां संहितां वेदायुष्यम् इति विद्यात्' इत्य्-आदिना 'एतद्ध स्म वै तद् विद्वांस आहुर् ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयम् अध्येष्यामहे किम्-अर्था वयं यक्ष्यामहे वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणे वा वाचं यो ह्य-एव प्रभवस् स एवाप्ययः' इत्य्-अन्तेन हय-शिरो-ऽवतार-प्रयोजन-कथन-पूर्वकं विष्णु-जिष्णु-कृष्ण-वाक्-प्राण-संहिता निरूपिताः । अत्र संवत्सर-प्रजापति-शब्दौ चतुर्मुख-परौ । छन्दश्-शब्दो वेद-परः । विस्रंसन-निमित्तं च मधु-कैटभाभ्यां वेदानाम् अपहारः । हयग्रीवानुग्रह-लब्ध-वेदैश् चतुर्मुखस्यात्म-सन्धानम् इति विवक्षितम् । (पूर्वम् ऐतरेयारण्यके ३-२-२) 'प्राण ऊष्म-रूपम्' इति प्राग्-उक्तार्थ एव 'प्राण आत्मा' इत्य्-अत्र प्राण-शब्दार्थ इति सायणीये उक्तम् । वस्तुतस् तु

श-ष-स-हा अनिरुद्धाद्या विज्ञेयास् त्रिदशेश्वर ॥ (ल. तं. १९-१७) वासुदेवाख्यया हो ऽभूत् साख्यः सङ्कर्षणोदयः । प्रद्युम्नष् षाख्ययाज्ञेयो ह्य्-अनिरुद्धस् तु शाख्यया ॥ (ल. तं. १९-३२)

ऋग्वेदे "यदद्मवदन्ति" इत्यत्र हयशिरश्-शक्तिः "सखे विष्णो" इत्यत्र हयशिराः® इत्य-उक्त-दिशा प्राण-शब्दस्य अनिरुद्धादि-वासुदेवान्त-व्युहो ऽर्थः । स एव हय-शिरा 'वाचि हि प्राणं जुहमः' इत्य-अत्र विवक्षितः, प्राग-उक्त-हयग्रीव-मन्त्रानुमन्त्रानुसारात । 'ण-कारो बलम' इत्य-आरभ्य 'तद् एव विष्णुः कृष्णेति जिष्णुर् इत्यभिधीयते' इति प्रांक् (२५६ पुटे) उदाहृत-वृद्ध-हारीत-स्मृति-वचनानुसारेण विष्णु-जिष्णु-कृष्ण-संहिता अत्र विवक्षिताः । हय-शिरो-ऽनगृहीत-वेदैः चतुर्म्खस्यात्म-सन्धानान्तरं विष्णु-जिष्णु-रूपाभ्यां मधु-कैटभ-वधः कृत इति (वि. ध. उ. १-१६) अन्यत्रोक्त्या 'प्राण आत्मा' इत्य-अत्रापि हय-शिरा विवक्षितः । 'अस्य वामस्य' (ऋ, वे. मं. १ स्. १६४) इति सुक्ते ३६ मन्त्रे विष्णु-शब्दः ४७ मन्त्रे कृष्ण-शब्दश च पठितः । 'गौरीर् मिमाय' (मन्त्र ४१) इत्य्-आदिर् हयग्रीव-मन्त्रानुमन्त्रश् च 'चत्वारि वाक्' (मन्त्र ४६) इत्यादिः आश्वलायन-दश-श्लोकी-घटकः 'यस् ते स्तनः' (मन्त्र ४९) इत्य्-आदिर् बृहदारण्यकोपसंहार-मन्त्र-सजातीयश् च पठितः । आश्वलायन-दश-श्लोक्यां 'यद् वाग् वदन्ति' (ऋ. सं मं ८ सू. १०० मन्त्र १०) इत्य-आदेर् हयग्रीव-मन्त्रानुमन्त्रस्य घटकतया 'देवीं वाचम्' इति तद्-अनन्तर-मन्त्रवद् अन्येषाम् अपि दश-श्लोकी-घटकानां हय-शिरश्-शक्ति-परत्वम् एव युक्तम् । 'यस् ते स्तनः' इत्य्-आदेः पण्डित-पुत्र-लाभार्थ-कर्म-विनियोगस्य बृहदारण्यकान्ते स्फटतया सो ऽपि हय-शिरश्-शक्ति-पर एव । अत ऐतरेय-तृतीयारण्यकान्तिम-खण्डे विष्णु-जिष्णु-वाक्-प्राण-संहिता-त्रयं विवक्षितम् । बृहद्-रथन्तर-रूपेण वाक्-प्राण-संहिताम् (३-१-६) अत्रैव पूर्वम् अभिधाय 'तद् अप्य्-एतद् ऋषिणोक्तं रथन्तरम् आजभारा-वसिष्ठः - भरद्वाजो बृहद् आचक्रे अग्नेः' (ऋ. सं. मं. १० सू. १८२ मन्त्र १-२) इति मन्त्र-खण्ड-द्वयं पठितम् । तत्र व्यूह-हयग्रीव-विवक्षा प्राग् एव (२६१ पुटे) साधिता । 'यद् वाग् वदन्ति' (हयग्रीव-मन्त्रान्मन्त्रः) 'देवीं वाचम्' इति मन्त्र-द्वयानन्तरं 'सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व' (ऋ. सं. ८-३-१२) (२६१ पुटे) इति प्राग्-उदाहृत-वृत्र-हनन-प्रार्थना-मन्त्रे विष्णुर्-हय-शिरो-रूप-धारी अनिरुद्धो विवक्षितः । वृत्र-युद्ध-प्रसङ्गे वसिष्ठेन रथन्तरेण प्रतिबोधितस्येन्द्रस्य वृत्र-बाधानिवृत्ति-प्रतिपादकस्याश्वमेधिक-(११-१७) शान्ति-पर्व- (२१७-२१) वचन-द्वयस्य 'बीभत्सवो अप-वृत्राद अतिष्ठन' इति मन्त्र-घटितस्य वाक्-सूक्ताव्यवहित-पूर्वस्य हंस-पद-घटित-सूक्तस्य प्राग्-उक्त-वाक्-प्राण-संहितायाश चैकरस्यात ।

(बृ. उ.) मधुविद्यायां हयग्रीव-ब्रह्मविद्यात्वम् ③

एतेन 'अथाब्रवीद् वृत्रम् इन्द्रो हिनष्यन् सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व' (ऋ. सं. ४-१८-११) (तै. सं. ३-२-११-३) इत्य्-अत्र विष्णु-शब्दो ऽपि व्याख्यातः । वाग्मित्वार्थं प्रातर्-जप्यत्वेन शौनकेनोक्त 'प्रणो देवी सरस्वती' इति (आश्व) दश-श्लोकी-मन्त्र-घटिते सारस्वत-सूक्ते (६-६१) वृत्र-हन्तृत्वं हय-शिरश्-शक्तेस् सरस्वत्या उक्तं प्रेरणानुमित-द्वारकं पित-पत्न्य्-उभयानुग्रह-मूलकत्वेन सरस्वत्य्-अनुग्रह-मूलकं ज्ञेयम् । यद्य्-अपि दध्यङ्-ऋषि-प्रार्थनया तद्-दत्ताङ्ग-निर्मितायुधेनेन्द्रेण वृत्र-वधः कृत इति तत्र-तत्रोक्तम् । तथापि 'विष्णुश् च भगवान् देवः', 'ऐन्द्रं समविशद् वज्रम्' इति (२५२ पुटे) प्राग्-उदाहृते (शान्तिपर्व २७८-३१) वचने वज्रे विष्णु-प्रवेशेनैव वृत्र-वधोक्त्या तत्र विष्णु-शब्दस्य प्राग्-उक्त-श्रौत-विष्णु-शब्द-समानार्थकतया दध्यङ्-ऋष्य्-अङ्ग-निर्मित-वज्रस्यापि स्वतो वृत्र-हनन-शक्तिर् नास्ति किन्तु हय-शिरस्-सम्बन्धेनेति स्फुटम् । एवं -

दध्यङ्ङ् आथर्वणस् त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम् । विश्व-रूपाय यत् प्रादात् त्वष्टा यत् त्वम् अगास् ततः ॥ (भाग ६-१२, ५३)

युष्मभ्यं याचितो ऽश्विभ्यां धर्मज्ञो ऽङ्गानि दास्यति । ततस् तैर् आयुध-श्रेष्ठो विश्व-कर्म-विनिर्मितः ॥ (५४)

इत्य्-अत्र दध्यङ्-ऋषेर् नारायण-वर्मोपदेष्टृत्वस्योक्त्या नारायण-कवचानुसन्धानं तस्य सिद्धम् । तेन दध्यङ्-ऋषेर् नारायण-कवचानुसन्धान-निबन्धन-शक्तिस् सूच्यते । सैव मूलं दध्यङ्-ऋषि-गात्रस्यापि । अत्र दध्यङ्ङ्-आधर्वणस् त्वष्टुर् विश्व-रूपस्य, विश्व-रूपाद् इन्द्रस्य नारायण-कवच-लाभोक्त्या मधु-ब्राह्मणे (बृ. आ.) 'त्वाष्ट्रं-कक्ष्यम्' इति पद-द्वयं विवृतं भवति । मधु-ब्राह्मणे आत्म-ब्रह्म-शब्दयोर् हय-शिरः-परतायाः प्राग्-उपपादनेन मधु-विद्याया हयग्रीव-ब्रह्म-विद्यात्वं सिद्धम् । मधु-विद्योपदेष्ट्रा दध्यङ्-ऋषिणोपदिष्टं त्वाष्ट्र-कक्ष्यम् अपि हयग्रीव-ब्रह्म-विद्या-रूपम् एव ।

विश्वकर्म-सूक्तद्वयस्य वाग्-देवीपति हयशिरः परता ③

अयम् अर्थः 'हयग्रीव-ब्रह्म-विद्या यत्र वृत्र-वधस् तथा' इति भागवत-लक्षण-प्रतिपादन-पर-पुराण-वचनेन सिध्यति । अत्र हयग्रीव-ब्रह्म-विद्या-नारायण-कवचम् इति क्रम-सन्दर्भाभिध-भागवत-व्याख्याने ऽप्य्-उक्तम् । अतो हय-शिरो-ऽनुग्रह एव वृत्र-वधे मूलम् इति सिद्धम् । वृत्र-वधे वाग्-देवी-पतेर् मूलत्वस्य श्रुति-सिद्धतया वृत्र-वधानन्तर-जित-ब्रह्म-हत्या-पापापनोदनार्थं 'इन्द्रो वृत्रम् अहन्' (तै. सं ५-४) इत्य्-आदिश्रुत्या विनियुक्ते विश्व-कर्म-सूक्ते (तै. सं. ४-६-२) (वा. सं. १७ अध्याये) द्वये ऽपि वाग्-देवी-पतिर् हय-शिराः प्रतिपाद्य इत्य्-ऐकरस्यम् । एतेन तैत्तिरीय-वाजसनेयकयोर् विश्व-कर्म-सूक्त-द्वय-पाठ-क्रम-व्यत्यासे ऽपि प्रतिपाद्यैक्येन तत्रोभयत्र पठिते 'विश्व-कर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारम् इन्द्रम् अकृणोर् अवध्यम्' इति मन्त्रे इन्द्रस्य वृत्रेणावध्यत्वम् अपि विवक्षितम् इति सिध्द्यति । सूक्तयोर् अनयोर् हय-शिरः-परता 'आदिद् गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः - वाचस्पतिं विश्व-कर्माणम्' इति (तै. सं. ४-६-२) (वा. सं. १७) सूक्त-द्वय-घटक-गन्धर्व-वाचस्पति-शब्दाभ्यां निश्चीयते । तत्र च 'या ते धामानि परमाणि' इति श्रुत्य्-उक्तानां परम-मध्यमा-वम-शरीराणां सर्वेषां 'इन्द्रो मायाभिः पुरु-रूप ईयते' इति बृहदारण्यक-श्रुतौ विवक्षितत्वे ऽपि उभयत्र निरतिशय-महिमवत्वेन प्रतिपादितस्य परम-शरीरस्य न कदापि छेद-शङ्का । तत्र 'अजस्य नाभाव् अध्य्-एकम् अर्पितं यस्मिन्न् इदं विश्वं भुवनम् अधिश्रितम्' इति न (सायण-भाष्योक्त-दिशा) ब्रह्माण्ड-परा अपि तु भगवन्-नाभी-कमल-परा इति -

अजस्य नाभाव् अध्य्-एकं यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम् । पुष्करं पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः ॥ (म. भा. शा. ४७-६२)

इति भीष्म-वचने व्यक्तम् । अयम् अर्थः श्री-यामुन-मुनि-प्रणीत-स्तोत्र-रत्न-भाष्ये १४ श्लोके स्फुटः । एवम् आनन्द-तीर्थीय-प्रथम-शारीरक-सूत्र-भाष्ये ऽपि । अत्राज-पदेन कर्म-कृत-जिनर् अनिरुद्धस्य नास्तीति बोधितम् । तद्-अनन्तरं 'विश्व-कर्मा ह्य्-अजिनष्ट देवः' इत्य्-अत्र चतुर्मुख-जिनर् उच्यत इति स्तोत्र-भाष्ये व्यक्तम् ।

उक्तार्थस्याचार्यपादसम्मतता "सुवर्णं धर्मम्" इत्य् आदेश् च (बृ.) उपनिषदेकार्थता च®

पूर्व-श्लोके (१३) स्तोत्र-रत्न-भाष्ये हय-शिर-उपाख्यान-वचनान्य्-उदाहृत्यात्र महाभारतस्थ-भीष्म-वचनेन 'अजस्य नाभौ' इत्यादि-श्रुत्य्-अर्थ-निष्कर्षं कुर्वताम् आचार्य-पादानाम् 'आदिद् गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः' इत्य्-अत्र हय-शिरो-ऽवतारो विवक्षित इत्य्-आशयः स्फुटो निर्भत्सराणां विदुषाम् । 'विश्व-कर्मा ह्य्-अजनिष्ट' इति पूर्ववद् अनभिधाय 'गन्धर्वो ऽभवत्' इत्य्-उक्त्या हयशिरसो न कर्म-कृता जिनः किन्तु अनिरुद्धस्य 'या ते धामानि परमाणि' इत्य्-उक्त-दिशा स्वेच्छा-मूलक-परम-शरीर-सम्बन्धेन हय-शिरो-ऽवतार इति निश्चीयते । तेन विष्णोः परम-शरीराद् अन्यशरीरस्यैव 'विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः' (श-ब्रा.) इत्य्-अत्र विवक्षावश्यकत्वेन विष्णोः परत्वे न किञ्चिद् बाधकम् । शतपथ-श्रुतौ तत्-प्रघट्टके विष्णोर् हय-शिरो-लाभो नोक्तः । शक्ति-कथैव नास्ति । हयग्रीव-ब्रह्म-विद्या-रूप-मधु-विद्या-नारायण-कवच-द्वयोपदेष्टृत्वस्य दध्यङ्-ऋषेर् बृहदारण्यके उक्त्या हयग्रीव-ब्रह्म-विद्या-सम्बन्धेनैव तत्र अश्व-शिरो-धारणेन प्रवर्ग्य-तत्त्वोपदेष्टृत्वेनोक्तस्य दध्यङ्-ऋषेर् महिमेति प्रतीयते ।

एवं 'स वा अयम् आत्मा - सर्वेषां भूतानां राजा', 'इन्द्रो मायाभिः पुरु-रूप ईयते', 'युक्ता ह्य्-अस्य हरयश् शता दश' इति वाक्य-समानार्थकैः 'इन्द्रस्यात्मानं दशधा चरन्तम्', 'इन्द्रो राजा जगतो य ईशे', 'शतँशता अस्य युक्ता हरीणाम्' इति वाक्यैर् घटिते 'सुवर्णं धर्मम्' इत्यादि स्वर्ण-धर्मानुवाके ऽपि हरेस् तद्-अवतार-भूत-हय-शिरसश् च परत्वं व्यक्तम् । चातुर्-होत्रीय-ब्राह्मणे 'हृदयं यजूँषि पत्न्यश् च' (तै. का. ३-५) इत्य्-अत्र चतुर्-होतृ-पञ्च-होतृ-षड्-ढोतृ-सप्त-होतृ-हृदयत्वेन एतद्-अनुवाक-घटिता मन्त्रा निर्दिष्टाः । अत्र सायणीयम् — 'चित्ति स्रुक्' इत्यादीनां होतृ-मन्त्राणां हृदयं-रहस्यं - तत्त्वं परमात्म-स्वरूपं प्रतिपादयति इति अयम् अनुवाको हृदयम् इत्य्-उच्यते' इति । श्रीभागवते—

> यथा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः । यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन् निबोध मे ॥ ११-२७-८ ॥

आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् । पाद्योपस्पर्शार्हणादीन् उपचारान् प्रकल्पयेत् ॥ ११-२७-२२ ॥

उभाभ्यां वेद-तन्त्राभ्यां मह्यं तूभय-सिद्धये ॥ २४ ॥

स्वर्ण-धर्मानुवाकेन महा-पुरुष-विद्यया । पौरुषेण च सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥ ११-२७-२९ ॥ १ ॥

(अ-सं) दशहोतृग्रहभागार्थः (द-हो) हृदयस्वर्णधर्मानुवाकार्थश् च®

इत्य्-उद्धवं प्रति भगवद्-उक्तौ अस्यानुवाकस्य वासुदेवार्चने विनियोगः उक्तः । अत्र प्रथमं दश-होतृ-चतुर्-होतृ-षड्-ढोतृ-सप्त-होतृ-मन्त्रोत्तर-भाग-रूप-ग्रह-भागेषु वाचस्पति-शब्दः पठितः । अहिर्-बुध्न्य-संहितायां प्रथम-ग्रह-भागे ।

वाङ्-नाम वैष्णवी शक्तिश् शब्द-ब्रह्म-मयी परा । वाचस्पतिस् तत्-पतिः स्यात् (अ. बु. ५७-२५)

इति वाचस्पति-शब्दार्थम् अभिधाय ।

द्यावा-पृथिव्यौ पितरौ पितरौ श्री-तद्-ईश्वरौ ॥ ६६ ॥

इति 'नमो दिवे नमः पृथिव्यै स्वाहा' इति सप्त-होतृ-ग्रह-भागान्तिम-श्रुति-घटक-पद-द्वयार्थो ऽभिहितः । अतः 'सुवर्णं धर्मं परिवेद वेनम् । इन्द्रस्यात्मानं दशधा चरन्तम्' इत्य्-अत्र बृहदारण्यकवत् हरेर् दशावतारा विविक्षताः । तद्-अनन्तरं 'अन्तस् समुद्रे मनसा चरन्तम्' 'ब्रह्मान्विवन्दद् दश-होतारम् अर्ण्ये' इत्य्-अत्र हय-शिरो-रूप-धारी अनिरुद्धो विविक्षितः । तद्-उत्तरम् 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाँ सर्वात्मा' इत्य्-अनेन 'इन्द्रस्यात्मानम्' इति पूर्व-वाक्ये इन्द्रान्तर्यामी 'सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति' इति पूर्व-वाक्ये सर्वान्तर्यामिण एकस्यैव वाच्यत्वाद् एकार्थ-वाचिनो भवन्ति वेदाः (वे-सं) इत्य्-अर्थश् च विविक्षित इति निर्णीतम् । एवम् एवोत्तरत्रापि 'अन्तः प्रविष्टं कर्तारम् एतम्' इति चतुर्-होतृ-हृदय-मन्त्रेषु द्वेधा अभ्यस्त-वाक्यवत् षड्-ढोतृ-हृदय-मन्त्रेषु 'अन्तः प्रविष्टं कर्तारम् एतम्' इति वाक्यं प्रक्रम्य 'अन्तश् चन्द्रमसि मनसा चरन्तम् । सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः । इन्द्रस्यात्मानं शतधा चरन्तम् । इत्य्-उक्तौ -

अन्तस्थं सर्व-भूतेषु चरन्तं विद्यया सह । स्तूयमानश् च विबुधैस् सिद्धैर् मुनि-वरैस् तथा ॥

"अन्तश् चन्द्रमसि" "पतङ्गोवाचम्" इत्यनयोर्ह्य् आशिरः परता③

सस्मार देहं विपुलं हरिर्-हय-शिरो महान् ॥ इति ॥ (ह. वं. पं. ३-२-४९)

हयग्रीवमहं वन्दे स्फटिकाचल-सन्निभम् । चन्द्र-मण्डल-मध्यस्थं सरस्वत्या समन्वितम् ॥ इति ॥ (वि. सि. सं. ४-२५०)

हयग्रीव-तनुं प्राप्य सच्चिदानन्द-रूपिणीम् । चन्द्र-मण्डल-मध्यस्थ-पुण्डरीक-निषेदुषीम् ॥ इति

हरिवंशे (वि. ति) संहितायां, श्री-भागवत-भूमिकायां पुराण-हयग्रीव-शास्त्र्य्-उदाहृत-हयग्रीवावतार-पर-हयग्रीव-तन्त्रे चोक्तेः । तद्-अनन्तरं सप्त-होतृ-हृदय-मन्त्रेषु 'इन्द्रो राजा जगतो य ईशे' इत्य्-अत्र इन्द्र-शब्द इन्द्रान्तर्यामि-परः । परमैश्वर्य-विशिष्टः परो वा । तद्-अनन्तरं 'अन्तर्-आदित्ये मनसा चरन्तम्' इत्य्-आदित्यान्तिर्-वर्तित्वाभिधान-पूर्वकं 'स हरिर् वसु-वित्तमः' इति तस्य हरित्वम् अभिधाय, 'शतँ शता अस्य युक्ता हरीणाम्' इत्य्-उक्तेः । 'पतङ्गम् अक्तम् असुरस्य मायया' इति मन्त्रः असून्-प्राणान्, राति ददातीत्य्-असुरः परमात्मा, तस्य मायया अचिन्त्य-शक्त्या, अक्तम्-अभिव्यक्तम्, पतङ्गम्-आदित्यम् इति सायणीये विवृतः । अत्रापि 'अन्तर्-आदित्ये मनसा चरन्तम्' । इति पूर्वम् उक्तेर् आदित्या-ऽन्तर्यामी विवक्षितः । एवम् एव तद्-अनन्तरं 'पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति । तां गन्धर्वो ऽवदद् गर्भे अन्तः' इत्य्-अत्रापि । अत्र 'वाचं मनसा बिभर्ति' इति गन्धर्व-शब्दार्थ-विवरणम् । पतङ्ग-गन्धर्व-शब्दाव् एक-व्यक्ति-बोधकौ । एतेन 'आदिद् गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः' (वा. का. सं.) इत्य्-अत्र गन्धर्वः - गोर्वाचो धारियता इति सायण-भाष्योक्तार्थः प्रामाणिक इति सिद्धम् । एतेन वाचस्पति-शब्द-घटित-ग्रह-भाग-हृदयत्वम् अस्यानुवाकस्य स्थिरीकृतम् । एवं च आदित्यान्तर्यामिणो हय-शिरस एव वाचो देव्याः पत्युर् अत्र विवक्षा सिद्धा । एतेन दश-होतृ-मन्त्र-हृदये उपक्रमे ऽपि हय-शिरः विवक्षित इति सिद्ध्यिति । तत्र च ब्रह्मणो वेदान् प्रदाता अत्र च याज्ञवल्क्यस्य शुक्ल-यजुर्वेदोपदेष्टा हय-शिरः विवक्षित इति विभागो ऽवसेयः । एतेन होतृ-हृदय-भूतं परमात्म-स्वरूपं वाचस्पति-शब्द-बोध्यं वाग्-देवी-पतिर् हय-शिर इति निर्णीतं भवति ।

(अ. वे. सं) प्रथमत्रिषप्तीयसूक्तस्य "प्रातर् अग्निम्" इत्य् आदेश् च हयाशिरः परता®

एवम् अथर्वण-वेदोपक्रमे 'ये त्रि-षप्ताः परियन्ति' इत्य्-आदि-चत्र्-ऋचं त्रि-षप्तीय-सूक्तं मेधा-जननार्थ-कर्मणि कौशिकेन स्व-सूत्रे विनियुक्तम् अभ्यस्त-वाचस्पति-शब्द-घटितं 'पूर्वस्य मेधा-जननानि' (कौ. सू. २-१) इत्यू उपक्रम्य मेधा-जननार्थ-कर्माणि कानिचिद् अभिधायोपनयन-प्रकरणे 'मेधा-जननायुष्यैर् जुह्यात्' (कौ. सू. ७-८) इति मेधा-कामस्य ब्रह्म-चारिण अनेन सुक्तेनाज्य-होमम् अपि विधायोपाकर्मणि 'त्रि-षप्तीयं पच्छो वाचयेतु' (कौ. सू. १४-३) इति माणवक-वाचने ऽपि विनियोग उक्तः । तत्र 'सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि' इत्य्-अत्र वाग्-देवी-पतेर् हय-शिरसो ऽनुग्रहेणाधीत-वेद-शास्त्रार्थस्य सम्यक्-प्राप्तिः कदाचिद अप्य-अवियोगश् चेत्य्-अर्थो विवक्षित इति तत्र 'मा श्रुतेन विराधिषि' इत्य्-अस्यार्थः हय-शिर-उपाख्याने (श्लो. ७५) व्यक्त इति प्राङ्-निरूपितम् । 'अहं रुद्रेभिः' इत्य्-आद्य्-अष्टर्च-वाक्-सूक्तस्य (अ. वे. ४-३०) मेधा-जननार्थं वाग्-व्यवहारं कुर्वतश् शिशोर मात्र् उत्सङ्गे होमे विनियोगम् अभिधायापनयनं (कौ. स्. ७-६) प्रक्रम्य 'मेधा-जननायुष्यैर् जुह्यात्' (कौ. सू. ७-८) इत्य्-अनेन सूक्तेनाज्य-होमो ऽप्य्-अभिहितः । अतस् तद्-ऐकरस्यात्रि-षप्तीय-सूक्ते वाग्-देवी-पतिर् हय-शिरः विवक्षितः । 'यस्य देवे परा भक्तिर् यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्य-अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' इति श्वेताश्वतरान्तिम-श्रुत्य्-अनुगुण्याच् च । तत्र 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश् च प्रहिणोति तस्मै' इति पूर्व-मन्त्रे ब्रह्म-गुरुत्वेन प्रतिपादितो हय-शिर एव गुरुर् विवक्षितः 1। अतो ऽभ्यस्त-वाचस्पति-शब्द-घटित-त्रि-षप्तीय-सूक्तस्याथर्व-वेदोपक्रमस्थस्य यथोक्त एवार्थः । एतेन 'पूर्वस्य मेधा-जननानि' इति प्रक्रम्य 'प्रातर् अग्निम्' (कौ. स्. ३-१६) इत्यादि-सुक्तस्य मेधा-जननार्थ-कर्मणि कौशिकेन विनियोगाभिधानेन एतत-सूक्तम् अपि हय-शिरः-परम् एव । 'प्रातर् अग्निम् इत्यादि हयग्रीव-मन् जपेत्' इति पराशर-संहितायाम् उक्तेः ।

"नासदासीत्" इत्य् आदिसूक्तार्थः 🕄

ऋग्वेदे अथर्व-वेदे च एतत्-सूक्तस्य 'नासत्' इत्य्-अतः पृथक्-पाठे ऽपि तैत्तिरीय-ब्राह्मणे 'नासद् आसीत्' (तै. ब्रा. २-८-९) इति सूक्तानन्तरं 'प्रातर् अग्निम्' इत्य्-आदि सूक्तं पठितम् । प्रथम-सूक्तस्य नारायण-परत्वं पूर्वम् एव (१७१ पुटे) निरूपितम् । तत्र च 'आनीद् अवातँ स्वधया तद् एकम्' इत्य्-अत्र स्वधया इत्य्-अनेन 'स्वधा त्वं लोक-पावनी' इत्य्-उपबृंहणात् लक्ष्मी-विशिष्टत्वम् उच्यते इति 'श्रेष्ठश् च' (शा. स्. २-४-७) इत्य्-अत्र व्यासार्योक्तिः-

'नासद् आसीत् तदानीं हि नो सद् आसीत् तदा मुने' इत्य् उपक्रम्य-नारायणः परं ब्रह्म शक्तिर् नारायणी च सा । व्यापकाव् अति-संश्लेषाद् एक-तत्त्वम् इव स्थितौ ॥ (अ. सं.)

इत्य्-अहिर्-बुध्न्य-संहितोक्त्या युक्तेति प्राग् एव (१९० पुटे) साधितम् । अत एव 'तमसस् तन् महिना जायतैकम्' इत्य्-अत्र शुद्ध-व्यूह-सृष्टिः 'स्वधा अवस्तात् प्रयितः परस्तात् । को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् । कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः' इत्य्-आदौ लक्ष्मी-तद्-ईशयोर् लक्ष्म्या अवरत्वं तद्-ईशस्य परत्वं लक्ष्मी-विशिष्टस्यैव उपादानत्वं निमित्तत्वं चेत्य्-अर्थाः संहितानुसारेण विवक्षिताः । 'तम एवाभवत् सर्वं न प्राज्ञायत किञ्चन । तमसो ब्रह्म-सम्भूतं तमो-मूलामृतात्मकम् । विद्या-सहायवान् देवः' इत्य्-आद्य्-जाद्य्-उपाख्यान-वचनैः 'एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये,' 'ततो भूयो जगत्-सृष्टिं करिष्यामीह विद्यया' इत्यादि नारायणाख्यान-वचनैर् अस्य सूक्तस्य पूर्वोक्तार्थ-परत्वं व्यासो ऽपि व्यञ्जयित । 'विद्या-सहायवान् देवः', 'एको विद्या-सहायस् त्वम्' । (१८९ पुटे) इत्य्-एतद्-उपाख्यान-हरिवंश-वचनोत्तरं हयग्रीवावतार-निरूपणेन तैत्तिरीय-ब्राह्मणे 'नासद् आसीत्' इति सूक्तानन्तरं 'प्रातर् अग्निम्' इत्य्-आदि-भग-सूक्तस्य हयग्रीव-परत्वं व्यासो ऽपि प्राचीकशत् ।

मोक्ष-धर्मान्तर्गत-नारायणाख्यानस्य नारायणोपनिषदैकार्थ्यम् ③

मोक्ष-धर्मे 'बहुभ्यश् च (अल्पेभ्यश् च) महद्भ्यश् च शास्त्रोभ्यो मितमान् नरः । सर्वतस् सारम् आदद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्-पदः ॥' (शा. प. १७६-६६) इत्य्-अभिधाय (२१० अ) द्वादशाष्टाक्षर-मन्त्रानुसन्धान-फलम् अप्य्-उक्त्वा तत्र-तत्र वासुदेवाद् व्यूह-सृष्टिं ब्रह्मादि-सृष्टिं चाभिधाय नारायण-आख्याने (३५३ अ) प्रशस्यतमे पञ्चरात्र-प्रामाण्यं किलयुगादौ भीष्म-पर्वोक्त-दिशा पञ्चरात्रोक्त-विधिना अनुष्ठानम् अभिप्रेत्य किलयुगादाव् अनुष्ठापकत्व-रूप-प्रामाण्यं 'भविष्यित प्रमाणं वा' इत्य्-अनेनाभिधाय सात्वतोक्तैकान्ति-धर्मस्य दुरनुष्ठेयत्वं कदाचिद् एवानुष्ठेयतां च प्रदर्श्य अर्जुनं प्रति कृष्णोक्ताव् अध्याय-त्रये नारायणादि-नाम-निर्वचन-प्रसङ्गे कृष्ण-हय-शिरसोर् ऐक्यम् उक्त्वा हय-शिर-उपाख्याने 'ईश्वरो हि जगत्-स्रष्टा प्रभुर् नारायणो विराट्' इत्य् उपक्रम्य हय-शिरो-ऽवतारं निरूप्य 'नारायण-परा वेदाः', 'तत्त्वं जिज्ञासमानानां - हिर् नारायणः प्रभुः' इत्य्-अत्र 'तत्-स्थत्वाद् अनुपश्यन्ति ह्य-एक एवेति साधवः' इति जनक-याज्ञवल्क्य-संवादोक्तिदिशा तत्त्वैक्यम् अपि प्रदर्श्य तद्-अनन्तराध्याये 'समुपोढेष्व्-अनीकेषु कुरु-पाण्डवयोर् मृधे । अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्' (८) इत्य् उपक्रम्य 'कथितो हरि-गीतासु समास-विधिकत्यितः ।' (५३) 'एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान् नारायणान् नृप ।' (४५) 'दुर्विज्ञेयो दुष्करश् च सात्वतैर् धार्यते सदा' (५५) इत्य्-अनेन गीतायां सङ्ग्रहेणोक्तस्य पञ्चरात्रे

विस्तरेणोक्तस्यानुष्ठेयत्वं प्रदर्श्य बहुभिर् ब्राह्मणैर् अननुष्ठाने बीज-प्रश्नस्य प्रतिवचने 'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन् मधु-सूदनः । सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थ-चिन्तकः' (७३) इत्य्-आदिना जनन-काले मधु-सूदन-कटाक्षवत एवं मोक्षार्थ-प्रवृत्तिः, तद्-अन्य-कटाक्षवतो न प्रवृत्तिः, इति वदन् व्यास उक्तेष्व्-अर्थेषु मूलं नारायणोपनिषदम् अभिपैति । तत्र 'सर्व-भूत-स्थम् एकं नारायणम्' इत्य्-उक्तार्थ एव 'तत्-स्थत्वाद् अनुपश्यन्ति' (ज. या. सं.), 'तत्त्वं जिज्ञासमानानाम्' (ह. शि. उ). इत्य-अत्र प्रकाशित इति प्राङ्-निरूपितम् । 'ब्रह्मण्यो देवकी-पुत्रो ब्रह्मण्यो मधु-सूदनः' इति तत्-पूर्व-श्रुतौ अर्जुनं प्रति गीतोपदेष्टा कृष्णः देवकी-पुत्र इत्य्-अत्र विवक्षितः । ब्रह्मणो वेद-पञ्चरात्रोपदेष्टा मधु-सूदन-शब्देन विवक्षितः । कृष्ण-शब्दं विहाय देवकी-पूत्र-शब्दानिर्देशस् तु देवक्या अपि कृष्ण-हय-शिरो-रूप-परत्व-वेदन-सत्ता-ज्ञापनार्थः । कृष्णावतार-समनन्तरं देवकी-कृत-कृष्ण-स्तुतौ 'नमस्ते सर्व-देवेश नमस्ते मधुसूदनोम्' (वि. ध. ९३-१९) इत्य् उपक्रम्य 'ऋग्-यजुस्-साम-रूपाय सम्भूताय ममोदरे स्व-माया-बाल-रूपाय नमः कृष्णाय हेतवे ॥' (वि. ध. ९३-२९) इति कृष्णं प्रति देवक्या उक्त्य्-अनन्तरं तथैव (३१) हयग्रीवानुष्ट्भ-मन्त्रस्याप्य्-उक्त्या उभयोः परत्वं सिद्धम् । पूर्वं 'ब्रह्मण्यो देवकी-पुत्रो ब्रह्मण्यो मधु-सूदनः ।' (वि. ध. ६९-१११) इति श्रुतिम् एव निर्दिश्य नारायण-नारद-संवादम् उपक्रम्य 'श्रुत्वाथ तस्य देवर्षेर् वाक्यं वाचस्पतिस् स्वयम् । प्रोवाच भगवान् विष्णुर् नारदं जगतो हितम्' ॥ (वि. ध. (0-00

विष्णुधर्मस्य "ब्रह्मण्यो-देवकीपुत्रः" इत्य् आदिश्रुतिविवरणता®

ओङ्कारम् अग्रतः कृत्वा मां नमस्कृत्य मानद ॥ (९) ॥

एकाग्रः प्रयतो भूत्वेमं मन्त्रम् उदीरयेत् । अहं भगवतस् तस्य मम चासौ सनातनः । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६० ॥

तम् एवाहं प्रपन्नो ऽस्मि मम यो यस्य चाप्य्-अहम् । नारायणाय भक्तानाम् एक-निष्ठाय शाश्वतम् ॥ (६५)

इत्य्-आदिना अष्टाक्षरार्थम् अभिधायात्र देवकी-कृत-कृष्ण-स्तुत्य्-अनन्तरं

एवं स्तुतस् सदा देव्या देवक्या मधु-सूदनः । बाल-रूपी जगादेदं वसुदेवस्य शृण्वतः ॥' (९३-३८)

इति वदता शौनकेन एतच्-छूत्य्-अर्थः सम्यक् प्रकाशितः ।

पूर्वं मत्स्यावतार-निरूपणावसरे-

विनिर्जग्मुर् मुखेभ्यस् तु ब्रह्मणो ऽव्यक्त-जन्मतः । ओङ्कार-प्रभवा-वेदा जग्मुस् ते च रसातलम् ॥ ६८-६ ॥ भोगि-शय्या-गतः कृष्णो द्वितीयां तनुम् आत्मनः । कृत्वा मीनमयीं सद्यः प्रविवेश रसातलम् ॥ ६८-८ ॥

वेद-मूर्तिस् ततो वेदान् आनिन्ये ब्रह्मणो ऽन्तिकम् ।

इति पुराणान्तरोक्त-रीतिम् अनुसृत्य मधु-कैटभाभ्यां वेदापहरणम् अनभिधाय

- मधु-कैटभाभ्यां च पुनर् भोगि-शय्या-गतो हरिः ॥ ६८-९ ॥
- हृतान् हय-शिरा भूत्वा वेदान् आहृतवांस् तदा ।

इति ।

शुक्ल-यजुर्वेदे पञ्चरात्र-प्रवर्तक-सूर्यस्य हयशिरो-रूपता③

मत्स्येन भूत्वा पातालात् तव वेदास् समुद्धृताः । मधु-कैटभाभ्यां हृता दत्ताश्व-शिरसा मया ॥ ६८-४१ ॥

इति च वदता शौनकेन मधु-सूदनो न मत्स्यः अपि तु हय-शिरा एवेति निर्धारितं भवति ।

ब्रह्मणो वेदोपदेष्टैव पञ्चरात्रम् अप्य्-उपादिशद् इति प्राक् (५ पु) उदाहृत-हय-शीर्ष-पञ्चरात्र-वचनैः प्रतिपादनेन 'सात्वतं विधिम् आस्थाय प्राक् सूर्य-मुख-निस्सृतम्' इति पूर्वम् (४० पु) उदाहृत-वचने सूर्य-शब्दार्थो ऽपि शुक्ल-यजुर्वेदोपदेष्टा सूर्य एव हय-शिरो-रूपो विवक्षितः । अत एव जनक-याज्ञवल्क्य-संवादे सूर्यं तच्-छिक्ति-वाग्-देव्य्-अनुग्रहेण शुक्ल-यजुर्वेद-तत्त्वज्ञस्य याज्ञवल्क्यस्य 'तत्-स्थत्वाद् अनुपश्यन्ति ह्य्-एक एवेति साधवः' इत्य्-उक्तेः अत्र हय-शिर-उपाख्याने 'तत्त्वम् एकः' इत्य्-आदि-श्लोकस्य च 'सर्व-भूत-स्थम् एकं नारायणम्' (ना-उ) इत्य-एतद्-अनन्तर-श्रुति-विवरण-रूपता समरसा भवति । एतेन 'स सर्परी रमतिं बाधमाना' (ऋ. सं ३-५३-१५) इति हयग्रीव-मन्त्रानुमन्त्रे 'आ सूर्यस्य दुहिता' इत्य्-अत्र हय-शिरो-रूप-सूर्य-सम्बन्धिनी याज्ञवल्क्य-काम-पूरियत्री इत्य्-अर्थो व्यासस्य विवक्षितः । एतन्-मन्त्रस्य एतद्-उत्तर-मन्त्रस्य च (वि. ध. उ, ऋ. वि.) विनियोग-वचनानि प्राक् (२४६ पुटे) उदाहृतानि ।

ससर्परी-द्व्य्-ऋचे प्राहुर् इतिहासं पुरा-विदः । सौदास-नृपयज्ञे वै वसिष्ठात्मज-शक्तिना । विश्वामित्रस्याभिभूतं बलं वाक् च समन्ततः । वासिष्ठेनाभिभूतः सह्य्-अवात्सीद् अथ गाधिजः । तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम् । सूर्य-वेश्मन आहृत्य ददुर् वै जमदग्नयः । कुशिकानां मितः सा वाग् अमितं ताम् अपानुदत् । (अनु-भा-३-५३)

रस-सर्परी; इति हयग्रीव-मन्त्रानुनन्त्रे सूर्य-हयग्रीव-शक्तिर् वाग् देवी विवक्षिता®

इति सायणीयोक्तिर् अपि प्राग्-उक्तार्थे न विरोधिनी । 'पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति । तां गन्धर्वो ऽवदद् गर्भे अन्तः' इति सप्त-होतृ-हृदय-मन्त्र-समानार्थक-समानानुपूर्वीक-(ऋ. सं. १०-१७७-२)-ऋङ्गन्त्रैकरस्यात् 'आसूर्यस्य' इत्य्-अस्य यथोक्त एवार्थः । अतः ब्रह्मणः श्रुति-पञ्चरात्रयोर् उपदेष्टा याज्ञवल्क्यस्य शुक्ल-यजुर्वेदस्योपदेशकश् च सूर्यो वाग्-देवी-पतिर् हय-शिरः एवेति सिद्धम् । 'वाजिन्तमाय', 'तां गन्धर्वो ऽवदत्', 'सूर्यो ऽश्वः सो ऽभवत्' इत्य्-अत्र हय-शिरस अश्व-वाचि-शब्देन निर्देशवत् 'आदि-गन्धर्वो ऽभवद् द्वितीयः' इति श्रुतिम् अनुसृत्य ब्रह्मणो वेदस्योपदेष्टुर् अपि तथैव निर्देशः पादो शौनक-प्रश्नस्य सूत-प्रति-वचने दृश्यते —

मति-मन्थानम् आविध्य येनास्माच् छ्रुति-सागरात् । प्रकाशो जनितो लोके महाभारत-चन्द्रमाः ॥

कृष्ण-द्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् । को ह्य् अन्यः पुण्डरीकाक्षान् महाभारत-कृद् भवेत् ।

तस्माद् अहम् उपश्रुत्य।

इत्य् उपक्रम्य —

पुराणं सर्व-शास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् । त्रि-वर्ग-साधनं पुण्यं शत-कोटि-प्रविस्तरम् ॥

निश्शेषेषु च लोकेषु वाजि-रूपेण केशवः । ब्रह्मणस् तु समादेशाद् वेदान् आहृतवान् असौ ॥

अङ्गानि चतुरो वेदान् पुराणानि च सर्वशः । मत्स्य-रूपेण अजहार कल्पादाव उदकार्णवे ॥

अशेषम् एतत् कथितम् उदकान्तर्गतो विभुः । श्रुत्वा जगाद च मुनिं प्रति वेदांश् चतुर्मुखः ॥ (पा. पु. सृ, ५-१-४८)

पाद्मपुराणे श्रीमुख-श्रीसूक्तयोश् च हयशिरसो मत्स्यात् प्रथम-मुक्तिः ®

इति । अत्राश्व-सामान्य-वाचि-शब्देन केशवस्य निर्देशे 'विश्व-कर्मा ह्य्-अजनिष्ट देवः । आदिद् गन्धर्वो ऽभवद् द्वितीयः' । (वि. सू.) इति तैत्तिरीय-वाजसनेयक-श्रुत्योः निर्देश एव मूलम् ।

ब्रह्मणो वेदान् याज्ञवल्क्यस्य शुक्ल-यजुर्वेदं चोपदेष्टुः उदाहृत-श्रुति-पुराण-वचनेषु हय-सामान्य-वाचि-शब्देन निर्देशम् अभिप्रेत्य पराङ्कुश-मुनिना 'मूवा त्तनिमुदलामूवुलकं कावलोन् मावाहि यामयाय् मीनाहि मानिडमाम्' (ति. २-८-५) इति श्री-मुख-सूक्त-गाथायां 'माव्' इत्य्-अश्व-सामान्य-वाचि-शब्देन सर्व-जगत्-स्रष्टुः-रक्षकस्य देवादि-देवस्य निर्देशः कृतः । एतद्-अनन्तर- गाथायां कृष्णा-मिहमा प्रदर्शितः । एतेन नारायणोपनिषदि अवशिष्ट-भागार्थं तत्र-तत्र निरूपयता पराङ्कुश-मुनिना 'ब्रह्मण्यो देवकी-पुत्रो ब्रह्मण्यो मधु-सूदनोम्' इति वाक्यार्थः अत्र प्रकाशितो भवति । पाद्म-पुराणे हय-शिरसः प्रथमं मत्स्यस्यानन्तरं निर्देशम् अभिप्रेत्यात्रापि तथा निर्देशः । पद्म-पुराणोक्त-रीत्या सूत-महर्षेर् अर्थं श्रुत्वा शौनकेनात्र श्रुतौ 2 देवकी-शब्द-तात्पर्य-विवरण-पूर्वकं हय-शिरस एव मधु-सूदनत्वोक्त्या स एव श्रुतौ मधु-सूदन-शब्दार्थ इति निर्णयस्य करणेन पराङ्कुश-मुनिनापि स एव निर्णयो रचितः ।

एवं परकाल-मुनिनापि सर्वेश्वराद् एव मूल-मन्त्र-तद्-अर्थोपदेश-भाग्यवता स्वीये श्री-सूक्ताख्ये प्रबन्धे प्रथम-शतक-प्रथम-दशके ऽभ्यस्त-नारायण-नाम-प्रयोगेन पञ्चम-सप्तम-शतकयोः (५-३-२) (७-८-२) गाथा-द्वये हय-शिरो-वृत्तान्त-वर्णनेन अन्ते (११ शतके) उपान्त्य-गाथा ऽव्यवहित-पूर्व-गाथायां मधु-सूदन-शब्द-निर्देश-पूर्वकम् अन्तिम-गाथायां कृष्ण-प्रतिपादनेन तत्र मूल-मन्त्राद्य्-अर्थ-प्रकाशनेन च नारायणोपनिषद्-अर्थः सम्यक् प्रकाशितः । सप्तम-शतक-प्रथम-गाथायां समुद्र-शायिनो नाभी-कमलाच् चतुर्मुखोत्पत्तिः, द्वितीय-गाथायां हय-शिरो-ऽवतार-चिरतम्, तद्-उत्तर-गाथासु कृष्णावतारेण सह तद्-इतरावतार-चिरतम्, इत्य्-एतद्-अर्थ-निरूपण-पूर्वकम् अन्तिम-गाथायां मत्स्यावतारो ऽप्य्-अभिहितः । अतः परकाल-मुनेर् अपि श्रुति-घटक-मधु-सूदन-शब्दस्य हय-शिर एवार्थो ऽभिप्रेतः । इति बोध्यम् ।

हयशिरोरूपेणावतारे कारणम् कृष्ण-हयशिरसोर् आनुरूप्यं च®

अत्र श्रुतौ देवकी-पुत्र-मधु-सूदन-शब्दाभ्यां कृष्ण-हय-शिरो-ऽवतार-द्वय-बोधनेन नृसिंहाद्य-अवतार-वैलक्षण्येन हय-शिरो-ऽवतारे मूलम् अपि सूचितम् । शिरो-भागे हय-रूप-धारणेन 'यस् त् विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सह । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सद्-अश्वा इव सारथेः' (कठ १-३-६) इति श्रुत्या मनुष्याणां शुद्ध-मनस्कानां विज्ञानवताम् एव मनादीन्द्रियाश्व-वशी-करणेन सुख-लाभ इति यो ऽर्थः प्रतिपादितः स हय-शिरो-रूप-धारणेन वेद-दान-ज्ञानोपदेश-समनन्तरम एव चतुर्मुखस्य वेदापहार-काले सृष्टि-करणासामर्थ्येन यद् दुःखं तन्-निवृत्त्या सुखं समजनीति कथनेन प्रकाशितो भवति । हय-शिरो-रूपेण सत्त्वाभिवृद्धि-कर-कार्य-ज्ञान-सम्पादनेन चतुर्मुखस्य रजस्-तमो-बाधा-निवृत्ति-करणेन इन्द्रियाणां सद्-अश्ववत् सत्त्वाभिवृद्धि-कार्य-ज्ञान-जनने प्रवृत्तिः यदा तदैव रजस्-तमो-बाधा-निवृत्तिर् इति सिध्यति । अत्र जीव-समष्टि-भूत-चतुर्मुखस्य हय-शिरो-मुलक-ज्ञान-लाभ-कथनेन लोके चेतनानां हय-शिरो-ऽनुग्रह-लब्ध-विज्ञानवताम् एव शुद्ध-मनस्कानाम् इन्द्रियाश्व-वशी-करणम् इति सूच्यते । चतुर्मुख-प्रपत्त्या वशी-कृत एवानिरुद्धो हय-शिरो-रूपेणावतीर्य चतुर्मुख-दुःखम् अपाकरोद् इति पूर्वम् उक्त्या सर्वेन्द्रिय-नियामकोत्तम-हय-शिरस एव प्रपत्त्या वशी-करणे किं वक्तव्यम् इन्द्रियाणाम् अश्वानां वशी-करणे इत्य्-अप्य्-अर्थस् सूच्यते । कृष्णावतारे चायम् अर्थस् सम्यक् प्रकाशितः रथे रथित्वेनावस्थितस्यार्जुनस्याश्वानां सम्यग्-अनुकूल-वर्त्म-निगमन-सम्पादनेन सुख-प्रापणेन देहे स्थितानां चेतनानां सर्वेषाम् अन्तर्यामिणा भगवता इन्द्रियाण-सम्यक्-चालन एव रजस्-तमसोर् अभिभवेन सत्त्व-वृद्ध्या सम्यक्-ज्ञान-जननेन सुखम् इत्य्-अर्थस्य प्रकाशनात् । ब्रह्मणः श्रुति-पञ्चरात्रयोर् उपदेशेन ज्ञान-जननं हय-शिरो-ऽवतारे, अर्जुनस्य श्रुत्य्-उपबृंहण-पञ्चरात्र-सङ्ग्रह-रूप-भगवद्-गीतोपदेशेन ज्ञान-जननं च कृष्णावतारे इत्य्-अवतार-द्वयानु-रूप्यम् । एवं

वेदादि-मुखेन ज्ञान-सम्पादनार्थावतारेषु हय-शिरो-ऽवतारः प्रथमः, कृष्णावतारश् चरमः । एवं परस्परानुरूप-प्रथम-चरमावतार-द्वयं नारायणोपनिषत्-प्रतिपादितम् अभिप्रेत्यैव शठकोप-मुनिना परकाल-मुनिना च प्रथमं हय-शिरो-ऽवतारस्य अन्ते कृष्णावतारस्य च निर्देशः कृतः । गीतायां 'माधवः' (गी. १-१४) (हृषीकेशः) (गी. १-१५) 'मधु-सूदनः' (गी. २-१) 'तम् उवाच हृषीकेशः' (गी. २-१०) इति निर्देश-तात्पर्य-पर्यालोचनायां प्राग्-उक्तार्थः प्रतीयते । 'एष नारायणः श्रीमान् आगतो मधुरां पुरीम्' (भा. अ. २४) 'पुण्या द्वारवती तत्र यत्रासौ मधु-सूदनः' (म. भा. अ. ८६-२५) 'कृष्णं धर्मं सनातनम्' (२६) 'आस्ते हिर् अचिन्त्यात्मा तत्रैव मधु-सूदनः' (२८) इति निर्देशो ऽपि अवतार-द्वयानुरूप्यं बोधयित ।

"हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्, जायमानं हि पुरुषं यं पश्येत्, एको ऽर्थः"③

श्रुति-घटक-मधु-सूदन-शब्दस्य हय-शिरा एवार्थ इत्य् अभिप्रेत्य हय-शिर-उपाख्यानानन्तराध्याये 'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन् मधु-सूदनः । सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थ-चिन्तकः', इत्य्-अत्र पूर्वाध्याये तामस-राजस-मधु-कैटभ-हन्तृत्वेन प्रतिपादितस्य हय-शिरसो मध्-सदन-शब्देन निर्देशो व्यासेन कृतः । अत्र 'जायमानं पश्येत्' इति पद-द्वयेन 'हिरण्य-गर्भं पश्यत जायमानम्' (तै उ. ४-१०-१९) (श्वे. उ. ४-१२) इति श्रुतिः प्रत्यभिज्ञाप्यते । मूल-श्रुतौ 'स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु' इति चरम-पादाशयः 'सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थ-चिन्तकः' इत्य्-अनेन प्रकाशितः । 'यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद् विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः' इति पूर्वार्धे रुद्र-शब्दार्थो हयग्रीव इति तात्पर्येणात्र मधु-सूदन-शब्दः । तत्-पूर्व-मन्त्रे (तै) 'त्रिधा-बद्धो वृषभो रोरवीति' इत्य-अत्र 'रोरवीति श्रुति-मुखर-मुखत्वात्' इति सेश्वर-मीमांसा-विवरणेन रुद्र इत्य-अत्र रुत्-वेदः 'अरुन्मुखान् यतीन्' (कौ. उ. ३-१) इत्य्-अत्र रुच्-छब्दस्य वेदार्थकत्वस्य संमतत्वात् ।तं द्रवित गच्छतीति अर्थो निर्धारितः । श्रुतौ वेद-प्राप्तृत्वेन हय-शिराः प्रतिपादितः । अत्र च तद्-अनन्तरं युद्धार्थम् आगत-मधु-हन्तृत्वेन इत्य्-एतावान् विशेषः । हिरण्य-गर्भस्य अनिरुद्ध-नाभी-कमले प्रथमं देह-सम्बन्ध-रूप-जन्म-दशायाम् अनिरुद्ध-दर्शनं न पूर्णं सात्त्विकत्वाय प्रभवति । अनन्तरं वेदापहार-दशायां ज्ञान-नाशात् । अपहृत-वेदान् आदाय ब्रह्मणे प्रदाय मधु-कैटभ-हननानन्तरं ज्ञान-प्रदान-समय एव सात्त्विकता-पूर्तिः । अपहृत-वेद-दानादिकं हय-शिरो-रूप-धारिण एवानिरुद्धस्य । इति 'हिरण्य-गर्भं पश्यत जायमानम्', इति श्रुतौ जायमान-शब्दे ज्ञान-जन्मैव विवक्षितम् इत्य्-एतेन निर्धारितं भवति । 'ब्रह्मण्यो मधुसूदनोम्' इति उपनिषद्-अन्तरानुरोधेन 'हिरण्य-गर्भं पश्यत जायमानम्' इति श्रुताव् इत्थम् अर्थो विवक्षित इति व्यासस्याशयः । श्रुतौ कैटभ-हन्तारम् अनभिधाय मधु-हन्त्र-उक्तिः रजो ऽपेक्षया तमस ज्ञान-विरोधित्वातिशय-स्चनार्था एवं वदता व्यासेन स्वस्यापि जनन-कालिक-मधु-सूदन-कटाक्षेणैव सात्त्विकत्वं प्रख्यापितम् । अत एव पद्म-पुराणे हय-शिरो-ऽनुग्रहेण वेदादि-लाभ-वतो चतुर्मुखाद्-व्यास-मुनेर् वेदादि-लाभोक्तिः, प्राक् (२४४ पुटे) उदाहृत-ब्रह्म-वैवर्त-वचनेषु हय-शिरश्-शक्ति-रूप-वाग्-देव्य-अनुग्रहेण वेद-विभाग-पुराण-ब्रह्म-सूत्र-प्रणेतृत्वोक्तिश च सङ्गच्छते ।

सरस्वत्या लक्ष्मण-मुनये स्वाराधित-हयग्रीव-मूर्तेर् दानम् ③

पद्म-पुराणोक्त-दिशा ब्रह्मण एव प्रथमं सर्व-पुराण-प्रणेतृत्वं (वेदार्थ-संग्रहे) जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद-हय-शिर-उपाख्यानादि-निर्णीत-दिशा तत्त्वैक्यं पञ्चरात्र-प्रामाण्यं श्रुति-पञ्चरात्रयोर् ऐकरस्यम्, इत्य्-आद्य्-अर्थं श्री-भाष्यादिषु व्यवस्थापयित भगवद्-रामानुज-मुनौ वाग्-देवी-पतेर् हय-शिरसो ऽनुग्रहः पूर्ण इति निश्चित्यैव श्री-भाष्य-श्रवण-समनन्तरं सरस्वत्या प्राक् (२४५ पुटे) उदाहृत-(ब्रह्म-वैवर्त)-वचनानुसारेण स्व-मूल-भूत-वाग्-देवी-संश्लिष्टस्य स्व-पतेश् चतुर्मुखस्य वेद-पञ्चरात्रयोर् उपदेष्टुः मूर्तिः स्वेनाराधिता भगवद्-रामानुज-मुनये प्रदत्तेति बोध्यम् । अयम् अर्थः भगवद्-रामानुज-शिष्यान्ध्रपूर्ण-विरचित-यित-राज-वैभवे —

तद्-भाष्यम् आहृत्य निघाय मूर्ध्नि श्री-भाष्यम् एतत् वर-भाष्य-कृत्-त्वम् । इतीव तस्मै प्रददौ च देवी भाष्यं हयग्रीवम् अपि स्व-देवम् ॥ ८८ ॥

गृह्णन् हयग्रीवम् अपि प्रणम्य कुलागतं तं वरदं च नित्यम् । आराधयन्न् अन्य-मतानि जित्वा श्री-वेङ्कटाद्रिं पुनर् आससाद ॥

इत्य्-अत्र स्फुटः ।

नाथयामुन-रामानुज-मुनित्रयस्य हयग्रीवानुग्रह-लब्ध-धी-विकासः®

एवं नाथ-मुनेर् अपि हय-शिरसि भक्तिः

'तस्मै नमो मधुजिद्-अङ्घ्रि-सरोज-तत्त्व-ज्ञानानुराग-महिमातिशयान्त-सीम्ने । नाथाय नाथ-मुनये ऽत्र परत्र चापि नित्यं यदीय-चरणौ शरणं मदीयम्' ॥ (स्तो. र. २)

इत्य्-अत्र भगवद्-यामुन-मुनिना तत्-पौत्रेण 'यं पश्येन् मधु-सूदनः', 'ब्रह्मण्यो - मधुसूदनोम्', इति स्मृति-श्रुति-प्रसिद्धार्थस्य मधु-जिच्-छब्देन निर्देश-मुखेन प्रदर्शिता ।

एतेन स्वस्यापि हय-शिरसि भक्तिस् सूचिता । अत एव 'वेदापहार' (स्तो. र. १३) इति श्लोके यामुन-मुनेर् हय-शिरसो ऽनुसन्धानं सङ्गच्छते । अत्र हय-शिरो-अवतार एव विवक्षित इति प्राचीन-सर्व-व्याख्यानेषु स्फुटम् । तद्-एतत्-सर्वम्-अभिप्रेत्य भगवद्-रामानुज-मुनिना काञ्च्यां स्व-शिष्याय कुरुकेशाय दत्तां स्वाराधितां लक्ष्मी-हयग्रीव-मूर्तिं तत्-प्रपौत्र-पुण्डरीकाक्षाल् लब्ध्वा स्वयम्-आराधितबद्भिर्-आचार्य-पार्दैः श्री-हयग्रीव-मन्त्र-पुरश्चरण-जित-महिमवद्भिः,

नाथोपज्ञं प्रवृत्तं बहुभिर् उपचितं यामुनेय-प्रबन्धैस् त्रातं सम्यग् यतीन्द्रैर् इह निखिल-तमः-कर्शनं दर्शनं नः । (त. मु. अ. स. १३६)

इत्य्-उक्त-गुरु-पङ्केः

'हृद्या-हृत्-पद्म-सिंहासन-रसिक-हयग्रीव-हेषोर्मि-घोष-क्षिप्त-प्रत्यर्थि-दृप्तिर् जयति बहु-गुणाः पङ्क्तिरस्मद्-गुरूणाम् ।'

इत्य्-अनन्तर-श्लोके हयग्रीवानुग्रह-पूर्तिः प्रदर्शिता । अत्र सर्वार्थ-सिद्धि-विवरणम् — 'एतद्-दर्शन-प्रवर्तकाचार्य-प्रशंसया स्व-भिक्तिम् एवास्तम्भयन्' इत्यादि । एतेन सार-शास्त्रे 'एते मह्यम् अपोढ-मन्मथ-शरोन्माथाय नाथादयः' इति श्लोकानन्तरं 'हृद्या-हृत्-पद्मेति' पूर्वोक्त-श्लोक-समानानुपूर्वीकः श्लोको ऽपि व्याख्यातः । एवं च जनन-कालिक-हयशिरो-ऽनुग्रहवताम् एव सात्त्विकता, हय-शिरो-ऽनुग्रहेणैव विरोधि-मत-निरसन-पूर्वकं वेद-तत्त्वार्था-निष्कर्षणं नान्यथेति सिद्धम् ।

भट्टार्यैः मत्स्यादितः प्राक् हयशिरसस् सत्त्वप्रवर्तनाद्युक्तिः ③

भट्टार्यैर् अपि त्रि-मूर्ति-मध्यगत-विष्ण्व्-अवतार-निरूपण-पर-पूर्व-श्लोकोक्त-सत्त्व-प्रवर्तन-कृपा-परिपालनादि-विशदी-करणार्थम् अवतारान् बहून् निरूपयद्भिः 'मधुः कैटभश् चेति रोधं विधूय त्रयी-दिव्य-चक्षुर् विधातुर् विधाय । स्मरस्य-अङ्ग-रिङ्गस् तुरङ्गावतारः समस्तं जगज् जीवियष्यस्य्-अकस्मात् ।' (रं. स्त. उ. श. ५२) इति प्रथमं हयग्रीवावतार-मुखेन सत्त्व-प्रवर्तन-कृपा-परिपालनानि प्रतिपाद्यानन्तरं हंस-मत्स्याद्य्-अवतारा निरूपिताः । 'शरीर-भूत-भृत्' इति नाम-विवरणे 'तच्-छिरः' इति बृहदारण्यक-श्रुतिम् उदाहृत्य 3 हय-शिर-उपाख्यानस्थ-वचनोदाहरणेनायम् अर्थो निर्धारितः । एतेन वेदार्थ-ज्ञान-मूलक-जगद्-उज्जीवनं हय-शिरो-ऽनुग्रहेणेति स्फुटम् ।

वाग्-देवी-पतेर् हय-शिरसो ऽनुग्रहेण याज्ञवल्क्येन 'तत्-स्थत्वाद् अनुपश्यन्ति ह्य्-एक एवेति-साधवः ।' इति सिद्धान्तितो ऽर्थः 'तत्त्वं जिज्ञासमानानाम्' इति श्लोके सङ्गृहीत इत्य्-अयम् अर्थः 'अध्यासीन-तुरङ्ग-वक्त्र-विलसज्-जिह्वाग्र-सिंहासनाद् आचार्याद् इह देवतां समधिकाम् अन्यां न मन्यामहे । यस्यासौ भजते कदाचिद् अजहद् भूमा स्वयं भूमिकां मग्नानां भविनां भवार्णव-समुत्ताराय नारायणः' इत्य्-अत्र-अन्ते नारायण-शब्द-प्रयोगेण सूचित इति दिक् ॥

०५ सर्व-गतिता@

एतावता सर्वस्य जगत आधारो व्यापकः स्वामी नियन्तान्तरात्मा नारायण इति निर्णीतम् । अथ उपक्रमे 'वरदः' इति सङ्ग्रहेणोक्तं

'शरणं सुहृद् गतिर् बन्धुर् नारायणः'

इति सौबाल-श्रुति-तात्पर्य-विषय-भूतम् "नाराणाम् अयनम्" इति तत्-पुरुष-समास-लब्धं सर्वस्य गतित्वम आह—ब्रह्मादीनाम इत्य-आदिना ।

ब्रह्मादिनां स-लोकानाम् ऋषीणाञ् च महात्मनाम् ॥ ९० ॥

साङ्ख्यानां योगिनाञ् चापि यतीनाञ् चा(मा)त्म-वेदिनाम् । मनीषितं वि(तानि)जानाति केशवो न तु तस्य ते ॥ ९१ ॥

ये केचित् सर्व-लोकेषु दैवं पित्र्यञ् च कुर्वते । दानानि च प्रयच्छन्ति तप्यन्ते च तपो महत् ॥ ९२ ॥

सर्वेषाम् आश्रयो विष्णुर् ऐश्वरं विधि(सर्ग)म् आस्थितः । सर्व-भूत-कृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥ ९३ ॥

[[३९२]]

अयं (एषो) हि नित्य = परमो महर्षिर् महा-विभूतिर् गुणवान् गुणाख्यः (निर्गुणाख्यः) । गुणैश् च संयोगम् उपैति शीघ्रं कालो यथर्ताव् ऋतु-सम्प्रयुक्तः (कालो यथार्थं व्रत-सम्प्रयुक्ते) ॥ ९४ ॥

नैवास्य विन्द (बुध्य) न्ति गतिं महात्मनो नचा (नैवा) गतिं कश्चिद् इहानुपश्यति । ज्ञान-आत्म-कास् संयमिनो महर्षयः पश्यन्ति नित्यं पुरुषं गुणाधिकम् ॥ ९५ ॥

इति श्रीमन्-महाभारते शान्ति-पर्वणि मोक्ष-धर्म-पर्वणि नारायणीये सप्त-पञ्चाशदधिक-त्रिशततमो ऽध्यायः हय-शिर-उपाख्यानं समाप्तम् ॥

ब्रह्मादीनाम्—ब्रह्मा चतुर्मुख आदिर् येषां तेषाम् । आदि-पदेन रुद्रादयो ग्राह्याः । मोक्ष-धर्मे पूर्वं

चिन्तयन्तो हि यं नित्यं ब्रह्मेशानादयस् स्वयम् । निश्चयं नाधिगच्छन्ति तम् अस्मि शरणं गतः ॥ (२१०-३३)

इत्य् आद्य्-उक्तेः । **सलोकानाम्**-जन-सहितानाम्, सकल-जन-सहितानां ब्रह्मादि-देवानाम् इति यावत् । सः-लोकानाम्, इति वा छेदः । एतेन त्रि-वर्गार्थिनः सङ्गृहीताः । अथ मोक्षार्थिन उच्यन्ते — ऋषीणाम् अतीन्द्रियार्थ-द्रष्टृणाम् । उपासनात्मक-योग-निष्ठानाम् इति यावत् । **महात्मनाम्** —'आत्मायत्नो धृतिर् बुद्धिः', इति कोशात् महा-बुद्धीनां महा-यत्नवताम् इति वार्थः ।

[[३९३]]

साङ्ख्यानाम् इत्य्-आदि अत्र साङ्ख्य-योग-शब्दौ ज्ञान-योग-कर्म-योग-वाचिनौ यतीनाम् 'सर्व-धातुभ्य इन्' (उ. सू. ४-५५७) इत्य्-औणादिकेन्-नन्तो यति-शब्दः । अविलम्बेन फलार्थं प्रयतमानानाम् आत्म-वेदिनाम् आत्म-निक्षेपवताम्, यतीनाम् आत्म-वेदिनाम् इत्य्-अनेन 'त्यागेनैके अमृतत्वम् आनशुः', 'संन्यास-योगाद् यतयश् शुद्ध-सत्त्वाः', 'ओम् इत्य्-आत्मानं युञ्जीत', 'तस्मान् न्यासम् एषां तपसाम् अतिरिक्तम् आहुः' इति नारायणीय-श्रुत्याद्य्-अर्थ उक्तः । ज्ञान-योग-कर्म-योग-समनन्तरम् आत्म-वेदन-कथनं च ज्ञान-योग-कर्म-योगयोर् इवात्म-

वेदनस्योपासनं प्रत्य्-अङ्गत्वम्, ज्ञान-योग-कर्म-योगाङ्गकत्वम् उपासनस्यैव न तु प्रपत्तेर् इति च बोधनाय । यद्वा 'मुमुक्षुणा यत् साङ्ख्येन योगेन न च भक्तितः । प्राप्यते परमं धाम यतो नावर्तते यतिः', 'तेन तेनाप्यते तत् तन् न्यासेनैव महा-मुने,', 'सत्-कर्म-निरताश् शुद्धास् साङ्ख्य-योग-विदस्तथा । नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमीम् अपि ।' इत्य्-अहिर्बुध्न्याद्य्-उक्त-प्रकारेणोपासन-वैलक्षण्य-ख्यापनायान्ते आत्म-वेदनोक्तिः ।

ननु पूर्वोदाहृत-श्रुतिषु त्याग-सन्यास-न्यास-शब्दानाम् एकार्थत्वम् अस्तु तथापि भगवद्-गीताष्टादशाध्याय-तद्-भाष्ययोः, त्याग-सन्यासयोः कर्म-योगोपयोगि-फल-सङ्ग-कर्तृत्व-त्याग-रूपता-व्यवस्थापनेन त्याग-सन्यास-शब्दयोर् आत्म-योग-परत्वं न सम्भवतीति चेत् । उच्यते । शान्ति-पर्वणि राज-धर्मे —

त्यागवान् जन्म-मरणे नाप्नोतीति श्रुतिर् यतः । प्राप्त-वर्त्मा कृत-मतिर् ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ७-३५ ॥

स धनञ्जय निर्द्वन्द्वो मुनिर् ज्ञान-समन्वितः । वनम् आमन्त्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परन्तप ॥ ७-३३ ॥

इति वदन्तं युधिष्ठिरं प्रति नकुलः —

विशाख-यूपे देवानां सर्वेषाम् अग्नयश् चिताः । तस्माद् विद्धि महाराज देवाः कर्म-फले स्थिताः ॥ १२-३ ॥

अनास्तिकानां भूतानां प्राण-दाः पितरश् च ये । ते ऽपि कर्मैव कुर्वन्ति विधिं पश्यस्व पार्थिव ॥ ४ ॥

[[३९४]]

वेद-वादापविद्धांस् तु तान् विद्धि भृश-नास्तिकान् । न हि वेदोक्तम् उत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु ॥ ५ ॥

देव-यानेन नाकस्य पृष्ठम् आप्नोति भारत । अत्याश्रमान् अयं सर्वान् इत्य्-आहुर् वेद-निश्चयाः ॥ ६ ॥

ब्राह्मणाः श्रुति-सम्पन्नास् तन् निबोध नराधिप । वित्तानि धर्म-लब्धानि क्रतु-मुख्येष्व्-अवासृजन् ॥ ७ ॥

कृतात्मा स महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः । अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः ॥ ८ ॥

आत्म-त्यागी महाराज स त्यागी तापसो मतः । अनिकेतः परिपतन् वृक्ष-मूलाश्रयो मुनिः ॥ ९ ॥ अयाचकः सदा योगी स त्यागी पार्थ भिक्षुकः । क्रोध-हर्षाव् अनादृत्य पैशुन्यं च विशेषतः ॥ १० ॥

विप्रो वेदान् अधीते यः स त्यागी गुरु-पूजकः । आश्रमांस् तुलया सर्वान् धृतान् आहर् मनीषिणः ॥ ११ ॥

एकतश् च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ।

इति ।।

अन्तर् बहिश् च यत् किञ्चिन् मनो-व्यासङ्ग-कारकम् । परित्यज्य भवेत् त्यागी न हित्वा प्रतितिष्ठति ॥ ५४ ॥

इति च प्रत्युवाच । एवं सहदेवो ऽपि -

न बाह्यं द्रव्यम् उत्सृज्य सिद्धिर् भवति भारत । शरीरं द्रव्यम् उत्सृज्य सिद्धिर् भवति वा न वा ॥ १३-२ ॥

द्व्यक्षरस् तु भवेन् मृत्युस् त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् । ममेति द्व्यक्षरो मृत्युर् न ममेति च शाश्वतम् ॥ ४ ॥

[[३९५]]

ब्रह्म-मृत्यू ततो राजन्न् आत्मन्य्-एव समाश्रितौ । अदृश्यमानौ भूतानि योजयेताम् असंशयम् ॥ ५ ॥

तस्माद् एकान्तम् उत्सृज्य पूर्वैः पूर्वतरैश् च यः । पन्था निषेवितः सद्भिः स निषेव्यो विजानता ॥ ८ ॥

स्वायम्भुवेन मनुना ततो ऽन्यैश् चक्र-वर्तिभिः । यद्य्-अयं ह्य्-अधमः पन्थाः कस्मात् तैस् तैर् निषेवितः ॥ ९ ॥

इति । चक्र-वर्तिनः—जनकोपरिचरादयः । यथाहानुगीतायां जनक आश्वमेधिके

आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम । यथा मम ततो ऽन्येषाम् इति मन्ये द्विजोत्तम ॥ ३३-११ ॥

कस्येदम् इति कस्य त्वम् इति वेद-वचस् तथा । नाध्यगच्छम् अहं बुद्ध्या ममेदम् इति यद् भवेत् ॥ इति ॥

नारायणाख्याने पाञ्चरात्रिक-धर्मानुदीक्षित उपरिचरो ऽप्याह —

आत्मा राज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनानि च । एतद् भगवते सर्वम् इति तत् प्रेक्षितं सदा ॥

इति ॥

अत्रात्म-त्यागस्य श्रौत-त्याग-शब्दार्थत्वं तस्य च 'न मम', 'आत्मापि चायं न मम', 'आत्मा राज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनानि च – एतद् भगवते सर्वम्' इत्य्-अनुसन्धान-विशेष-रूपत्वं च स्फुटम् इति 'ओम् इत्य्-आत्मानं युञ्जीति' इत्य्-उक्तात्म-योग-रूपस् त्यागः सन्न्यासः । एवं च उद्योग-पर्वणि ।

ये तम् एव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ॥ ६७-१५ ॥ एष ऐकायनः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ॥

इत्य्-अत्राप्यात्म-योग एव विवक्षित इति सिद्धम् । अत्र च मूलं भूतात्मानं प्रस्तुत्य 'आत्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद् गुणौधैर् उह्यमानः कलुषी-कृतश् चास्थिरश् चञ्चलो लोलुप्यमानः स-स्पृहो ऽव्यग्रश् चाभिमानित्वं प्रयाता इत्य्-अहं सो ममेदम् इत्य् एवं मन्यमानो निबध्नात्य्-आत्मनात्मानम्' ॥ ३ प्र. ॥ इति

[[३९६]]

'अस्य को विधिर् भूतात्मनो येनेदं हित्वा ऽऽत्मन्य्-एव सायुज्यम् उपैति । तान् होवाच' इत्य्-उपक्रम्य' अस्ति ब्रह्मेति ब्रह्म-विद्या-विद् अब्रवीत् । ब्रह्म-द्वारम् इदम् इत्य्-एवैतद् आह । यस् तपसा ऽपहत-पाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्य्-एवैतद् आह यः सुयुक्तो ऽजस्रं चिन्तयित' इत्य्-आदि मैत्रायणी-श्रुतिर् अपि । एवं 'नमो नमो वाङ्-मनसाति-भूमये' इति स्तोत्र-भाष्योदाहृताः "याः काश्चन कृतयो मम भगवित न मम ममतास्ति तासु भगवत एव ता अममो ऽहं भगवित अहम् अपि न मम भगवत एवाहम् अस्मीत्य्-एव ममतां योजयत्य्-अतो नमः" इत्य्-एकायन-श्रुत्यादयो ऽपीति । एतत्-तत्त्वं च प्रबन्धान्तरे निपुणतरं निरूपयिष्यते । अतश् चात्म-वेदिनाम् इत्य्-अस्य यथोक्त एवार्थः । मनीषितम् — मनीषा अस्य सञ्जाता इति तारकादित्वाद् इतच् । बुद्धिस्थं फलम् इति यावत् । केशव-शब्दार्थः पूर्वम् एवोक्तः अत्र ब्रह्माद्य्-अपेक्षित-विज्ञान-कथनेन तत्तद्-अपेक्षित-प्रदत्वं सिद्धम् ।

एवं 'तम् एव विदित्वा अति-मृत्युम् एति', 'वेदाहम् एतं पुरुषं महान्तम्' इत्य्-अत्र महा-पुरुषः केशव एव ।

'एको रुद्रः न द्वितीयाय तस्थौ', 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः' इत्य्-अत्र रुद्रो ऽपि 'य एनं विदुर् अमृतास् ते भवन्ति' इति तत्-पूर्व-श्रुतौ संसार-रुग्-द्रावकतया निर्ज्ञातो नारायण एव विवक्षितः । निर्वचनम् अपि 'रुजं द्रावयते यस्मात् तस्माद् रुद्र इहोच्यते' इति । नारायणीये 'त्यागेनैके अमृतत्वम् आनशुः' इति प्रघट्टके 'यः परः स महेश्वरः' इत्य्-अत्र महेश्वर-पदार्थः निरुपाधिक-परमैश्वर्यवान् नारायण इति 'ईश्वरो हि जगत्-स्रष्टा' इत्य्-उपक्रम एव निर्णीतम् ॥

पाद्मे ऽपि 'निरुपाधिकम् ऐश्वर्यं वासुदेवे प्रतिष्ठितम्' इति 'मनीषिणां च सर्वेषां केशवो ननु वै गतिः' इति क्वाचित्कः पाठः । तत्-पाठे गतिर् इति करणे क्तिन् । फल-लाभ-करणम् इत्य्-अर्थः । एतत्-पाठे नारायण-शब्दे तत्-पुरुष-समासार्थो वाचनिक एव । पूर्व-पाठे त्व्-आर्थिक इति बोध्यम् ॥

[[३९७]]

एतावता नारायणस्य परत्वं स्थापितम् । अथ 'यज्वभिर् यज्ञ-पुरुषो वासुदेवश् च सात्वतैः । वेदान्त-वेदिभिर् विष्णुः प्रोच्यते यो नतो ऽस्म्य्-अहम् ॥ ॥ ५-१७-१५ ॥ इति विष्णु-पुराणोक्त-सात्वत-वेदान्ति-सम्मत-पक्ष एव श्रुति-तात्पर्यम् इति पूर्वं 'ये यजन्ति पितृन् देवान् ज्ञेयो विष्णुर् इति श्रुतिः' । ॥ ३५६-७ ॥ इत्य-आदिना, अत्र 'नारायण-परा वेदाः' इत्य-आदिना च निर्णय-करणम् अनुचितम् । 'देवा वै सत्रं निषेदुः' इत्य्-आदि-बृहदारण्यक-प्रवर्ग्यार्थवादे 'विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः' इति वाक्येन विष्णोः कर्म-पर-वशत्व-प्रतीतेः इत्य-आक्षेपे "देवा वै सत्रं निषेदुः" इत्याद्य-उदाहृत-प्रवर्ग्यार्थवाद-वाक्यस्य विष्णोः कर्म-पर-वश-गौण-प्राद्र्भाव-परतायाः हरिवंशे व्यवस्थापनम् अभिसन्धाय, अत्र 'अग्निर् अवमो देवतानां विष्णुः परमः' इत्य्-आद्य्-उदाहृत-श्रुति-तात्पर्य-विषय-भूतं सर्व-कर्म-समाराध्यत्वं पूर्वम् उक्तम् एव शिष्य-बुद्धि-सौकर्याय हय-शिरस्य्-अपि स्मारयति —'ये केचित्' इत्य्-आदिना 'वासुदेव इति चोच्यते' इत्य्-अन्तेन । येकेचित् देव-जातीया मनुष्य-जातीया वा । सर्व-लोकेषु चतुर्मुख-स्थान-भूत-सत्य-लोकादि-सकल-भुवनेषु । **दैवम्** —'सास्य देवता' (पा. स्. ४-३-३४) इत्य्-अण् । तत्-तद्-देवोद्देशेनानुष्ठीयमानम् इत्य्-अर्थः । **पित्र्यम्** —'सास्य देवता' इत्य्-अर्थे 'वाय्व्-ऋतु-पित्र्-उषसो यत्' (पा. स्. ४-२-३१) इति यत् । दानानि - गो-भू-हिरण्यादि-दानानि । महत् तपः - कृच्छु-चान्द्रायणादिकम् । तप्यन्ते अनुतिष्ठन्ति । 'तपस् तपः-कर्मकस्यैव' (पा. सू. ३-१-८८) इत्य्-आत्मने-पदम् । पाकं पचतीतिवत् प्रयोगः । सर्वेषाम् आश्रयः सर्व-पुरुषाणां फल-प्रदाता । तथा च श्रुतिः 'इष्टापूर्तं बह्धा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः' इति । आह्श् च द्रमिडाचार्याः 'फल-संबिभत्सया कर्मभिर् आत्मानं पिप्रीषन्ति स प्रीतो ऽलं फलायेति शास्त्र-मर्यादा' इति । **ऐश्वरम्** – ईश्वर-सम्बन्धि-विधिम्, नियमन-रूपम् । अन्तर्यामित्व-कथनेन विष्णोर् मुख्यावतारत्वं ख्यापितम् । सर्व-भूत-कृतावासः 'सर्व-भूतैः कृत आवासो यत्र' 'सर्व-भूतेषु कृत आवासो येनेति वा' 'सर्व-भूताधिवासं च' इत्य-उदाहृत-श्रुतिर इह भाव्या । एतेन 'चत्वारि शृङ्गा' इत्य-आदि-श्रुति-तात्पर्य-विषयार्थो निर्णीतः । तेन

यज्वभिर् यज्ञ-पुरुषो वासुदेवश् च सात्वतैः । वेदान्त-वेदिभिर् विष्णुः प्रोच्यते यो नतो ऽस्म्य् अहम् ॥ ५-१७-१५ ॥

इति विष्णु-पुराण-वचने सात्वत-वेदान्त-वेदि-सम्मत एव पक्षः पराशरस्याभिप्रेत इत्य्-अपि व्यवस्थापि । तद्-उत्तरं 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः' इत्य्-अत्र रुद्रः पूर्वोक्त-दिशा हय-शिरा एवेति भावः ॥ १९ ॥

ननु तैत्तिरीयारण्यके 'रुद्रस्य त्व्-एव धनुर् आर्तिः शिर उत्-पिपेष । स प्रवर्ग्यो ऽभवत्' इत्य्-आदि-श्रुतौ रुद्रस्य शिर उत्पेषणं श्रूयते । पूर्वोदाहृत-प्रवर्ग्यार्थवादे च विष्णोः । अतः 'यो देवानाम्' इत्य्-आदिषु नारायणीय-श्वेताश्वतरादि-श्रुतिषु रुद्र-शब्द-वाच्यस्यापि नोत्कर्ष-सम्भव इति मन्दाक्षेपे 'रुद्रो वा एष यद् अग्निः' इति श्रुत्या तैत्तिरीयारण्यके रुद्र-शब्दार्थ आरुण-केतुकाग्निर् एवेति स्फुटतरम् एवोक्तम् इति तत्र समाधानाक्तिर् अनपेक्षितेत्य्-अभिप्रेत्य 'यो देवानाम' इत्य-आदि-नारायणीय-सन्दर्भस्य श्वेताश्वतर-प्रकरणस्यापि भावम आह अयं हि नित्य इत्य-आदिना । अयं हय-शिरा वासुदेवः, नित्यः, हीति 'नित्यो नित्यानाम्' (कठोप, श्वेता. उ.) इत्य-आदि श्रृति-प्रसिद्धौ । एतेनास्य शिर उत्पेषणादिकं न सम्भवतीति सुचितम । परमः 'सर्व-भृताधिवासं च' इत्य-आदिश्रत्य-उक्त-रीत्या सर्व-भृताधिवासस्य सर्वानुग्राहकस्यैव खल् सर्वोत्कर्षः । एतेन 'विश्वाधिपः' 'विश्वाधिकः' इति श्वेताश्वतर-नारायणीय-श्रृति-घटक-पद-द्वयार्थ उक्तः । 'यस्मात् परं नापरम् अस्ति किञ्चित्' इत्य्-आद्य्-अप्य्-अत्रैव सङ्गतम् इति भावः । महर्षिः सर्वज्ञः — इदम् उपलक्षणं शक्त्यादेर् अपि । महा-विभृतिः 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्य-एकस् तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इत्य-आद्य-उक्त-रीत्या लीला-भोग-विभूति-द्वय-समृद्धः । गुण-वर्जिताख्यः गुणा वर्जिता येन, गुणैर वर्जित इति वा गुण-वर्जितः । सर्व-भूताधिवासे ऽपि वासुदेवे भूत-सम्बन्धिनां सत्त्व-रजस्-तमसां कर्म-मूल-सुखादीनां च न लेप इति भावः । एतेन 'एको देवः – निर्गुणश् च' इति श्रुत्य्-अर्थ उक्तः । एवं सति सर्व-व्यापकस्य 'निर्गुणो गुण-भुक् चैव गुण-स्रष्टा' इति नारायणाख्यानोक्तं गुण-स्रष्टृत्वं कथम् इति शङ्कायां सोदाहरणम् उपपादयति गुणैश् च इत्य-आदिना । अत्र गुण-पदं सत्त्व-रजस्-तमोगुणान्वित-तत्-तद्-वस्तु-परम ।

[[३९८]]

शीघ्रम् प्रलय-कालात्मिका रात्रिर् एकैव विलम्ब इति भावः । काल इत्य्-आदि । यथा विभोः कालस्य विभूति-द्वय-सम्बद्धस्य लीला-विभूताव्-उपाधि-भूत-वसन्ताद्य्-ऋत्व्-अपगमे ग्रीष्माद्यृतु-सम्बन्धस् तथा वासुदेवस्यापि प्रकृति-गताव्यक्ताद्य्-अवस्थापगमे महदाद्य्-अवस्थावद्-गुणान्वित-वस्तु-सम्प्रयोगः । लोके ऋतु-शब्दस्य काल-पर्यवसायि-व्यवहारवन् महदादि-शब्दानाम् अपि ब्रह्म-पर्यवसायि-व्यवहारः प्राज्ञानाम् । यथाहुः श्वेताश्वतराः 'केनेषितं कर्म विवर्ततेह पृथ्व्य्-आप्य-तेजो-ऽनिलखानि चिन्त्यम् । तत् कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस् तत्त्वेन तत्त्वस्य समेत्य योगम् ॥ एकेन द्वाभ्यां त्रिभिर् अष्टभिर् वा कालेन चैवात्म-गुणैश् च सूक्ष्मैः' । 'आदिस् स संयोग-निमित्त-हेतुः परस् त्रि-कालाद् अकलो ऽपि दृष्टः' इति । इत्थं चाणु-मात्रे ऽपि वस्तुनि स्थितस्य निरवधिक-षाड्गुण्य-विशिष्टतया प्रतिपत्ति-योग्यत्व-रूपं पूर्णत्वम् अप्य्-अक्षतम् इति सर्व-तत्त्व-संयुक्तत्व-रूपं सर्व-व्यापकत्वं वासुदेवस्य निर्बाधम् इति भावः ॥ ९३ ॥

ननु 'ईश्वरो हि जगत्-स्रष्टा' इत्य्-आदिना 'गुणैश् च संयोगम् उपैति' इत्य्-अन्तेन नारायणस्य सर्व-जगत्-स्रष्टृत्वाकर्म-वश्यत्व-सर्व-व्यापकत्व-सर्व-तत्त्व-संयोग-प्रतिपादनं हय-शिरसस् तद्-अवतार-रूपत्वेन परत्व-कथनं चानुचितम् । संयोगस्याप्राप्त-प्राप्ति-रूपत्वेन सर्व-व्यापकस्य सर्व-संयोगाभावात्, अद्वितीय-श्रुति-विरोधाच् च । शतपथ-ब्राह्मणे 'पुरुषो ह वै नारायणो ऽकामयत । आतिष्ठेयँ सर्वाणि भूतान्य्-अहम् एवेदँ सर्वं स्याम् इति । स एतं पुरुष-मेधं पञ्च-रात्रं यज्ञ-क्रतुम् अपश्यत् तम् आहरत् तेनायजत तेनेष्ट्वात् ऽत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानीदँ सर्वं भवति य एवं विद्वान् पुरुष-मेधेन यजते यो वैतद् एवं वेद', (१२ प्र. ६ अ.) इति पुरुष-मेधार्थवादे । तत्रैवान्यत्र 'पुरुषं ह वै नारायणं प्रजापतिर् उवाच यजस्व

यजस्वेति स होवाच यजस्व यजस्वेति वावत्वं मामात्थ त्रिर् अयक्षि' इत्य्-आदौ च नारायणस्य कर्म-वश्यत्व-प्रतीतेश् च । इति शङ्कायाम् – श्वेताश्वतरोपनिषदि बहुधाभ्यस्त-नारायण-शब्द-योगार्थ-भूत-सर्व-व्यापकत्व-लिङ्गादिभिर् नारायणस्य परत्वं व्यवस्थापितम् ।

[[३९९]]

सुबालोपनिषदादिभिश् च तद् एव दृढीकृतम् । इति पुरुष-मेधार्थवाद-वाक्यस्य नारायण-नामक-कर्म-परवश ऋषि विषयत्वं तत एव निश्चितम् इति समाधान-कथनमनावश्यकमित्यभिप्रेत्य श्वेताश्वतर-श्रुति-सच्छाय कतिपय-श्रुति-घटिते 'स्वर्ण-घर्मानुवाकेन' इति प्राग् उदाहृत श्रीभागवत-वचने वासुदेवार्चने विनियुक्ते -

तद् विष्णोरिति मन्त्रेण सूक्तेन पुरुषेण वा । नैवाभ्यां सदृशो मन्त्रो वेदेषूक्तश्चतुर्ष्वपि ॥

इति स्वीय-स्मृतौ 'इदं पुरुष-सूक्तं हि सर्ववेदेषु पठ्यते ॥' इति तत्रैवोत्तरत्र च सर्व-वेद-पठितत्वेनोत्कर्षमभिधाय नारायण-परत्वेन निर्णेष्यमाणे पुरुष-सुक्ते 'यत्पुरुषेण हविषा' इति मन्त्रे हयशिरसो विवक्षा व्यञ्जनाय तदर्थमत्रापि संग्रहीष्यन संयोगस्याप्राप्त-प्राप्ति-रूपत्वं साङ्केतिकमिति, अद्वितीयत्व-श्रुतिः सजातीय-निषेध-परेति च व्यञ्जयन् 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' इत्य्-उपनिषत्-तात्पर्य-विषयत्वेनोक्तः पुरुषः गुणाधिको नारायण एवेति स्थापयति **नैवास्य**-इत्य-आदिना । **महात्मनः** सर्वव्यापकस्य यद्वा महत्त्वं सकल-गुण-पूर्णत्वम् । गतिं न विन्दन्ति, आगतिं च कश्चिद् अपि नानुपश्यति अणोः खलु गत्यागती सम्भवतः । श्रौत-नारायण-विष्णु-वासुदेवादि-शब्दैस् सर्वव्यापकत्वादिभिश्च श्रुतिषु प्रख्यातस्यास्य गत्यागती कदापि न सम्भवत इति भावः । पूर्वोदाहृत-श्रुतिभिस् सर्व-संयुक्तत्वेन प्रमिते नारायणे 'अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिस सैव संयोग ईरितः' इति वैशेषिक-परिभाषा दयावद्भिर् जन्य-वस्तु-द्वय-संयोग-विषयकतया रक्षणीयेति भावः । ज्ञानात्मकाः ज्ञानं - परावर-तत्त्व-विषयिणी बुद्धिः, आत्मा-स्वभावो येषान्ते । **संयमिनः** 'त्रयमेकत्र संयमः' इति पातञ्जल-सूत्रोक्त-प्रकारेण धारणा-ध्यान-समाधिमन्त इत्य-अर्थः । महर्षयः महा-मन्त्र-द्रष्टारः । नित्यं पुरुषं गुणाधिकं पश्यन्तीति गुणाधिकं पुरुषं नित्यं पश्यन्तीति वा योजना । पुरुषम् 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' (बृ. उ. ५-९-२६) इत्य-उपनिषत्-तात्पर्य-विषयत्वे-नोक्तम् । 'स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन औषत्' (ब्र. उ. ३-४-१) 'स वा अयं सर्वासु पूर्षु पुरि शयः' (ब्. उ. ४-५-१८) इति सर्व-जगत्-कारणत्व सर्व-पाप-दाहकत्व सर्व-शरीरित्वाणि पुरुष-शब्द प्रवृत्ति-निमित्तानि प्रतिपादितानि । पुरुष-शब्दार्थ एव ब्रह्म इत्य्-उत्तरत्र 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर् दातुः परायणम् । तिष्ठमानस्य तद्विदः' (ब्र. उ. ५-९-२८) इत्य्-अन्तिम-श्रुतौ स्फटम् ।

[[800]]

इह 'परायणम्' इत्य्-अत्र नारायण-शब्दार्थ-भूतं मुक्ति-साधनत्वं व्यक्तम् । इत्थं चोदाहृत-श्रुति-पर्यालोचनायामुपनिषत्-तात्पर्य-विषयी-भूतस्य पुरुषस्य निर्गुणत्वं न कथञ्चिद् अपि सम्भवतीति गुणाधिकत्वमेव श्रौत-सिद्धान्त इति 'पुरुषं गुणाधिकम्' इति पद-द्वयेन बोधितम् । स च ज्ञानादि गुण-षट्कवान् वासुदेव एव । गुणाधिकम् - गुणैर् ज्ञान-शक्त्यादिभिरधिकम् । नित्यं - निर्विकारं

पश्यन्ति । तथा च श्वेताश्वतराः 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्व' इत्य्-अतः प्राक् 'ज्ञः काल-कालो गुणी सर्वविद्यः', 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इत्य्-आदिना सामान्यतो विशेषतश्व, 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश् च' इत्य्-अनन्तरं 'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति', 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्', 'ज्ञः काल-कालो गुणी सर्वविद्यः' इत्य्-अनेन विशेषतस् सामान्यतश्च 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादिना अन्ते मोक्षोपायत्व सर्व-कर्म-दाहकत्व मुक्त्युपाः-यज्ञान-विषयत्वादिभिर् विशेषतश्च गुणैः प्रज्ञातं तत्त्वं 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम्' इत्य्-उद्घोषन्ति । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इत्य्-अनेन गुणैस् तत्समं तदधिकं वा परं तत्त्वं च प्रतिषेधन्ति । अत्र 'ईश्वरो हि जगत्-स्रष्टा स-गुणो निर्गुणोऽपि च', 'पश्यन्ति नित्यं पुरुषं गुणाधिकम्' इत्य्-उपक्रमोप-संहाराभ्यां श्वेताश्वतरोपनिषत्-तात्पर्यमुक्त-रीत्या व्यासेन निर्धिरितं भवति । अत्र गुणाधिकम् - इत्य्-अनेन वेदान्तेषु यत्परं वस्तु प्रतीयते तत्र परत्वं गुण-कृतमेव । तत्त्वतो गुणानङ्गीकारे तस्य परत्वमेव न स्याद्-इति बोधितम् । कूटस्थ-नित्यं परिणाम-नित्यमिति 'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति पातञ्जल-साङ्ख्य परिभाषा चाप्रामाणिकीति भावः ।

[[\vert \cdot \varphi]]

अत एव आथर्वणा अपि 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्याद्युपक्रम्य 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं यद्भूत-योनिं परिपश्यन्ति धीराः' इत्य्-अत्र भूत-योनित्वम् 'यथोर्णनाभिस् सृजते गृह्णते च' इत्य्-आदिना परिणामि-कारणत्वमेवेति प्रख्यापयन्ति । धर्म-धर्मिणोरत्यन्त-भेदस्य 'नारायणात्मको गन्धो भूमेश् श्रेष्ठतमस् स्मृतः' इत्य्-आदिना पूर्वमेव व्यवस्थापनेन धर्मिण आगन्तुक-धर्म-सम्बन्धस्य स्वरूप-सङ्कोच-विकासात्मक-विकारापादकत्वं तु हास्यमेवेति ।

एतेन 'महान् प्रभुर्वै पुरुषः', 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्', 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्', 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्', 'परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते', 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः', 'अक्षरात्परतः परः' इत्यादौ पुरुषस्य परत्वं गुण-निबन्धनमेवेति बोधितम् । अयमर्थः उत्तरत्रापि 'तथा तं पुरुषं नित्यं व्याख्यास्यामि गुणाधिकम्' इत्य्-आदि प्राक् (९३ पुटे) उदाहृत-वचन-सन्दर्भे स्फुटः ।

वर्षायुतैर्यस्य गुणा न शक्या वक्तुं समेतैरपि सर्वदेवैः । महात्मनः शङ्ख-चक्रासि-पाणेर् जिष्णोर् विष्णोर् वसुदेवात्मजस्य ॥

इति महाभारत-पूर्व-वचने निर्गुण-पदस्य परिच्छिन्न-गुण-शून्य इत्य्-अर्थो ऽपि व्यक्तः । तदुक्तं विष्णुधर्मे -

> सत्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः । न हि तस्य गुणाः सर्वे सर्वैर् मुनिगणैरपि ॥ वक्तुं शक्या वियुक्तस्य सत्त्वाद्यैर् अखिलैर् गुणैः ॥

इति ।

अत्र 'गुणाधिकः' इत्य्-उपक्रम्य 'निर्गुण' इत्युक्त्या उपक्रमाधिकरण-न्यायः, 'हित्वा गुणमयं सर्वम्' इत्यादिना 'सत्वादयो न सन्तीशे' इत्य्-आदिना च उत्सर्गापवाद-न्यायश् च सूचितः ।

[[४o१]]

हयशिर उपाख्याने 'गुणाधिकम्' इत्य्-उपसंहार-वचनेन 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधित ततो ब्रवीति च भूयः' (शा. सू. ३-२-२१) इति न्यायश् च सूचितः । अधिकमन्यत्र द्रष्टव्यम् । 'हित्वा गुणमयं सर्वम् - एवं भवति निर्गुणः', 'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणस् स्मृतः । स हि नारायणो ज्ञेयस् सर्वात्मा पुरुषो हि सः' इत्याद्यभिधाय उत्तरत्र 'इदं पुरुष-सूक्तं हि सर्ववेदेषु पठ्यते' इत्य्-उपक्रम्य 'चतुर्विभक्त प्ररुषस् स क्रीडित यथेच्छिति' इत्य्-उपसंहारेण पुरुष-सूक्तस्यापि औपनिषद-पुरुष-नारायण-परत्वं वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्ध-रूप चतुर्व्यूह-परत्वं च स्थापितम् । यथोक्तं पुरुष-संहितायाम् —

सहस्रशीर्षेत्यत्र सशब्दो ऽनन्तवाचकः । अनन्तयोजनं प्राह दशाङ्गुल-वचस् तथा ॥ तत्र प्रथमया विष्णोर् देशतो व्याप्तिरीरिता । द्वितीयया चास्य विष्णोः कालतो व्याप्तिरुच्यते ॥ विष्णोर् मोक्ष-प्रदत्वं च कथितं तु तृतीयया । एतावानिति मन्त्रेण वैभवं कथितं हरेः ॥ एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषितः । त्रिपाद् इत्य्-अनया प्रोक्तमनिरुद्धस्य वैभवम् ॥ तस्माद् विराड् इत्य्-अनया पाद-नारायणाद् धरेः । प्रकृते≍ पुरुषस्यापि समुत्पत्ति≍ प्रदर्शिता ॥ यत्पुरुषेणेत्यनया सृष्टि-यज्ञस् समीरितः । सप्तास्यासन् परिधयस् समिधश् च समीरिताः ॥ तं यज्ञमिति मन्त्रेण सृष्टि-यज्ञस् समीरितः । अनेनैव च मन्त्रेण मोक्षश् च समुदीरितः ॥ तस्माद् इति च मन्त्रेण जगत्-सृष्टिस् समीरिता । वेदाहम् इति मन्त्राभ्यां वैभवं कथितं हरेः॥

[[४o२]]

यज्ञेनेत्युपसंहारस् सृष्टेर् मोक्षस्य चेरितः । य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति ॥

इति ।

मुद्गलोपनिषदि च 'पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच् चासीत् । स च सर्वस्मान् मिहम्नो ज्यायान् । तस्मान् न कोऽपि ज्यायान् । महापुरुष आत्मानं चतुर्धा कृत्वा त्रिपादेन परमे व्योम्नि चासीत् । इतरेण चतुर्थेनानिरुद्ध-नारायणेन विश्वान्य् आसन् । स च पाद-नारायणो जगत्-स्रष्टुं प्रकृतिं पुरुषं चाजनयत् । स समृद्धकायस् सन् सृष्टि-कर्म न जिज्ञवान् । सो ऽनिरुद्ध-नारायणस् तस्मै सृष्टिम् उपादिशत् । ब्रह्मन् तवेन्द्रियाणि याजकानि ध्यात्वा कोश-भूतं दृढ-ग्रन्थि कलेवरं हिवर् ध्यात्वा वसन्त-कालम् आज्यं ध्यात्वा ग्रीष्मम् इध्मं ध्यात्वा' इत्यादि ।

- एवमेव शाण्डिल्य ब्राह्मणे ऽपि ।
- विष्णुधर्मोत्तरे च शङ्कर-गीतासु -
 - भगवान् वासुदेवस् तु देवस् सङ्कर्षणस् तथा । प्रद्युम्नश् चानिरुद्धश् च प्रभावो ऽयमुदाहृतः ॥ (१-६३-३४)

इत्य् उपक्रम्य-

तदेतत् पठ्यते सूक्ते पौरुषे द्विजसत्तम । पादो ऽस्य विश्वभूतानि त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि ॥

इति ।

वैकुण्ठ-संहितायां च-

स चादि-पुरुषो विष्णुस् सर्वव्यापी सनातनः । शरीरात्स्वाज्जगत्-त्रातुं सङ्कर्षणमभावयत् ॥ स च सङ्कर्षणो देव = प्रद्युम्नं समभावयत् । स च प्रद्युम्न-संज्ञस् सन्ननिरुद्धमभावयत् ॥ तस्माद् ब्रह्मा समुत्पन्नो जगत्-स्रष्टुं चराचरम् । एवं चतुर्धा संव्यूह्य स्वात्मानं पुरुषोत्तमः ॥

[[803]]

अण्डेभ्यः परतो नित्यं त्रिपादेन विराजते । जगत्-सृष्ट्यादि-कर्माणि कर्तु-कामस् स्वलीलया ॥

इति ।

न च ज्योतिरधिकरण-श्रुत-प्रकाशिकायां भोग्य-भोगोपकरण-भोग-स्थानैर् मुक्त-नित्य-नित्य-सिद्धैर् वा त्रिपात्त्वोक्ति-विरोध इति वाच्यम् । तत्र सङ्कर्षण-प्रद्युम्ना-निरुद्धाभिमन्यमानानां भोग्य-भोगोपकरण-भोग-स्थानानाम् अभिप्रेतत्वेना-विरोधात् । यद्यप्यभिमानि-सङ्कर्षणादि- प्राधान्यम् एव वक्तुम् उचितम्, तथापि 'पादो ऽस्य विश्वा भूतानि' इत्य्-अनेन पूर्वं भूतैर् एकपात्त्वोक्तेस् तदनुरोधेन त्रिपात्त्वमभि-मन्यमान-प्राधान्येनाभिहितमिति बोध्यम् ।

ऋग्वेदिनां मुद्गलोपनिषदि अनिरुद्ध-नारायण-वाक्ये 'मां हविर्भुजं ध्यात्वा' इत्य्-अत्र अस्मच्-छब्दार्थो ऽनिरुद्धो हयशिरोधर एव विवक्षितः । पूर्वोदाहृत-भारत-वचनेषु अनिरुद्धस्य हयशिरोधरस्यैव चतुर्मुख-सर्गौपयिक-ज्ञानोपदेशादि-प्रतीतेः । शान्ति-कमलाकरोदाहृत-महार्णव-ऋग्विधान-वचनेषु 'यत् पुरुषेण हविषा' इति पुरुष-सूक्त-मन्त्रेण हयशिरो-ध्यानस्य स्फुटत्वाच् च ।

दद्यात् पुरुष-सूक्तेन यः पुष्पाञ्जलिमेव वा । अर्चितं तेन वै सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥

[[808]]

इत्य् उपक्रम्य -

षष्ठ्या ऽनलस्य मध्ये तु कल्पयेत्पद्मम् आसनम् । चिन्तयेत् तत्र देवेशं कालानल-सम-प्रभम् ॥ विवृत्तास्यं वाह-शीर्षं रक्तास्यं रक्त-लोचनम् ॥

इति ॥

एवं हुत्वा ततश् चैवम् अनुज्ञाप्य यथा-क्रमम् । अग्नेर् भगवतस् तस्य समीपे स्तोत्रम् उच्चरेत् ॥ जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस् ते विश्वभावन । नमस् ते ऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ॥

इत्य् उपक्रम्य -

इत्य्-एवमनया स्तुत्या स्तुत्वा देवं दिने दिने । किङ्करो ऽस्मीति चात्मानं देवायैवं निवेदयेत् ॥

इति जितन्ता स्तोत्रमपि तत्रोक्तम् ।

[[४०५]]

अत्रत्यः 'जितं ते पुण्डरीकाक्ष' इति प्रथमः श्लोकः नारायणाख्याने -

'इति शब्दः श्रुतो ऽस्माभिः शिक्षा-स्वर-समन्वितः' इति श्वेतद्वीपे नारदेन श्रुत इत्य् उक्तम् । तदर्थश्-चाहिर्-बुर्ध्य-संहितायां (५३ अ.) व्यक्तः । जितन्ता-स्तोत्रं च ऋग्वेद-खिलमिति कृष्ण-पादैरुक्तम् । एतदाशयश् च (४७) पूर्वमेवोक्तः ॥ वस्तुतस्तु 'जितन्ते पुण्डरीकाक्ष' इत्य्-आदेः ऋग्वेद खिलत्वे बह्व्चानां सम्प्रतिपत्तिर् नास्ति । 'जितन्ते' इति मन्त्रं प्रस्तुत्य 'एकस् तत्र श्रुतो ऽस्माभिः शिक्षाक्षर-समन्वितः' इत्य् उक्तिरपि 'जितन्ते' इत्य् आदेर् वेदतां बोधियतुं नालम् । पाणिनीय-शिक्षाया वेदासाधारण्य-विरहेण अत्रत्य-शिक्षा-पदार्थस्य वेदासाधारण्य-विरहे ऽप्युपपत्तेः । 'स्वर्ण-घर्मानुवाकेन तथा पुरुष-विद्यया' इत्य्-आदि-प्रागुदाहृत-श्रीभागवत-वचने वेद-वाक्य साहचर्य-मात्रेण पुरुषाविद्या-पदार्थ-भूतं जितन्ता-स्तोत्रं न वेदान्तर्गतमिति निश्चेतुं शक्यते । तत्-पूर्व-श्लोके 'उभाभ्यां वेद-तन्त्राभ्याम्' इत्य्-अनेन वेद-पञ्चरात्रयोर् उभयोर् अपि भगवद्-आराधन-करणत्वोक्त्या जितन्ता-स्तोत्रस्य पञ्चरात्रान्तर्गतत्वेन पुरुष-विद्या-व्यतिरिक्तस्यैतच्-छलोके पञ्चरात्रान्तर्गतस्य कस्याप्यभावेन पुरुष-विद्या-पदार्थस्य जितन्ता-स्तोत्रस्य पञ्चरात्रान्तर्गतत्वेन प्रसिद्धिश् च विद्यते । अत एव वेदार्थ-सङ्ग्रहे भगवता परमात्मनः सर्व-शब्द-वाच्यत्वं श्रुतिभिः प्रसाध्योपबृंहणैस् तत्-साधनावसरे 'तथा च पौराणिकानि वचांसि' इत्य् उपक्रम्य विष्णुपुराण सहभावेन 'कार्याणां कारणं पूर्वं वचसां वाच्यम् उत्तमम्' इति जितन्ता-स्तुत्यन्तर्गत वचन-खण्डं "वेदैश् च सर्वैर् अहमेव वेद्यः" इति गीता-वचनं चोदाहृत्य 'इत्य्-आदीनि हि सर्वाणि वचांसि सशरीरात्म-विशिष्टम् अन्तर्यामिणम् आचक्षते' इत्य उक्तिः सङ्गच्छते ।

[[४०६]]

तथा च 'पौराणिकानि वचांसि' इति वाक्यं 'स्मृति-वचनं दर्शयति तथा चेति' इत्य् अवतारितम् । 4 'स्मृति-पुराणयोर् अपि' इति जिज्ञासाधिकरण श्री-भाष्य-वाक्ये स्मृति-पुराणयोर् भेदः प्रतीयत इव । तत्रापि स्मृतिस् सामान्यं, पुराणं च विशेषः । गोबलीवर्द-शब्दवद् उभयोर् निर्देशः इत्य्-अनेन निर्धारितं भवति । स्मृत्यधिकरणे 'अन्य-स्मृत्यनवकाश-दोष-प्रसङ्गात्' इत्य्-अत्र स्मृति-शब्दे धर्मशास्त्रेतिहास-पुराण-त्रयस्यापि विवक्षितत्वम् अभिप्रेत्य भगवता त्रितय-वचनानाम् उदाहरणेन अत्रापि पौराणिक-वचांसीति धर्मशास्त्रेतिहास-वचसामुपलक्षकः स्मृति-सामान्य-पर इति व्यासार्याणाम आशयः । देवताधि-करण श्री-भाष्ये 'संकीर्ण ब्राह्मण-मन्त्रार्थवाद-मुलेष् धर्मशास्त्रेतिहास-पुराणेषु' इत्य् उक्तम् । पञ्चरात्राधिकरण श्री-भाष्ये च 'अतस् स भगवान् वेद-वेद्यः पर-ब्रह्माभिधानो वासुदेवः' इत्य् उपक्रम्य 'स्व-स्वरूप-स्व-विभूति-स्वाराधन-तत्-फल-याथात्म्य-वेदिनो वेदान्-विध्यर्थवाद-मन्त्र-रूपान् स्वेतर-सकल-सुर-नर-दुरवगाहांश् चावधार्य तदर्थ-याथात्म्यावबोधि-पञ्चरात्र-शास्त्रं स्वयमेव निरमिमीत' इत्य् उक्तम् । एतेन पञ्चरात्रस्य वेदोपबृंहणत्वं सिद्धम् । अत्र श्री-भाष्ये उदाहृतस्य 'भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम्' इति वचनस्यानन्तरं 'अस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायम्भुवः स्वयम्' इति वचनं व्यासयैर् उदाहृतम् । एतेन पञ्चरात्रस्य धर्म-शास्त्रत्वं सिद्धम् । एवं च पञ्चरात्रम् अपीतिहास-पुराणवद् धर्म-शास्त्रत्वेन स्मृतिर् एवेति व्यासार्याणाम् आशयः स्फुटः । न्याय-परिशुद्धौ च स्मृति-त्रैविध्यं धर्मशास्त्रेतिहास-पुराण-भेदेनाभिधाय पञ्चरात्रस्य धर्म-शास्त्रत्वेन स्मृतित्वम् आचार्य-पादैर् अभिहितम् इति, भाट्ट-दीपिका-व्याख्यायां खण्ड-देव-शिष्येण शम्भु-भट्टेनापि पञ्चरात्रस्य धर्म-शास्त्रत्वम् उक्तम् इति च पूर्वम् (११३) एव निरूपितम् । शान्ति-कमलाकरोदाहृत-महार्णव-ऋग्विधान-वचनेषु पुरुष-सूक्त-होमानन्तरं 'जितन्ते पुण्डरीकाक्ष' इत्य्-आदिनोपस्थानोक्तिः, ऋग्वेद-पाठ-पठितं व्रतम एतत सुदश्चरम' इति नारायणाख्यान-वचने पाञ्चरात्रिक-व्रतस्य

ऋग्वेद-पाठ-पठितत्वोक्त्या ऋग्वेद-पञ्चरात्र सौहार्द-सिध्या ऋग्वेद-कर्मणि पञ्चरात्रान्तर्गत-जितन्त-स्तुतेः उपस्थान-मन्त्रत्वे ऽप्युपपद्यत इति बोध्यम् । अतः जितन्ता-स्तोत्रं पञ्चरात्रान्तर्गतम् इत्य् एव श्री-भाष्यकारादीनाम् आशयः । पुरुष-सूक्त-प्राथमिक-मन्त्र-चतुष्टयस्य वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्ध-परत्वम् अहिर्बुध्न्येन एकोन-षष्टितमे ऽध्याये स्पष्टम् अभिहितम् । एवमन्यान्यपि पुरुष-सूक्तस्य भगवत्-परत्व-निर्णायकानि श्रीमद्-आचार्य-प्रबन्धे द्रष्टव्यानि । इत्थं च पुरुष-सूक्तस्योपाख्यानोपक्रमोक्त भगवच्-छब्द-वाच्यौपनिषद-पुरुष-परतया तदवतार-हय-शिरः-परत्वस्यापि निर्बाधतया पुरुष-मेधार्थवाद-वाक्यस्य नारायणाख्य-कर्म-परवश ऋषि-विषयत्वं सर्वैर् अप्य् आस्थेयम् एवेति बोध्यम् ।

[[४०७]]

अत्र चोपाख्याने —

ईश्वरो हि जगत्-स्रष्टा प्रभुर् नारायणो विराट् । भूतान्तरात्मा वरदस् सगुणो निर्गुणो ऽपि च ॥

इत्य् उपक्रमेण -

तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिस् सर्वतो मुखैः । तत्त्वम् एको महा-योगी हरिर् नारायणः प्रभुः ॥

इति जनक-याज्ञवल्क्य-संवादाद् युक्तार्थ-सङ्ग्रह-रूपोपसंहारेण 'अयं हि नित्यः परमः', 'पश्यन्ति नित्यं पुरुषं गुणाधिकम्' इत्य् उपाख्यानोपसंहारेण च श्रुतिषु ईश्वर-शब्दार्थो नारायणः अन्तः प्रविश्य नियन्ता स एव जगत्-स्रष्टृत्वेन पिता, अन्तर्यामित्वेन सुलभः दयावान्, जीवानाम् अन्तः प्रविश्य नियन्तृतया स्थितत्वेनैक्य-व्यपदेशार्हः, जीवानां निरतिशय-प्रीति-विषयः । स एव मुक्ति-प्रदाता औपनिषदः पुरुषः सर्व-वेद-पठित-सर्व-वेद-श्रेष्ठ-पुरुष-सूक्त-प्रतिपाद्यः निर्गुण-श्रुति-समनन्तर-श्रुतिषु नित्यतया गुणाधिकत्वेन निरतिशय-भिक्ति-विषयत्वेन मुक्ति-साधनत्वेन च प्रतीयमानः श्री-विशिष्ट एकं परमं तत्त्वमिति निर्णीतम् ।

[[802]]

'किं तद् उत्पादितं पूर्वं हरिणा लोक-धारिणा' इत्य्-उपाख्यानोपक्रमे 'हिरर् नारायणः प्रभुः' इत्य्-अत्र च हिर-शब्द-प्रयोगेण अन्ते पुरुष-शब्द-प्रयोगेण च हिर-शब्द-घितयोः पुरुष-सूक्त-पूर्वोत्तरानुवाकयोः पुरुष-सूक्तैकार्थ्यस्य 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरि-शयः, 'युक्ता ह्य् अस्य हरयः शता दश' (बृ. ४-५-१५) इति बृहदारण्यकैकार्थ्यस्य च बोधनेन औपनिषद-पुरुषानिरुद्धाभिन्न वासुदेवावतार-भूत-हिरः हयिशराः परं तत्त्वम् इति निर्धारणेन गुणाधिकः पुरुषः स इति सिद्धम् । एवं 'तम एवाभवत् सर्वं न प्राज्ञायत किञ्चन' इत्य्-अत्र 'नासदासीत्' इत्य्-आदि-सूक्ते 'कस्य शर्मन्', 'तमसा गूढम् अग्रे प्रकेतम्' इति श्रुति-तात्पर्य-विषयस्य प्रलयकाले चेतनानां ज्ञान-सुख-विरहस्याभिधान-पूर्वकं 'जग्राह वेदान् अखिलान् रसातल-गतान् हिरः । प्रादाच् च ब्रह्मणे भूयस् ततः स्वां प्रकृतिं गतः । ५७ 'दत्वा पितामहायाग्र्यां मितं लोक-

विसर्गिकीम् । तत्रैवान्तर्दधे देवो यत एवागतो हिरः । १७२', "इत्य्-अत्र यदा च सुर-कार्यं ते ऽविषह्यं भविष्यति । प्रादुर्भावं गिमष्यामि तदात्म-ज्ञान-देशिकः" (ना. आ.) इत्य्-अत्र च 'सतो बन्धुम् असित निरविन्दन् । हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा', 'प्रातरग्निम्', 'स छन्दोभिर् आत्मानं समदधात्' (ऐ. आ. २-१२), 'आदिद्-गन्धर्वो अभवद्-द्वितीयः', 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश् च प्रहिणोति तस्मै' इत्य् आदि तात्पर्य-विषयस्य ज्ञानोपदेशार्थ-हयग्रीवावतारस्य प्रतिपादनेन गुणाधिकः पुरुषो हय-शिरा इति सिद्ध्यतीति न तामस-जन दुरुत्प्रेक्षालेशो ऽपीति सर्वं समञ्जसम् ॥

इति श्री लक्ष्मी-हयग्रीव-दिव्य-पादुका-सेवक श्रीमद्-अभिनव-रङ्गनाथ-ब्रह्मतन्त्र-परकाल-महादेशिक-कृतिषु हय-शिरो-रत्न-भूषण-दीधितिः (शालिवाहन शके १८५१ तमे विभव-वर्षे श्रावण-मासे) समाप्ता ॥

[[४o९]]

- <u>1</u>. (वि. स. ३६७. पु) शं. भाष्याद्य्-अनुसारात्
- <u>2</u>. विष्णु-धर्मोक्तिम् अनुसृत्य.
- 3. तत्पूर्वे 'गुरुः प्रसिद्धम्' इत्य्-उक्तत्वात् ''यो वेदान् प्रहिणोति तस्मै ।' इदं गुरुत्वं हय-शिर-उपाख्याने
- 4. स्मृतिवचनं दर्शयति तथा चेति' इत्य् अवतारितम्।

Appendix - +Dyugangā द्युगङ्गा 🛈

Goals ध्येयानि@

Dyugangā (https://rebrand.ly/dyuganga) is a work group dedicated to the promotion of ever-victorious Hindu ideals and arts. It's current focus is in presenting important texts for easy study.

The texts may be presented as

- audio files (eg: MahAbhArata audio book project),
- as web pages (eg. <u>Apastamba-gRhya-sUtra</u>, <u>Apastamba-dharma-sUtra</u>, <u>EkAgnikANDa commentary</u>, <u>manu-smRti</u>, <u>raghuvaMsha</u>, more <u>kalpa-texts</u>, <u>tattva-texts</u>, <u>universal subhAShita DB</u>),
- as dictionaries (eg: stardict)
- ebooks distributed on various platforms (eg: <u>vishvasa.github.io/book-pub</u>, amazon, google play). Formats include md, pdf (A4, A5), epub, azw3, html, etc.

We distribute these for free, and under a CC BY 4.0 license. (Platforms may levy their fees.)

You may subscribe to mail-streams for past and future announcements (dq, hv, san).

The choice of material heavily depends on the special interests of its current lead (vedas, kalpa, purANa-s).

संस्कृतानुवादः ③

द्युगङ्गा नाम कार्यसंस्था ऽजेयानां भारतीयपुरुषार्थपरिकल्पनानाञ्च हिन्दुककलानाञ्च प्रसारणाय वर्तते। तदीयस् स्थूलोद्देशोऽधुना प्रमुखग्रन्थानाम् अध्ययनसौकर्याय प्रस्तुतिः। ततो ग्रन्थसङ्कलनकेन्द्रम् इति वक्तुमलम्। ग्रन्थानाम् प्रस्तुतिर् ध्वनिसञ्चिकाभिस् स्यात् (यथा <u>महाभारतपारायणप्रसारणे</u>), जालक्षेत्रपृष्ठैर् वा (यथा <u>विश्वासस्य मन्त्रटिप्पनीषु, एकाग्निकाण्डटीका</u>), शब्दकोशैर् वाऽपि (<u>stardict</u>)।

सद्यश्च ग्रन्थाः संस्थाग्रण्या रुचिविशेषम् अनुसृत्य चिताः - वेदाः, इतिहासपुराणानि, कल्पवेदाङ्गग्रन्थाश् चेति।

Contribution दानम् ③

Donations and sponsorship are welcome (use <u>contact page on our website</u>) - they help offset operating costs (eg. worker payments mainly ~1L/mo, book distribution) and plan further projects. Project-specific sponsorship opportunities are occasionally advertised on our social media accounts and on certain mailing lists.